ज्ञानपीठ-लोकोदय ग्रंथमाला हिंदी-ग्रन्थाङ्क—१

# मुक्तिदूत

[एक पौराणिक रोमांस]

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन एम० ए०

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

## समर्पण

अपनी मुक्तिके लिये विकल, आज की
रक्त-स्नात मानवताको, अजना
और पवनंजयकी यह
वार्ता सप्रणाम
निवेदित
है

"पुराणकी कथाओंका भी मुझपर कुछ ऐसा ही असर पडा। अगर लोग इन कहानियोको घटनाके रूपमें सही मानते है तो यह बिल्कुल बेतुकी और हँसीकी बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड दिया जाए तो वह एक नई ही रोशनीमें दिखाई पडने लगती है, उनमें एक नया सौन्दर्य जान पडता है—ऐसा जान पडता है कि एक ऊँची कल्पनाने अचरज भरे फूल खिलाये हैं। इनमें आदमीके शिक्षा लेनेकी बहुतसी बातें है।"

(यूनानके देवीदेवताओंकी कहानियोकी अपेक्षा) "हिन्दुस्तानकी पुराण-गाथायें कही ज्यादा और भरीपूरी है, और बडी ही सुन्दर और अर्थ भरी है। मैंने कभी-कभी इस बातपर अचरज किया है कि वे आदमी और औरतें, जिन्होने कि ऐसे सजीव सपनो और सुन्दर कल्पनाओंको रूप दिया है, कैसे रहे होगे, और विचार और कल्पनाकी किस सोनेकी खानमेंसे उन्होने खोदकर ऐसी चीजें निकाली होगी।"

××× "मैंने यह अनुभव किया कि पुरानी दन्त-कथाओ और परपराका औरोके दिमागपर, खास तौरपर हमारी अनपढ जनताके दिमागपर कितना ज्यादा असर पडा होगा। यह असर सस्कृति और नीति दोनो ही के लिहाजसे अच्छा असर रहा है। इन कहानियो या रूपकोकी सुन्दरता और ख्याली सकेतको बरबाद करना या फेंक देना मै हरगिज पसन्द न करूगा।"

(Discovery of India के अनुवाद—"हिन्दुस्तानकी कहानी" के पृष्ठ ८४ और ११२से)

पडित जवाहरलाल नेहरू

# दृष्टि-कोण

जैन, बौद्ध वैदिक—भारतीय संस्कृतिकी इन प्रमुख धाराओंका अवगाहन किये बिना भारतीय आर्य-परम्पराका ऐतिहासिक विकास-क्रम हम जान ही नही सकते। अपनी सभ्यताकी इन्ही तीन सरिताओंकी त्रिवेणीका संगम हमारा वास्तविक 'तीर्थराज' होगा। और, ज्ञान-पीठके साधनोंका अनवरत यही प्रयत्न रहेगा कि हमारी मुक्तिका महा-मन्दिर त्रिवेणीके उसी संगमपर बने; उसी संगमपर महामानवकी प्राण-प्रतिष्ठा हो।

लुप्तग्रन्थोंका उद्धार, अलभ्य और आवश्यक ग्रन्थोंका सुलभीकरण; प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, कन्नड और तामिलके वाङ्मयका मूल और यथासम्भव अनुवाद रूपमें प्रकाशन; त्रिपिटक (पालि) की पुस्तकोंका नागरी लिपिमें प्रकाशन, लुप्त और नष्ट समझे जानेवाले कतिपय ग्रन्थों-का अपने मौलिक रूपमें पुनरुद्धार—ज्ञानपीठ इन प्रयत्नोंमें लगा हुआ है और बराबर लगा रहेगा।

इन कार्योंके अतिरिक्त, सर्वसाधारणके लाभके लिए ज्ञानपीठने 'लोकोदय ग्रन्थमाला' का आरम्भ किया है। इस ग्रन्थमालाके अन्तरगत हिन्दीमें सरल सुलभ सुरुचिपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित की जाएँगी। जीवनके स्तरको ऊँचाईपर ले जानेवाली कृतिके प्रत्येक रचयिताको ज्ञानपीठ प्रोत्सा-हित करेगा, वह केवल नामगत प्रसिद्धिके पीछे नही दौडेगा। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, इतिहास—पुस्तक चाहे किसी भी परिधिकी हो परन्तु हो लोकोदयकारिणी।

प्रस्तुत उपन्यास 'मुक्तिदूत' हमारी इस घोषणाको किस हद तक सही साबित करता है, यह निर्णय हम पाठकोंपर ही छोडते हैं। परन्तु

इतना हमें अवश्य कहना है कि श्री वीरेन्द्रकुमारका यह उपन्यास हिन्दी पाठकोंके लिए नई वस्तु है—यह हमारी दम्भोक्ति नहीं स्वभावोक्ति समझी जाय।

भारतीय ज्ञानपीठ
१०-५-४७

प्रकाशक

# प्रस्तावना

अजना और पवनजयकी प्रेम-कथा एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है। 'मुक्तिदूत'की रचना उसी आख्यानकी भूमिकापर हुई है—आधुनिक उपन्यासके रूपमे। पर लेखकने इसका उप-शीर्षक दिया है—'एक पौराणिक रोमास'। लगता है न कुछ विचित्र-सा ? बात यह है कि अग्रेजी शब्द 'रोमास' मे आख्याननका जो एक विशेष प्रकार, कथा-नायककी महत्त्वकाक्षा, नायिकाकी प्रेमाकुलता और घटनाओके चमत्कारका सहज आभास मिलता है, वह 'आख्यान', 'कथा' या 'उपन्यास' शब्दमें नही। फिर भी, 'मुक्तिदूत' पश्चिमी ढगका रोमास नही है। इसमे 'रोमास' (अथवा रोमाचकता) की अपेक्षा पौराणिकता ही प्रधान है—वह जो शाश्वत, उन्नत और चिर-नवीन है।

लेखकने कथाकी पौराणिकताकी भी एक सीमा बाँध ली है। उसके बाद उसने वातावरणकी अक्षुण्णतामें कल्पनाको मुक्त रखा है। ऐतिहासिक शोध-खोज और भूगोलकी सीमाओका उल्लघन यदि कथा कही करती है, तो किया करे। उडानकी रोक लेखकको इष्ट नही। उसके लिए तो पुराणका कल्पनामूलक इतिहास और भूगोल अपने आपमें ही पर्याप्त है। कल्पनाकी गहराइयोमे आकर जिस चीजको लेखकने खोजा है, वह बेशक 'तथ्य' न हो, पर वह 'सत्यकी प्रतीति' अवश्य है। और यही श्री वीरेन्द्रकुमारका साहित्यिक, लोक-जीवनके नव-निर्माणका देवदूत बनकर प्रकट हुआ है। आजकी विकल मानवताके लिए 'मुक्तिदूत' स्वय मुक्तिदूत है, इस रूपमें पुस्तकका समर्पण सर्वथा सार्थक है।

उपन्यास आपके हाथमे है, आप पढेगे ही घटनाओका विरल तारतम्य—पवनजयका अजनाके सौन्दर्यके प्रति प्रबल किंतु अचिर आकर्षण,

अजनाके सम्बन्धमे अपने निरादरको लेकर पवनजयकी गलत धारणा, परिणय, विफल सुहाग-रात्रि, त्याग, आकुल स्मृति, मिलन, विच्छेद, युद्ध, खोज, हनुमान-जन्म, पुनर्मिलन—आदि। इस सर्वाङ्गीण प्रणय-कथाके चिर-परिचित रूपमें पाठकोंके मनोविनोदकी पर्याप्त सामग्री है। पर, 'मुक्तिदूत'की मोहक कथा, सरस रचना, अनुपम शब्द सौंदर्य और कवित्वसे परे पाने लायक कुछ और ही है—वह जो पुस्तककी उस प्रत्येक विशेषतामें व्याप्त होकर भी मालाके अन्तिम तीन मनकोंकी तरह सर्वोपरि हृदयसे, आँखोंसे और माथेसे लगाने लायक है। पुस्तकका वह सन्देश पाठकोसे स्वय बोलेगा—रचनाकी सफलताकी कसौटी यही है।

'मुक्तिदूत' पवनजयके आत्म-विकास और आत्म-सिद्धिकी कथा है। पुरुषको 'अह'की अन्ध कारासे नारीने त्याग, बलिदान और आत्म-समर्पणके प्रकाश द्वारा मुक्त किया है। कथाके प्रारम्भका पवनजय अपनी आकाक्षाके सपनोसे खेलनेवाला, उद्धत और अभिमानी राजकुमार है। वह निर्वाणकी खोजमें है—और निर्वाणका यह दावेदार, बनना चाहता है अखिल सृष्टिका विजेता, भूगोल-खगोलका अधिकारी और एक ही समयमें समग्र भोग, अनन्त सौंदर्य और अक्षय प्रेमका परम भोक्ता। निर्वाणकी खोजमें वह ऋषभदेवकी निर्वाणभूमि कैलाश पर्वतपर हो आया है, पर उसे वहाँ निर्वाण नही मिला। उदयाचलसे अस्ताचल पर्यंतकी परिक्रमा देनेपर भी उसे मुक्ति नही मिली। मुक्तिका आकर्षण तीव्रतर अवश्य है—"देखो, प्रहस्त, दिशाओमें मुक्ति स्वय बाहें पसारकर बुला रही है।"

पर देखिये, इस अहकारी विजेताकी वीरता कि यह स्त्रीके सौंदर्यसे डरकर भागा हुआ है। सागरके बीच, महलोकी अटारीपरसे आये हुए आकुल बाहोंके निमन्त्रणको, रूपके आह्वानको अनसुना-अनदेखा करके भाग निकला है उल्टे पाँव, अपनी नावमें यह प्रतापी राजकुमार। गाँठ यही आकर पड गई, यही 'अह' उलझ गया। इसी गाँठको कस दिया

मिथ्रकेशीके व्यंग्यने, अंजनाकी 'उपेक्षा' ने। चोट खाये हुए, बौखलाये हुए सिंहकी तरह घूम रहा है पवनंजय वनोंमें, पर्वतोंपर, समुद्रकी तरंगोंपर। अंजनासे बदला ले चुका है—उसकी सुहागरात्रिकी आकुल प्रतीक्षाको व्यर्थ करके, उसके त्यागकी तुमुल घोषणा महलोंमें गुँजवाकर! नारी वेदनायें सहन कर-करके जितना ही ऊँचे उठ रही है, पुरुष-पवनंजय अपने ही अहंकारके बोझसे उतना ही नीचे धँसता जा रहा है। पर, अब वह दार्शनिक हो गया है। अपने-परायेके भेद, मोह-मिथ्यात्वकी परिभाषा, आत्माकी निज-परिणति, एकाकी मुक्त विहार—कितनी ही तर्कणाओं द्वारा वह अपने आदरणीय चिर-सखा प्रहस्तको चुप कर देना चाहता है। प्रहस्त अपने ही दिये हुए सजीव और सकवित्व दर्शनकी ये निर्जीव व्यख्यायें सुनता है, तो निर्बलके इस छद्मदर्शनपर मन ही मन हँसता है, दुखी होता है। प्रहस्त कह चुका है—

> "तुम स्त्रीसे भागकर जा रहे हो। तुम अपने ही आपसे पराभूत होकर आत्म-प्रतारण कर रहे हो। पागलके प्रलापसे अधिक तुम्हारे इस दर्शनका कुछ मूल्य नहीं। यह दुर्बलकी आत्मवंचना है, विजेताका मुक्तिमार्ग नहीं। स्त्रीके सम्मोहन-पाशमें ही मुक्तिकी ठीक ठीक प्रतीति हो सकती है। मुक्तिकी माँग वहीं तीव्रतम है ××× मुक्ति स्वयं स्त्री है, नारीको छोड़कर और कहीं शरण नहीं है, पवन! मुक्ति चरम-प्राप्ति है, वह त्याग-विराग नहीं है पवन!"

पवनके त्रस्त अभिमानने मन ही मन सोचा—'स्त्रीका सौंदर्य, उसकी महत्ता मेरे 'अहं'से भी बड़ी? और उसने निश्चय किया—

> "अच्छा अंजन, आओ, पवनंजयके अँगूठेके नीचे ..
> और फिर मुस्कराओ अपने रूपकी चाँदनीपर!"

अंजनाके त्यागका संकल्प करके, उसने कहा था—

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है, प्रहस्त, तो चलो, मान-सरोवरके तटपर अपनी विजय-यात्राका पहला शिला-चिह्न गाड चलूँ।"

उसी मानसरोवरके तटपर गाड आया था पवनजय अपने सहज, प्रकृत व्यक्तित्वका समाधि पाषाण! "देखो प्रहस्त! एक बात तुम और जान लो, जिस अपने सखा पवनजयको तुम चिर-दिनसे जानते थे, उसकी मौत मान-सरोवरके तटपर तुम अपनी आँखोके आगे देख चुके हो।"

सुन्दर व्यक्तित्वके प्राणोको खोकर, पवनजयका ककाल घूमता फिरा दिशाओ-दिशाओमे तीव्र कषायके उद्वेग और दैहिक-स्फूर्तिकी दुर्द्धर्ष प्रचडताके साथ! तभी आया युद्धका निमत्रण। यही तो इलाज है इस प्राणहीन प्रचडताका, भौतिक आकाक्षाका, 'अह'के सघर्षका, कि ये सब उसकी सानपर चढकर तेज़ हो सकें और आपसकी टक्करोसे अपने ही स्फुलिगोमें बुझ सकें!

युद्धमें बुझनेके लिए पवनजय जा रहा है, कि नारीका वरद हस्त, मगलके दीप-सजोये, सामने आता है कुशल-कामना लेकर। पुरुषका अहकार अपनी ही कटुतामें कुठित हो गया—पर, ज्वाला भभकी—

"ओह, 'अशुभमुखी'! खड्ग-यष्टिसे खिचकर तलवार उनके हाथोमे लपलपा आई। तीव्र किंतु स्फुट स्वर निकला—दुरीक्षणे छि'!"

उसपर अजनाने क्या कहा? मन ही मन उसने कहा—

'आज आया है प्रथम वार वह क्षण, जव तुमने मेरी ओर देखा. तुम मुझसे बोल गए। हतभागिनी कृतार्थ हो गई, जाओ अब चिता नहीं, अमरत्वका लाभ करो।

उत्कट अपमान अनुपम आत्मसमर्पण! दानव अट्टहास कर उठे, देव फूल बरसा दें, मानव पानी-पानी होकर बह जायें!!

मानवके विपका चढाव चरम सीमापर पहुँच गया है। तो क्या अव मौत ? नही, ऊपर देखा तो है, कि अमृतका अक्षय भडार जीवनमे प्राप्य है। पुरुप सादर, सपरिताप उन्मुख भर हो।

ककाल-पुरुप प्राणोके लिए आकुल हुआ। वनमे देखा कि एकाकिनी चकवी अपने प्रियके लिए व्याकुल है। पवनजयका वाल्मीकि अपने ही घुमडते हुए श्लोकोके शत-शत अनुष्टुपोमें भर आया।

वाईस वर्ष तक "विच्छेदकी सहस्त्रो रातोमें वेदनाकी अखड दीप-शिखा-सी तुम जलती रही ?" विलखकर पहुचा अपनी प्रेयसीकी गोदमें—जैसे भटका हुआ शिशु माकी गोदमें पहुचे।

यही तो है उसकी मुक्ति, उसका त्राण ! नारीकी आकुल वाहोकी छायामें जाकर पुरुप आश्वस्त हुआ। और यही 'प्राणकी अतलस्पर्शी आदिम गध उसकी आत्माको छू छू' गई।—

"कामना दी है तो सिद्धि भी दो। अपने वाधे वधन तुम्ही खोलो, रानी ! मेरे निर्वाणका पथ प्रकाशित करो !"

"मुक्तिकी राह मै क्या जानू ? मै तो नारी हू, और सदा वधन ही देती आई हू। मुक्तिमार्गके दावेदार और विधाता है पुरुप ! वे आप अपनी जानें !"

पर, देनेमें नारीने कमी नही रखी, सम्पूर्ण उत्सर्गके साथ नारीने अपने आपको पुरुषके हाथो सौंप दिया—उसे सम्हाल लिया !

× × ×

इस प्रकार पुरुष उसी एक दिनकी परित्यक्ता नारीकी शरणमें मुक्ति खोजता है। फिर वही नारी उसे महान विजययात्रापर भेजती है—जिस युद्धसे वह मृत्युजयी जेता वनकर लौटता है। नारीके प्राणोका स्पन्दन पाकर ही पवनजय अपना पुरुषार्थ प्राप्त करता है। जो सदा अपने 'अह'से परिचालित, किन्तु दूसरोके सहारे रहा वह अव स्वय ही

अहिंसक युद्धकी कल्पना करता है और उसकी शैली (Technique) निकालता है। यहा पवनजय अपने चरम उत्कर्ष पर पहुचा है—पर उसके पीछे है वही तपस्विनी सती अजना। सतीका यह प्रेम अन्ततक पुरुषके अहकारको तोडता ही जाता है और अन्तमें उस पुरुषके आदर्शको स्वय वालक-रूपमें जन्म देकर, वह उस पुरुषको चरममार्ग-दर्शन देती है।

अजनाका जीवन सशक्त आदर्शका जीवन है। नारीके चरित्रकी इतनी ऊची और ऐसी अदभुत कल्पना शायद ही कही हो। अजना शरत् बाबूके ऊचे-से-ऊचे स्त्रीपात्रसे ऊपर उठ गई है। अबतकके मानव इतिहासमें नारीपर मुक्तिमार्गकी वाधा होने का जो कलक चला आया है, इस उपन्यासमें लेखकने उस कलकका मोचन किया है। अजनाका आत्म-समर्पण पुरुषके 'अह'को गलाकर—उसके आत्मउद्वारका मार्ग प्रशस्त करता है। अजनाका प्रेम निष्क्रिय आत्म-क्षय नही है, वह है एक अनवरत साधना, कहें कि 'अनासक्त योग'। इस प्रेममें पुरुष गौण है। और यदि वह विशिष्ट पुरुष है तो इसमें अटकाव नही, उसीके माध्यमसे मुक्तिका द्वार खोज लेनेका आग्रह है इस प्रेममें। अजनाका अटल आत्म-विश्वास देखिए—

> "यदि कापुरुषको परमपुरुष बना सकनेका आत्मविश्वास हमारा टूटा नही है, तो किस पुरुषका अत्याचार है जो हमें तोड सकता है? पुरुष सदा नारीके निकट बालक है। भटका हुआ बालक एक दिन अवश्य लौट आएगा।"

युग-युगका सच्चा सदेश आजकी सहस्रो नारियोके लिए कितना सत्य और महत्त्वपूर्ण है।

अविकल आत्म-समर्पणके साथ, अजनामें मिथ्या मूल्योके प्रति एक सशक्त और प्रबुद्ध विद्रोह है। प्रत्येक परिस्थितिमें अपना मार्ग वह स्वय बनाती है।

'मुक्तिदूत' की कथा-वस्तु जितनी तलपर है, उतनी ही नही है। उसके भीतर एक प्रतीक-कथा (Allegory) चल रही है, जिसे हम ब्रह्म और माया, प्रकृति और पुरुषकी द्वद्व-लीला कह सकते है। अनेक अन्तर्द्वन्द्व—मोह-प्रेम, विरह-मिलन, रूप-सौंदर्य, दैव-पुरुषार्थ, त्याग-स्वीकार, दैहिक कोमलता—आत्मिक मार्दव, ब्रह्मचर्य-निखिलरमण और इनके आध्यात्मिक अर्थ, कथाके सघटन और गुम्फनमें सहज प्रकाशित हुए-हैं।

आजके युगमें जो एकान्त बुद्धिवाद और भावना या हृदयवाद—अहकार और आत्मार्पण—के मार्गोमें सघर्ष है, वह पवनजयके चरित्रमें सहज ही व्यक्त हुआ है। पवनजय इस वातका प्रतीक है कि वह पदार्थको वाहरसे सीधे पकडकर उसपर विजय पाना चाहता है। यही अहकार उपजता है—आजका बुद्धिवाद, भौतिकवाद और विज्ञानकी अन्ध साहसिक वृत्ति (Adventure) इसी 'अह' के प्रतिफल है। विज्ञान इस अर्थमें प्रत्यक्ष वस्तुवादी है—वह इन्द्रिगोचर तथ्यपर विजय पानेको ही प्रकृति-विजय मान रहा है। यही उसकी पराजय सिद्ध होती है। इसीमेंसे उपजती है हिसा और महायुद्ध, और यहीसे उत्पन्न होता है निखिल सघातकारी एटम-वम।

श्री वीरेन्द्रकुमारने मूल पौराणिक कथाको कही-कही थोडा retouch किया है, और निखारा है। मूलकथामें युद्ध गौण है पर यहा युद्ध-सम्वन्धी एक समूचा अध्याय जोड दिया है, जिसमें अहिसक युद्धकी कल्पनाको व्यावहारिक रूप दिया है। लेखककी कथामें युद्धमे जाकर स्त्रीके दिये हुए नि स्व उत्सर्ग और महान प्रेमके वलपर, पुरुषके सच्चे पुरुषार्थका सर्व-श्रेष्ठ प्रकाश सामने आया है।

पाठक पायेंगे कि अजनाके प्रकृतिस्थ तादात्म्यको नारीकी जिन सवेंदनाओके साथ दिखाया गया है, उसमें लेखकने दुरावसे काम नही लिया है। वर्णन सीधा और सधा हुआ है। उसमें कुछ भी हीन नही

उदाहरण देखिए—

१. अब अंजना अकेली, विचारोंमें डूबी बैठी है—

"शेष रातके शीर्ण पक्षोंपर दिन उतर रहा है। आकाशमें तारे कुम्हला गये हैं। मानसरोवरकी चंचल लहरियोंमें कोई अदृष्ट बालिका अपने सपनोंकी जाली बुन रही है। और एक अकेली हंसिनी, उस फूटते हुए प्रत्यूषमेंसे पार हो रही है। वह नीरव हंसिनी, उस गुलाबी आलोक-सागरमें अकेली ही पार हो रही थी। वह क्यों है आज अकेली?

२. परिणयकी वेलामें—

"आज है परिणयकी शुभ लग्न-तिथि। पूर्वकी उन हरित-श्याम शैल-श्रेणियोंके बीच ऊषाके आकुल वक्षपर यौवनका स्वर्ण-कलश भर आया है।"

३. अंजना मातृत्वके पदपर आसीन होनेको है—

"आकाशके छोरपर कहीं श्वेत बादलोंके शिशु किलक रहे हैं।

४. निराशाकी प्रतिध्वनि

"कहीं-कहीं नदीकी सतहपर मलिन स्वर्णाभामें वैभव बुझ रहा था।"

श्रीवीरेन्द्रकुमारके स्वभावमें ध्वनि और वर्णका सहज सम्मोहन है। अनेक छोटे-छोटे वाक्योंमें उन्होंने स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध और ध्वनिकी अनुभूतियोंको सरस लेखनीमें उतारा है। यथा—

१. "नारिकेल-शिखरोंपर वसंतके सन्ध्याकाशमें गुलाबी और अंगूरी बादलोंकी झीलें खुल पड़ी हैं।"

२. "सघोंमेंसे आई हुई कोमल धूपके धब्बे कहीं-कहीं बिखरे हैं जैसे इस कोमल सुनहली लिपिमें कोई आशाका सन्देश लिख रहा है।"

३. प्राणकी अनिवार पीडासे वक्ष अपनी सपूर्ण मासल मृदुता और माधुर्यमें टूट रहा है, टूक-टूक हुआ जा रहा है।"

४. "सू .सू करती तलवारकी विकलता पृथ्वीकी ठडी और निविड गधमें उत्तेजित होती गई शून्यमें कही भी घाव नही हो सका है—मात्र यह निर्जीव खभेके पत्थरोका अवरोध टकरा जाता है ठन्न ठन्न ?"

लेखककी चित्रण-कुशलता इन उदाहरणोमें देखिये जहाँ एक ही क्रिया—'अवलोकन'—की भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको भिन्न शब्दोमें व्यक्त किया है। और हर चित्रण अपनी जगह सार्थक और सुन्दर है।—

१ परिचय-हीन भटकी चितवनसे वह वसतको देख उठी।

२ दोनोने एक दूसरेको देखकर एक वेदना भरी मुस्कराहट वदली।

३ अश्रु-निविड आखोसे, एक विवश पशुकी तरह, पुतलियोमे तीव्र जिज्ञासा सुलगाये, वसत उस अजनाकी ओर ताक रही है।

४ एक माघभरी वेदनाकी उत्सुक और विधुर दृष्टिसे पवनजय उस ओर देखते रह गए।

नीचे लिखे चित्रोंका चमत्कार देखिए। एक-एक वाक्यमें कल्पनाका और भावोंका सागर उँडेल दिया है—

१ समर्पणकी दीप शिखा-सी वह अपने आपमें ही प्रज्वलित और तल्लीन थी।

२ चपक-गोर भुजदडोपर कमल-सी हथेलियोमें कर्पूरकी आरतियाँ भून रही है।

३. कपोल-पालीमें फैली हुई स्मित-रेखा, उन आखोके गहन कजरारे तटोमें जाने कितने रहस्योसे भरकर लीन हो गई।
४. अजनाकी समस्त देह पिघलकर मानो उत्सर्गके पथ पर एक अदृश्य जल-कणिका मात्र वनी रह जाना चाहती है।
५. भालेके फलक-सा एक तीक्ष्ण प्रश्न कुमारकी छातीमें चमक उठा।

'मुक्ति-दूत'के कथानकका विस्तार, मानो अनन्त आकाशमें है, इससे पात्रोको अधिकसे अधिक फैलनेका अवसर मिला है। मानुषोत्तर पर्वत, लवण समुद्र, अनन्त द्वीप-समूह, विजयार्धकी गिरिमाला आदिके कल्पक सौदर्यसे कथामें वडी भव्यता आ गई है। पुस्तककी भाषा इसी भूमिका और वातावरणके अनुरूप सहज सस्कृत प्रधान है। पर, लिखते समय मन, प्राण और इन्द्रियोकी एकाग्रतासे भाव-गुम्फनके लिए रूप, रस, वर्ण, गन्ध, और ध्वनिके व्यजक जो शब्द अनायास लेखनीपर आ जाते है—उनके विषयमे हिन्दी-सस्कृतका भेद किया नही जा सकता। प्रत्येक शब्दकी एक विशेष अनुभूति, चित्र, वर्ण और व्यजना लेखकके मनमें व्याप्त है। विशेष भावके तदनुकूल चित्रणके लिए शब्द-विशेष सहज ही आ जाता है—और कभी-कभी कोष (Vocabulary) का भाषा-अभेद अनिवार्य हो जाता है। 'मुक्ति-दूत' में भी ऐसा ही हुआ है। प्रवाहमे आये हुए अनेक उर्दू शब्दोको जानवूझकर निकाला नही गया है,यथा 'परेशान', 'नजर', 'जलूस', 'दीवानखाना", 'कशमकश', 'परवरिश', 'सरजाम', 'दफना', आदि। प्रत्येक शब्द अपने स्थानपर लक्षणा या व्यजना की सार्थकतामें स्वय-सिद्ध है। अग्रेजीका 'रेलिंग', शब्द लेखकने जान-बूझकर अपनी व्यक्तिगत रुचिकी रक्षाके लिए लिया है क्योकि लेखक 'इस शब्दमें लक्षित पदार्थका एक अद्भुत चित्रण-सौदर्य' पाता है। 'अपने बावजूद' और 'जो भी' ('यद्यपि'के लिए) का लेखकने वार-वार प्रयोग किया है। ये उनकी विशिष्ट शैलीके अग है।

'मुक्तिदूत' अविभाज्य मानवताको जिस धर्म, प्रेम और मुक्तिका संदेश देता है, वह हृदयकी अनुभूतियोका प्रतिफल है और इसीलिए उसका प्रतिपादन बहुत ही सीधे और सरल ढगसे हुआ है। लेखकने बहुत गहरे डूबकर इन आबदार मोतियोका पता लगाया है। दरिया आपके सामने है, अब आप जानें।

"गौहरसे नहीं दरिया खाली, फूलोसे नहीं गुल्शन खाली,
'अफसोस है तुझपर दस्ते-तलब, जो अब भी रहे दामन खाली।"

डालमियानगर
१२ मई १९४७

लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक

# मुक्तिदूत

[ १ ]

वनोमें वासती खिली है। चारो ओर कुसुमोत्सव है। पुष्पोंके झरते परागसे दिशाएँ पीली हो चली हैं। दक्षिण पवन देश-देशके फूलोका गंध उडा लाता है, जाने कितनी मर्म-कथाओसे मन भर आता है। आम्र-घटाओमें कोयलने प्राण-प्राणकी अतर्पीडाको जगा दिया। चारो ओर स्निग्ध, नवीन हरीतिमाका प्रसार है। दिशाओकी अपार नीलिमा आमंत्रणसे भर उठी है।

नवयुवा कुमार पवनजयका जी इन दिनो घरमे नही है। जब-तब महलकी छतपर आ खडे होते हैं, और सचमुच इस दक्षिण पवनपर चढकर उस नीली क्षितिज-रेखको लाँघ जाना चाहते हैं।

तभी फाल्गुनका आष्टाह्निक पर्व आ गया। देव और गधर्व अपने विमानो पर चढकर, अकृत्रिम चैत्यालयोकी वन्दना करने नन्दीश्वर-द्वीपकी ओर उड रहे हैं। भरतक्षेत्रके राजा और विद्याधर, भगवान ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमि कैलास-पर्वतपर, भरत चक्रवर्तीके वनवाये स्वर्ण-मदिरोकी वदनाको जा रहे हैं।

कुमार पवनजयने अपने पिता, आदित्यपुरके महाराज प्रह्लादसे कैलाश जानेकी आज्ञा चाही। पिता प्रसन्न हुए और सपरिवार स्वय भी चलनेका प्रस्ताव किया। कुमारके स्वच्छद भ्रमणके सपनेको ठेस लगी, पर क्या कहकर इनकार करते ? सिर झुकाकर चुप हो रहे। रानी केतुमती, कुमार और समस्त राजपरिवार सहित महाराज कैलाशकी वदनाको गये। पूजा वदन और धर्मोत्सवमे आष्टाह्निक पर्व सानद बीता। लौटते हुए, राजपरिवारने मानसरोवरके तटपर कुछ दिन वसत-विहार करनेका निश्चय किया।

एक दिन सवेरे उठकर क्या देखते है कि बहुत दूर मानसरोवरके कछारमें एक फेनो-सा उजला महल खडा है। अनुमानसे जाना कि विद्या-निर्मित महल है, जान पडता है कोई विद्या-धर राजा वहाँ आकर ठहरे है।

कैलाशकी परिक्रमा करके लौटे है, पर कुमार पवनजयका मन विराम नही पा रहा है। यह लौटना और यह विश्राम क्यो है ? प्राणकी जिज्ञासा और उत्कठाका अत नही है। अतहीन यात्रापर चल पडनेको उसका युवा मन आतुर है। कैलाशकी उत्तुग चोटियोपर स्वर्ण-मदिरोके वे शिखर दिखाई पड रहे है। अस्तगत सूर्यकी किरणोमें वह प्रभा मानो बुझ रही है। ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिको पाकर कुमारको सतोष नही है। वह निर्वाण कहाँ है ? कितनी दूर ? वह शिखरोंकी प्रभा जो अभी तिरोहित हो जानेको है, उसके ऊपर होकर फिर यात्रा कैसे होगी ?

कि अचानक कुमारकी दृष्टि दूरके उस फेनोज्ज्वल महल पर पडी। उसके वातायनकी मेहरावमें होकर वह अपार नील जल-राशि लहराती दिखाई पडी। कुमार हर्षाकुल होकर चल पडे। इधर लहरोपर खेलना ही पवनजयका प्रिय उद्योग हो गया है। बिना किसीसे कहे, सगी-सेवक-विहीन अकेले ही तटपर जा पहुँचे। नावपर आरुढ होकर तटकी साकल खोल दी—और खूब तेजीसे डाड चलाने लगे। तटसे बहुत दूर, झीलके बीचोंबीच, ठीक उस महलके सामने ले जाकर नावको लहरोके अधीन छोड दिया। हवाके झकोरे प्रवलसे प्रवलतर हो रहे है। उछालें खाती हुई तरंगे नावपर आ-आकर पड रही है। कुमारका उत्तरीय हवाके झोकोमें यकसा उड रहा है। डाड फेंककर आप, पैरपर पैर डाले, हाथ वाधकर बैठे है। लहरोंके गर्जन और आलोडनपर मानो आरोहण किया चाहते है। विविध भगिमामें आती हुई तरगोको भुजाओमे समेट लेना चाहते है, पर पैने उनपर उनका वश नही है। और इसलिए वे बालककी ज़िद—से तुल पडे है कि हार नही मानेंगे। नावका भान उन्हे नही है। वे तो बस

लहरोके लीला-क्रोडमे खो गये है। उडते हुए तरग-सीकरोसे साझकी आखिरी गुलाबी प्रभा झर रही है।

• अब तो कुमारका उत्तरीय भी नही दिखाई पडता, नाव भी नही दिखाई पडती; केवल वे आकाशकी ओर उठी हुई भुजाएँ है, जिनमे अनत लहरे खेल रही है।

और एकाएक एक अति करुण कोमल 'आह' ने स्तब्ध दिशाओको गुँजा दिया। कुमारकी दृष्टि ऊपर उठी। उस महलकी सर्वोच्च अटारीपर एक नीलावर उडता दिखाई दिया—और वेगसे हिलते हुए दो आकुल हाथ अपनी ओर बुला रहे थे। सध्याकी उस शेष गुलाबी आभामें कोई मुखडा और उसपर उडती हुई लटे

नावपरसे छलाग मारकर कुमार पानीमें कूद पडे। लहरोकी गतिके विरुद्ध जूझते हुए पवनजयने डेरेकी राह पकडी और लौटकर नही देखा!

पहर रात जानेतक भी कुमार आज सो नही सके है। इधर प्रायः ऐसा ही होता है। तब वे भ्रमणको निकल पडते है। आज भी ऐसे ही शय्या त्यागकर चल पडे। महाराजके डेरेके पाससे गुजर रहे थे कि कुछ बातचीतका रव सुनाई पडा। पास जाकर सुना, शायद पिता ही कह रहे थे—

" उन सामनेके महलोमे विद्याधरराज महेद्र ठहरे है। दतिपर्वतकी तलहटीमें स्थित महेंद्रपुर नगरके वे स्वामी है। रानी हृदयवेगा, अरिंदम आदि सौ कुमार और कुमारी अजना साथ है। अजना अब पूर्ण यौवना हो चली है। महाराज महेंद्र उसके विवाहके लिए चितित है। जबसे उन्हें पता लगा है कि कुमार पवनजय अभी क्वाँरे है तभीसे वे बहुत अनुरोध आग्रह कर रहे है। वे तो अपनी ओरसे निश्चय ही कर चुके है। कहते है कि विवाह मानसरोवरके तटपर ही होगा और तभी यहाँसे दोनो राजकुल चल सकेंगे।"

और बीच-बीचमे मा हर्षित होकर स्वीकृति दे रही है।

लक्ष्यहीन कुमार झीलके तटपर आतुर पैरोंसे भटक रहे हैं। लहरोंके गंभीर संगीतमें अंतरकी वह आकुल पुकार अशेष हो उठी है—और चारों ओर संध्याकी उस 'आह' को खोज रही हैं।

[ २ ]

"देखो न प्रहस्त, कैलाशके ये वैडूर्यमणिप्रभ धवलकूट, ये स्वर्णमंदिरोंकी ध्वजाएँ, मानसरोवरकी यह रत्नाकर-सी अपार जल-राशि, हंस-हंसिनियोंके ये मुक्त विहार और वे दूर-दूरतक चली गईं श्वेतांजन पर्वत-श्रेणियाँ, क्या इन सबसे भी अधिक सुंदर है वह विद्याधरी अंजना ?"

कुमारके हृदयका कोई भी रहस्य, प्रहस्तसे छुपा नहीं था। बालपनसे ही वह उनका अभिन्न सहचर था। मार्मिक मुस्कराहट के साथ प्रहस्तने उत्तर दिया—

"और कौन जाने, कुमार पवनंजय उसी रूपके झरोखेपर चढकर ही न इस अपार सौंदर्यके साथ एकतान हो रहे हों ?"

"विनोद मान रहे हो प्रहस्त! उस रूपको देखा ही कब है, जो तुम मुझे उसका बंदी बनाया चाहते हो। हां, उस संध्यामें वह 'आह' जो दिगंतमें गूंज उठी थी—उसका पता जरूर पाना चाहता हूँ! पर डर यही है कि अंजनाको पाकर कहीं उसे न खो दूं ।'

"उस रूपको पा जाओगे पवन, तो ये सारी भ्रांतियां मिट जायेंगी!"

"भूलते हो प्रहस्त, पवनंजय रुकना नहीं जानता! सौंदर्यका प्रवाह देश और कालकी सीमाओंके ऊपर होकर है। और रूप? वह तो अपने-आपमें ही सीमा है—वह बंधन है, प्रहस्त। कैलाशकी इन उत्तुंग चूडाओंपर जाकर भी मेरा मन विराम नहीं पा सका है। और तुम अंजनाके रूपकी बात कह रहे हो ?"

'पर उस महलपरका वह उडता हुआ नीलावर, वह मृदु मुख, और वह दिगत भेदिनी 'आह', वह सब क्या था पवनजय ?"

"नहीं, वह रूप नहीं था—वह सीमा नही थी, प्रहस्त, वह अनत सौंदर्य प्रवाहका आकर्षण था कि मै विरुद्ध-गामिनी लहरोसे जूझता हुआ लौट आया। वहाँ परिचयहीन चिरआकर्षण, कहा है उसकी सीमा-रेखा ?"

"मनके इस मान-सभ्रमको त्याग दो पवन, और आओ मेरे साथ, उस सीमाका परिचय पाओ, जिसपर खडे होकर, असीमको पानेकी तुम्हारी उत्कठाएँ तीव्र हो उठी है।"

× × ×

साझ घनी हो गई है। मानसरोवरके सुदूर जल-क्षितिजपर, चाँदके सुनहले बिबका उदय हो रहा है। उस विशाल जल-विस्तारपर हस-युगलोका विरल क्रीड़ा-रव रह-रहकर सुनाई पड़ता है। देवदारु-वन और फूल-घाटियोकी सुगध लेकर वासती वायु हौले-हौले बह रही है। चिर दिनका सखा प्रहस्त कुमारके सदाके सरल मनमे अनायास आ गई इन उलझनको समझ रहा था। तीन दिनसे कुमारकी विकलताको वह देख रहा है। भीतरसे पवन जितना ही अधिक तरल, कोमल और चचल हो पडा है, बाहरसे वह उतना ही अधिक कठोर, स्थिर और विमुख दिखाई पड रहा है। प्रहस्तने इस उलझनको सुलझानेकी युक्ति पहले ही खोज निकाली थी। केवल एक बार अवसर पाकर, वह कुमारके मनकी टोह भर पा लेना चाहता था। आज साझ वह प्रसग आ उपस्थित हुआ। प्रहस्तने सोच लिया कि इस सुयोगका लाभ उठा लेना है। सारा आयोजन वह पहले ही कर चुका था।

बिना किसी वितर्कके मौन-मौन ही कुमार प्रहस्तके अनुगामी हुए। थोडी ही देरमें यानपर चढकर, आकाश-मार्गसे प्रहस्त और पवनजय

विद्याधर-राजके महलकी अटारीपर जा उतरे। एक झरोखेमें जहाँ माणिक-मुक्ताओंकी झालरें लटकी थीं, उसीकी ओटमें दोनों मित्र जा बैठे।

सामने जो दृष्टि पडी तो पवनजय पता पूछनेकी वात भूल गये। अतर्मुहूर्त मात्रमें मानो दूसरे ही लोकमे आ गये हैं। सौंदर्यके किस अज्ञात सरोवरमें खिला है यह रूपका कमल! गध, राग, सुपमाकी लहरोंसे वातावरण चचल है। चारो ओर जैसे सौंदर्यके भवर पड रहे है, दृष्टि ठहर नही पाती। सारी जिज्ञासाए, सारे प्रश्न, सारी उत्कठाए मानो यहा आकर नि शेष हो गई हैं। सम्मोहनके उस लोकमें सारी रागिणिया, वस उसी एक सगीतमें मूर्छित हो गई है। कुमार खो गया है कि पा गया है—कौन जाने? पर जो था सो अव वह नही है।

सखियोसे घिरी अजना जानु मोडकर, एक हाथके वल वैठी है। अनेक पार्वत्य फूलोकी वर्ण-वर्ण विचित्र मालाए आस-पास विखरी है। उनसे क्रीडा करती हुई वे सव सखिया परस्पर लीला-विनोद कर रही है। अजनाकी उस कुदोज्ज्वल देहपर, वडे ही मृदु, हलके रत्नोके विरल आभरण हैं, और गलेमे नीप कुसुमोकी माला। सूक्ष्म दुकूल उस देहयष्टिकी तरल सुपमामें लीन हो गया है। सारे वस्त्राभरणोंमें भी सौंदर्यका वह पद्म, अनावृत है—अपनी ही शोभामें क्षण-क्षण नव-नवीन।

चचल हास-परिहासके वाद अभी कुछ ऐसा प्रकरण आ गया है कि अजना कुछ गभीर हो गई है।

वसतमालाने वडे दुलारसे अजनाका एक हाथ खीचते हुए कहा—"ओ हो अजन, नाम आते ही गायव हो रही है। पा जायेगी तव तो शायद दुर्लभ हो जायेगी। पर कितना सुदर नाम है—पवनजय—कुमार पवनजय! उस दिन मानसरोवरकी उन उत्ताल तरगोपर सतरण करता वह कुमार सचमुच पवनजय था। निर्भय हँसता हुआ जैसे वह मौतसे खेल रहा

था। उन सुदृढ़, सुडौल भुजाओंके लिए वह लीलामात्र थी। और वे हवामें उडती हुई आलुलायित अलकें! बडे भाग्य है तेरे अजन—जो पवनजय-सा कुमार पा गई है तू।"

अजना चित्र-लिखी-सी, बिल्कुल अवश, मुग्ध बैठी रह गई। वसत-मालाकी बात सुन वह भीतर ही भीतर नम्र-विनम्र हुई जा रही है। आखके पलक निस्पद हैं। पुलकोंमें मानो शरीर सजल होकर वह चला है। एक हाथ उसका शिथिल, वसतमालाके हाथमें है। वसतमाला उसकी सबसे प्रियतमा सखी है—कहे कि उसकी आत्माकी सहचरी है। बात करते-करते सुखके आवेगसे वसत भी जैसे भर आई, सो विनोद करना भूल गई।

तभी एक दूसरी सखी मिश्रकेशी ईर्ष्यासे मन ही मन जल उठी और ओठ काटकर चोटी हिलाती हुई बोली—

"हेमपुरके युवराज विद्युत्प्रभके सामने पवनजय क्या चीज है। भरतक्षेत्रके क्षत्रिय-कुमारोंमे विद्युत्प्रभ अद्वितीय हैं। रूप, तेज-पराक्रम, श्री-शौर्यमें दूसरा कौन उनके समकक्ष ठहर सकता है? और फिर हेमपुरके महाराज कनकद्युतिका विशाल वैभव, परिकर! आदित्यपुरका राजवैभव उसके सम्मुख तिनके बराबर भी नही है। यह जानकर, कि विद्युत्प्रभके सन्यस्त होनेका नियोग है, अजनाका विवाह महाराजने उनके साथ न किया, यह अविचार है। क्षुद्र पवनजयका आजीवन सग भी व्यर्थ है, और विद्युत्प्रभ जैसे पुरुष-पुगवका क्षणभरका सग सपूर्ण जीवनकी सार्थकता है।"

अजना अब भी इतनी विभोर थी कि जैसे इन कटु-कठोर वचनोंको उसने सुना ही नही। उसकी सपूर्ण इद्रिया प्राणकी उसी एक ऊर्जस्वल धारामें लीन हो गई थी। विरक्तिकी ग्लानिके बजाय अब भी उसके दीप्त मुख-मडलपर वही अमद आनदकी मुस्कराहट थी। समर्पणकी दीप-शिखा-सी वह अपने आपमें ही प्रज्वलित और तल्लीन थी—बाहर

के थपेडोसे अप्रभावित । उसका अग-अग सौरभभार-नम्र पुण्डरीक-सा झुक आया था ।

मिश्रकेशीके उस कटु भाषणसे सभी सखिया इतनी विरक्त और क्षुब्ध हो गई थी कि किसीने भी उस विषको विखेरना उचित नही समझा । तभी एकाएक अजनाको जैसे चेत आया । अनायास वह चचल हो पडी और वसतमालाके गलेमें दोनो हाथ डालकर उसकी गोदमें झूलती हुई बोली—"वसत—मेरी पगली वसत !"

और फिर वह उठ बैठी और सब सखियोकी ओर उन्मुख होकर बोली—

"लो चाद निकल आया—ठहरो मै बीन लाती हू । आज वसत गायेगी और तुम सब जनिया नाचनेके लिये पायल बाधो ।"

हँसती-बलखाती अजना, चचल बालिका-सी झपटती हुई अपने कक्षमें बीन लेने चली गई । उधर सखियोकी हँसियोसे वातावरण तरल हो उठा । छूम-छनन् घुँघरू बज उठे ।

पर मणि-मुक्ताकी झालरोकी ओटके उस झरोखेमें ? पुरुषके अह-दुर्गकी बुनियादें हिल उठी ! और फिर पवनजय तो विजेताका गर्व और चुनौती लेकर आये थे । उनकी भुजाओमें दिग्विजयका आलोडन था । देश और कालके प्रवाहके ऊपर होकर जो मार्ग गया है—उसके वे दावेदार थे । इसीसे तो ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिपर आकर भी उनका मन चैन नही पा सका है । वे तो उस निर्वाणका पता पाना चाहते हैं । पुरुषके गर्वके उस शिखरपरसे, मानवी नारीके मौन समर्पणकी कथा वे कैसे समझ पाते ?

और ऐसा विजेता जब नारीके प्रणय-द्वारपर आकर अनजाने ही अपने 'मैं'को हार बैठा, तब उसकी ऐसी अवज्ञा ? मिश्रकेशीने कुमार पवनजयके लिये निदारुण अपमानके वचन कहे और अजना वैसी ही चुप मुस्कराती हुई सुनती रही ? उसने उसका कोई प्रतिकार नही किया ?

और तब एकाएक उसे सूझा नृत्य-गान और वीणा-वादन ! विद्युत्प्रभके प्रतापकी बात सुनकर वह सुखसे ऐसी चंचल हो उठी ? और पवनजय उसके सम्मुख इतना तुच्छ ठहर गया कि उसकी निंदा-स्तुतिसे जैसे अंजनाको कोई सरोकार ही न हो ? गर्वके सारे स्तरोंको भेदकर वह आघात मर्मके अंतिम 'मैं'पर जा लगा। वह 'मैं' भीतर ही भीतर नग्न होकर ज्वाला-सा दहक उठा।

कुमारने प्रहस्तको चलनेका इंगित किया, और उत्तरके लिये ठहरे बिना ही विमानमें जा बैठे। क्रोधसे उनका रोम-रोम जल रहा था, पर उस सारी आगको वे एक घूंट उतारकर पी गये। फूट पडनेको आतुर ओठोंको उन्होंने काटकर दबा दिया। आजतक उन्होंने प्रहस्तसे कोई बात नहीं छिपाई थी—पर आज ? आज तो उसका विजेता भू-लुंठित हो गया था। यह उसके पुरुषकी चरम पराजयकी मर्म-कथा थी !

प्रहस्तसे रहा न गया। उसने वह क्षुब्ध मौन तोडा—"देख आये पवन, यह है तुम्हारे उस परिचयहीन चिर आकर्षणकी सीमा-रेखा ! आदित्यपुरकी भावी राजलक्ष्मीको पहचान लिया तुमने ?"

पवनंजय अलक्ष्य शून्यमें दृष्टि गडाये हैं। सुनकर भवें कुंचित हो आईं। छिनभर ठहरकर बोले—

"प्रहस्त, संसारकी कोई भी रूप-राशि कुमार पवनंजयको नहीं बांध सकती। सौंदर्यकी उस अक्षय धाराको मांसकी इन क्षायक रेखाओंमें नहीं बांधा जा सकता। और वह दिन दूर नहीं है प्रहस्त, जब नाग-कन्याओं और गंधर्व-कन्याओंका लावण्य पवनंजयकी चरण-धूलि बननेको तरस जायगा !"

"ठीक कह रहे हो पवन, अंजना इसे अपना सौभाग्य मानेगी ! क्योंकि वह तो चरण-धूलि बननेके पहले आदित्यपुरके भावी महाराजके भालका तिलक बननेका नियोग लेकर आई है।"

"नियोगोंकी शृंखलाएं तोडकर चलना पवनंजयका स्वभाव है प्रहस्त,

और परपराओंसे वह बाधित नही। अपने भावीका विधाता वह स्वय है। आदित्यपुरका राजसिंहासन उसके भाग्यका निर्णायक नही हो सकता।"

प्रहस्त गौरसे चुपचाप पवनजयकी मुद्राको देख रहा था। सदाका वह हृदयवान और बालक-सा सरल पवनजय यह नही है।

विमानसे उतरकर विदा होते हुए आदेशके स्वरमे पवनजय ने कहा—

"अपनी सेनाके साथ कल सबेरे सूर्योदयके पहले मै यहाँसे प्रयाण करूँगा, प्रहस्त! महाराजके डेरेमें सूचना भेज दो और सेनापतियोको उचित आज्ञाए। मानसरोवरके तटपर मै कलका सूर्योदय नही देखूँगा।"

कहकर तुरत पवनजय एक झटकेके साथ वहासे चल दिये। प्रहस्तको लगा, जैसे निरभ्र आकाशका हृदय विदीर्णकर एकाएक बिजली कड़क उठी हो। वह सन्नाटेमें आ गया। दिग्मूढ-सा खडा वह शून्य ताकता रह गया।

[ ३ ]

शेष रातके शीर्ण पत्तोंपर दिन उतर रहा है। आकाशमें तारे कुम्हला गये। दूरपर दो तमसाकार पर्वतोके बीचके गवाक्षसे गुलाबी आभा फूट रही है। मानसरोवरकी चचल लहरावलियोंमें कोई अदृष्ट बालिका अपने सपनोंकी जाली बुन रही है। और एक अकेली हसिनी उस फूटते हुए प्रत्यूषमेंसे पार हो रही है। अजना अभी-अभी शय्या त्यागकर उठी है। अँगड़ाई भरती हुई वह अपने झरोखेके रेलिंगपर आ खडी हुई। दो हाथसे नीलमकी मेहराब थामे, खभेपर सिर टिकाये वह स्तब्ध देखती ही रह गई। वह नीरव हसिनी उस गुलाबी आलोक-सागरमें अकेली ही पार हो रही थी। वह क्यो है आज अकेली?

कि लो, हिमगिरिकी शैलपाटियों, दरियो और उपत्यकाओंको कँपाता हुआ प्रस्थानका तूर्यनाद गूज उठा। दुदुभीका घोप मानसरोवरकी लहरोमें गर्जन भरता हुआ, दिगत के छोरोतक व्याप गया।

अजनाने सहमकर वक्ष थाम लिया। उत्तरकी पर्वत-श्रेणियोंसे उठ-उठकर धूलके वादल आकाशमें छा रहे हैं। डूबती हुई अश्व-टापोकी दूरागत ध्वनि रह-रहकर प्रतिध्वनित हो रही है। कि तटके उन डेरोकी ओरसे घुडसवारोकी एक टुकडी हवापर उछलती हुई घाटियोमें कूद गई।

परेशान-सी वसतमाला भागती हुई आई। चाहकर भी वह अपनेको रोक नही सकी—वोली—

"अजन, कुमार पवनजय प्रस्थान कर गये। अपने सैन्यको साथ लेकर वे अकेले ही चल दिये हैं—"

वीनका तार जैसे टन्न .से अचानक टूट गया, भटकती हुई वह झकार रोम-रोममें झनझना उठी है। पता नही यह आघात कहासे आया। वेबूझ, अपार विस्मयसे अजनाकी वे अवोध आखे वसतके चेहरेपर विछ गईं। अपने वावजूद वह वसतसे पूछ उठी—

"कारण "

"ठीक कारण ज्ञात नही हो सका। पर एकाएक मझरातमें महाराज प्रह्लादके पास सूचना पहुची कि कुमार कल सूर्योदयके पहले अकेले ही प्रस्थान करेंगे; अपनी सेनाओको उन्होंने कूचकी आज्ञाए दे दी है। उसी समय अनुचर भेजकर महाराजने कुमारको वुलवाया, पर वे अपने डेरेमे नही थे। शामको ही जो वे गये, तो फिर नही लौटे। उनके अन्यतम सखा प्रहस्तसे केवल इतना ही पता चला है कि पवनजयके रोषका कारण कुछ गभीर और असाधारण है। इस वार वे भी उनके मनकी थाह न ले सके हैं—और पूछनेका साहस भी वे नही कर सके।"

"क्या पिताजीको यह संवाद मिल गया है, वसत ?"

"हा, अभी जो अश्वारोहियोकी टुकडी गई है, उसीमे महाराज आदित्यपुरके महाराज प्रह्लादके साथ कुमारको लौटा लाने गये है ।"

अजनाने वक्षमे नि श्वास दवा लिया। किसी अगम्य दूरीमें दृष्टि अटकाये गभीर स्वरमें बोली—

"बाधकर मैं उन्हे नही रखना चाहूगी, वसत ! जानेको ये दिशाए खुली है उनके लिये। पर सयोगकी रात जब लिखी होगी, तो द्वीपातरसे उडकर आयेंगे, इसमें मुझे जरा भी सदेह नही है। पगली वसू, छि मा ? अजनाके भाग्यपर इतना अविश्वास करती हो, वसत ?"

कहते-कहते अजनाने मुह फेर लिया और वसतका हाथ पकड उसे वक्षमे खीच ले गई।

[ ४ ]

कुछ दूर जाकर ही अचानक विरामका शख वज उठा। सैन्यका प्रवाह थम गया। रथकी रास खीचकर पवनजयने पीछे मुडकर देखा। कौन है जिसने कुमार पवनजयके सैन्यको रोक दिया है ? दीखा कि कुछ ही दूर घोडोपर महाराज प्रह्लाद, महाराज महेंद्र, मित्र प्रहस्त और कुछ घुडसवार चले आ रहे हैं। महाराजके सकेतपर ही सेनाधिपने विरामका शखनाद किया है।

कुछ निपट आकर वे सब घोडोसे उतर पडे। महाराज प्रह्लादने आगे प्रहस्तको ही भेजा कि वे पवनजयसे लौट चलनेका अनुरोध करें। महाराज पुत्रका स्वभाव जानते थे और खूब समझते थे कि प्रहस्त यदि पवनजयको न लौटा सके तो, वे तो क्या, फिर विश्वकी कोई भी शक्ति कुमारको नही लौटा सकती।

नम्र और व्यथित प्रहस्त रथके निकट पहुच घोडेसे उतर पडे। सारथीने घोडोकी वल्गा थमाकर, गरिमासे मुस्कराते हुए पवनजय रथमे

नीचे उतर आये। पर उस गरिमामे तेज नही था, महिमा नही थी, थी एक बुझी हुई अल्प-प्राणता। वह चेहरा जैसे एक रातमे ही झुलसकर निष्प्रभ हो गया था। प्रहस्त चुपचाप पवनजयका हाथ पकड, उन्हे जरा दूर एक झरने के नजदीक ले गये।

एकाएक दूसरी ओर देखते हुए प्रहस्तने मौन तोडा—

"तुम्हारे गौरवके शिखरोको छूनेके लिये प्रहस्त अब बहुत छोटा पड़ गया है, पवन! और वैसी कोई धृष्टता करने आया भी नही हू। आदित्यपुर और महेद्रपुरके राजमुकुट भी तुम्हारे चरणोको शायद ही पा सकें, इसीलिये उन्हे पीछे छोड आया हू। पर यह याद दिलाने आया हू कि अपने ही से हारकर भाग रहे हो, पवन! क्षत्रियका वचन टलता नही है। इस विवाहको लेकर परसो रात महादेवीसे तुमने क्या कहा था, वह याद करो। उसके भी ऊपर होकर यदि तुम्हारा मार्ग गया है, तो ससारकी कौनसी शक्ति है जो तुम्हे रोक सकती है?"

सुनते-सुनते पवनजय विवर्ण हुए जा रहे थे कि एकाएक उत्तेजना और रोपसे चेहरा उनका तमतमा उठा।

"वह मोह था प्रहस्त, मनकी एक क्षण-भगुर उमग। निर्बलताके अतिरेकमें निकलनेवाला हर वचन निश्चय नही हुआ करता। और मेरी हर उमग मेरा बधन बनकर नही चल सकती। मोहकी रात्रि अब बीत चुकी है, प्रहस्त! प्रमादकी वह मोहन-शय्या पवनजय बहुत पीछे छोड आया है। कल जो पवनजय था, वह आज नही है। अनागतपर आरोहण करनेवाला विजेता, अतीतकी साकलोसे बधकर नही चल सकता। जीवनका नाम है प्रगति। ध्रुव कुछ नही है प्रहस्त,—स्थिर कुछ नही है। सिद्धात्मा भी निजरूपमें निरतर परिणमनशील है! ध्रुव है केवल मोह—जडताका सुदर नाम—!"

"तो जाओ पवन, तुम्हारा मार्ग मेरी बुद्धिकी पहुचके बाहर है।

पर एक बात मेरी भी याद रखना—तुम स्त्रीसे भागकर जा रहे हो। तुम अपने ही आपसे पराभूत होकर आत्म-प्रतारणा कर रहे हो। घायलके प्रलापसे अधिक, तुम्हारे इस दर्शनका कुछ मूल्य नही। यह दुर्बलकी आत्म-वचना है, विजेताका मुक्ति-मार्ग नही!"

"और मुक्तिका मार्ग है—विवाह, स्त्री! क्यो न प्रहस्त?"

"हा पवन, ये मुक्तिमार्गकी अनिवार्य कसौटिया हैं। इन तोरणोंको पार करके ही मुक्तिके द्वारतक पहुचा जा सकेगा। स्त्रीसे भागकर जो जेता दिग्विजय करने चला है, दिशाओंकी अपरिसीम भुजाओंका आलिगन वह नही पा सकेगा। शून्यमें टकराकर एक दिन फिर वह सीमित नारीके चरणोमें दिग्मूढ-सा लौट आयेगा। स्त्रीके सम्मोहन-पाशमें ही मुक्तिकी ठीक-ठीक प्रतीति हो सकती है। मुक्तिकी माग वही तीव्रतम है। उसी चरम पीडाकी ऊष्मामेंसे फूटकर मुक्तिका श्वेत कमल खिलता है। मुक्ति स्वय स्त्री है—नारीको छोडकर शरण और कहीं नही है, पवन! स्वार्थी, भोगी, उच्छृह्वल पुरुष अपनी लिप्साओंसे विवश होकर, जब स्त्रीकी परम प्राप्तिमें विफल होता है, तब अपने पुरुषार्थके मिथ्या आस्फालनमे वह नारीसे परे जानेकी बात सोचता है। मुक्ति चरम प्राप्ति है—वह त्याग-विराग नही है, पवन!"

"और वह चरम प्राप्ति, विवाह और स्त्रीके बिना सभव नही—क्यो न प्रहस्त?"

"मै मानता हू कि विजेता और उसकी चरम प्राप्ति विवाहसे बाधित नही। पर यदि विवाह अनिवार्य होकर उसके मार्गमे आ ही जाये, तो उससे उसे निस्तार नही है। निखिलको अपने भीतर आत्मसात् करनेवाले अखड प्रेमकी लौ जिस जेताके वक्षमें जल रही है—उसके सम्मुख एक तो क्या लक्ष-लक्ष विवाह भी बाधा-बधन नही बन सकते, पवन। छियानवे हज़ार रानियोके लीला-रमण और षट्खड पृथ्वीके अधीश्वर थे भरत चक्रवर्ती! उस सारे वैभवके अव्याबाध भोक्ता होकर वे रहे, और

अतर्मुहूर्त मात्रमें सारे बधनोको तोडकर निखिलके स्वामी हो गये। बालपनमें जो नरश्रेष्ठ तुम्हारा आदर्श रहा है, उसीकी बात कह रहा हू, पवन !"

पवनजयका घायल पुरुषार्थ भीतर ही भीतर सुलग रहा था। नही, वह अजनाको छोडकर नही जा सकेगा। मृत्युकी तरह अनिवार होकर यह सत्य उसकी छातीमें वज्र-सा टकराने लगा। ऐ! क्या वह भाग रहा है—स्त्रीसे हारकर? भयभीत होकर, कातर और त्रस्त होकर? नहीं, वह हर्गिज़ नही जायेगा। प्रतिशोधकी सौ-सौ नागिनें भीतर फुफकार उठी। उस निदारुण अपमानका बदला लेनेका इससे अच्छा अवसर और क्या होगा। अच्छा अजन, आओ, पवनजयके अगूठेके नीचे आओ। और फिर मुस्कराओ अपने रूपकी चादनीपर! तुम्हारे उस गर्विष्ठ रूपको चूर्णकर उसे अपनी चरण-धूलि बनाये बिना मेरी विजय-यात्राका आरभ नही हो सकता।

अपनी अधीरतापर सयम करते हुए प्रकटमें पवनजय बोले—

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है प्रहस्त, तो चलो—मानसरोवरके तटपर ही अपनी विजय-यात्राका पहला शिला-चिह्न गाड चलू!"

...प्रहस्तको हाथसे खीचकर पवनजयने रथपर चढा लिया और वल्गा खीचकर रथको मोड दिया। सेनापतिको सैन्य लौटानेकी आज्ञा दी गई। फिर प्रस्थानका शख गूज उठा।

[ ५ ]

आज है परिणयकी शुभ लग्न-तिथि। पूर्वकी उन हरित-श्याम शैल-श्रेणियोके बीच, ऊषाके आकुल वक्षपर यौवनका स्वर्णकलश भर आया है। मणि-मुक्ताके झालर-तोरणोंसे सजे अपने वातायनसे अजना देख रही है। उस एक ओरके शैलकी हरी-भरी तलहटीमें हस-हसिनियोका

एक झुण्ड मुक्त आमोद-प्रमोद कर रहा है। पास ही सरोवरमें कमलोका एक सकुल वन है। सारी रात सुखकी एक अशेष पीडा अजनाके वक्षको मथती रही है। जैसे वह आनन्द देहके सारे सीमा-बधनोको तोड़कर निखिल चराचरमे बिखर जाना चाहता है। पर कहा है इस विकलताका अत? सरोवरके उन सुदूर पद्मवनोमें? हसोके उस विहारमे? हर्गतिमाकी उस आभामें? इन अनत लहरोके अतरालमें?—कहा है प्राणकी इस चिर विच्छेद-कथाका अत?

कि लो, अनेक मगल-वाद्योकी उच्छाहभरी रागिणियोसे सरोवरका वह विशाल तट-देश गूज उठा। कैलाशके स्वर्ण-मदिरोंके शिखरोपर जाकर वे ध्वनिया प्रतिध्वनित होने लगी। अनेक तोरण, द्वार, गोपुर, मडप और वेदियोसे तटभूमि रमणीय हो उठी है। मानो कोई देवोपनीत नगरी ही उतर आई है। स्थान-स्थानपर बालाए अक्षत-कुकुम, मुक्ता और हरिद्राके चौक पूर रही है। दोनो राजकुलोकी रमणिया मगल गीत गाती हुई उत्सवके आयोजनोमें सलग्न है। कही पूजा-विधान चल रहे है तो कही हवन-यज्ञ। विपुल उत्सव, नृत्य-गान, आनद-मगलसे वाता-वरण चचल है।

सवेरे ही अजनाको नाना राग, गध, उबटनोसे नहलाया गया है। पुडरीक और नील कमलोके परागसे अगराग किया गया है। दूर-दूरकी पर्वत-घाटियोंसे वन-पाल नाना रगी फूल लाये है। उनके हारो और आभरणोंमे अजनाका शृगार हो रहा है। ललाट, वक्षदेश और दोनो भुजाओपर वसतमालाने बडे ही मनोयोगसे पत्र-लेखा रची है। प्रत्यूषकी पहली गुलाबी आभाके रगका दुकूल वह ओढे है। भीतर कही-कहीसे विरल रत्नाभरणोंकी प्रभा झलमला उठती है।

और इस सारे आस-पासके उत्सव-कोलाहल, शृगार-सज्जाके भीतर दबे अजनाके श्वेत कमलिनीसे पावन हृदयसे एक आह-सी निकल आती है। रह-रहकर एक सिसकी-सी वक्षमे उठती है और अनायास वह उसे

दवा जाती है। वाहरके तल-देशके सारे सुख-चाचल्यकी जो छाया घनीभूत होकर उसके अतस्तलमें पड रही है—वह क्यो इतनी करुण, नीरव और विषादमयी है ?

मानसरोवरकी वेलामें, लहरोसे विचुवित परिणयकी वेदी रची गई है। सव दिशाओकी पार्वत्य वनस्पतियो और फल-फूलोसे वह सजाई गई है। चारो ओर रत्न-खचित खभे है—जिनपर मणि-माणिक्यके तोरण-वदनवार लटके है।

सुदूर जल-क्षितिजमें सूर्यकी कोर डूव गई। ठीक गोधूलि-वेलामें लग्न आरभ हो गया। हवनके सुगधित धूम्रसे दिशाए व्याप्त हो गईं। सध्या-निलके मादक झकोरोपर वाद्योकी शीतल रागिणिया, ततु-वाद्योकी स्वर-लहरिया और रमणी-कठोंके मृदु-मदगान मथर गतिसे वह रहे थे। और वीच-वीचमें रह-रहकर हवनके मत्रोच्चारकी गभीर ध्वनिया गूज उठती।

अजनाने देखा, वे हसोके युगल उन दूरके शैल-शृगोके पार उडे जा रहे हैं। और वह क्यो विछुडकर अकेली पडी जा रही है। सब कुछ अवसन्न, करुण, नीरव हुआ जा रहा है। आस-पासका गीत-वाद्य, कलरव, सब नि शेष हुआ जा रहा है। केवल मानसरोवरकी लहरोका अनत जल-सगीत और हवाके हू-हू करते झकोरे। मानवहीन, निर्जन तटका महाविस्तार !

पाणि-ग्रहणकी वेला आ पहुची। अजनाको चेत आया। उसने साहस करके नीची दृष्टिसे ही पवनजयको देखना चाहा , तव तक कव हथेलीमें हथेली जोडकर वाव दी गई, पता ही नही। यही है उसका वह नियोगी पुरुष ? वह पहचान नही पा रही है। उसे याद आ रहा है उस सध्याका वह नौका-विहार, वह विरुद्ध-गामिनी लहरोपर जूझता हुआ पवनजय ! कहा है वह आज ? क्या यही पुरुष है वह ? अरे कहा है वह इस क्षण ? और लहरोके असीम विस्तारपर उसकी आखें उसे खोजती ही चली गईं।

लोकमें परिणय सपन्न हो गया ।

और दूसरे ही दिन दोनो राज-परिवार अपने दल-बल सहित अपने-अपने देशोको प्रस्थान कर गये ।

[ ६ ]

विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीपर, आकाश-विहारिणी वन-लेखासे बालारुणका उदय हो रहा है। अनेक रथो, पालकियो और सैन्यकी ध्वजाओसे पर्वत-पाटिया चित्रित हो उठी। दुदुभियोके तुमुल घोषने घाटियो और गुहाओको थर्रा दिया। दरीगृहोमे सोये सिह जागकर चिघाड उठे। हिस्र जतुओसे भरे कातारोका जड अधकार हिल उठा। पर्वत-गर्भसे जानेवाले दरीमार्गोके चट्टानी गोपुर गगनभेदी वाद्यो और शखनादोसे गूज उठे। महाराज प्रह्लाद आज कैलाश-यात्रासे लौटकर अपने राज-नगर आदित्यपुरको वापस आ रहे है।

बीहड पर्वत-मार्गको पारकर सैन्यकी ध्वजाए मुक्त किरणोमे फह-राने लगी। दूरपर आदित्यपुरके परकोट दीखने लगे। अजनाने रथके गवाक्षकी झालरें उठाकर देखा। शरद ऋतुके उजले बादलो-से आदित्य-पुरके भवन आकाशकी पीठिकापर चित्रित है। विस्तीर्ण वृक्ष-घटाओके पार, राज-प्रासादकी रत्न-चूडाए बाल-सूर्यकी कातिमे जगमगा रही है। सघन उपवनो और पद्म-सरोवरोकी आकुल गध लेकर उन्मादिनी हवा बह रही है। श्यामल तरु-राजियोमे कही अशोकसे कुकुम झर रहा है, तो कही गुलमौरोसे केशर और मल्लिकाओसे स्वर्ण-रेणु झर रही है। अजनाके अग-अग एक अपूर्व सुखकी पुलकोसे सिहर उठते है। पर इन पुलकोके छोरोमें यह कैसी अविज्ञात कातरता है—चिर अभावका कैसा सवेदन है ?

कि लो, देखते-देखते उत्सवका एक पारावार उमड आया। चित्र-विचित्र वस्त्राभूषणोमे नर-नारियोकी अपार मेदिनी चारो ओर फैली है। नवपरिणीत युवराज और युवराज्ञीका अभिनदन करनेके लिये प्रजाने यह विपुल उत्सव रचा है। चारो ओरसे अक्षत, कुकुम, गध-चूर्ण और पुष्पमालाओकी वर्षा होने लगी। सबसे आगे गध-मादन गजराजपर स्वर्ण-खचित हाथीदातकी अबाडीमे मणि-छत्रके तले कुमार पवनजय बैठे है। वे चौडी ज़री किनारका हस-धवल उत्तरीय ओढे है—और माथे-पर मानसरोवरके बडे-बडे नीलाभ मोतियोकी झालरवाला किरीट धारण किये है। अपनी ईषत् वकिम ग्रीवाको ज़रा घुमाकर मानो अवहेलापूर्वक वे अपने चारो ओर देख रहे है। ओठोपर गुरु गरिमाकी एक मुस्कराहट जैसे चित्रित-सी थमी है। धनुषाकार होता हुआ एक भुजदड अबाडीके कठघरेको थामे है। ईषत् गर्दन हिलाकर, और कुछ भ्रू उचकाकर ही वे प्रजाके उस सारे अभिनदन, अभिवादन और जयकारोको झेल लेते है।

नवीन चित्रोसे शोभित, नगरके सिह-तोरणपर अशोक और कदलीकी वदनवारे सजी है। तोरणके गवाक्षोमें शहनाइयोकी मगल-रागिणिया बज रही है। उसके ऊपरके झरोखोसे केशर-वसना कुमारिकाए कमल-कोरक और फूलोकी राशिया बरसा रही है। कुमारकी गर्व-दीप्त आखोने एक बार भ्रूकी मर्यादा तोडकर, तोरणके झरोखोपर दृष्टि डाली। चपक-गौर भुज-दडोपर कमल-सी हथेलियोमें कर्पूरकी आरतिया झूल रही है। सौंदर्यकी उस प्रभाके समुख कुमारकी भौहोका वह मानगिरि एकबारगी ही चूर्ण हो गया। मन ही मन वे उद्वेलित हो उठे। 'ओह, परिणयकी स्वर्ण-साकलोसे बधा मैं, कैदी होकर लौट आया हू इन मायाविनियोके देशमे! और रूपकी ये रजोराशिया विजेताके गौरवसे खिलवाड किया चाहती है?'

जय-जयकार और शखनादोके बीच कुमारके हाथीने तोरणमे प्रवेश किया। नगरके भवन, छज्जे, अटारी और वातायनोमे उड़ते हुए सुगधित

दुकूल और कोमल मुखडोकी छटा खिली है, ककण, नूपुर और किंकिणियोकी रणकार तथा मृदुकठोकी गान-लहरियोंसे वातावरण चचल-आकुल है। और पवनजयने मानो आकाशका तट पकडकर यह निश्चय अनुभव करना चाहा कि वह इस सवपर पैर धरकर चल रहा है।

पुष्पो, पुष्पहारो और हेम-कुकुमसे ढकी हुई अजना दोनो हाथोपर भालके तिलकको झुकाकर प्रजा-जनोके अभिनदन झेल रही थी। देहके तट तोडकर जैसे उसका समस्त आत्मा आनदके इस अपार ममुद्रमे एक तान हो जानेको आकुल हो उठा है। क्यो है यह अलगाव, यह दूरी, यह खड-खड सत्ता ? यही है उसकी इस समयकी सवसे वडी आनद-वेदना। वह आज मानो अपनेको नि शेष कर दिया चाहती है। पर इस अथाह शून्यमें कोई थामनेवाला भी तो नही है।

[ ७ ]

यह है युवराज्ञी अजनाका 'रत्नकूट-प्रासाद'। अत पुरकी प्रासाद-मालाओमें इसीका शिखर सवसे ऊचा है। अनेक देशातरोंके वहुमूल्य और दुर्लभ धातु, पाषाण और रत्न मगवाकर महाराजने इसे भावी राजलक्ष्मीके लिये वनवाया था। दूर-दूरके ख्यात वास्तु-विशारद, शिल्पी और चित्रकारोने इसके निर्माणमें अपनी श्रेष्ठतम प्रतिभाका दान किया है। आज लक्ष्मी आ गई है और महलमें प्रभा जाग उठी है।

महलकी सर्वोच्च अटारीपर चारो ओर स्फटिकके जाली-बूटोवाले रेलिंग और वातायन है। वीचोवीच वह स्फटिकका ही शयन-कक्ष है, लगता है जैसे क्षीर-समुद्रकी तरगोपर चद्रमा उतर आया है। फर्शोपर चारो ओर मरकत और इद्रनील मणिकी शिलाए जडी है। कक्षके द्वारो और खिडकियोपर नीलमो और मोतियोके तोरण लटक रहे है, जिनकी

मणि-घटिकाए हवामे हिल-हिलकर शीतल शब्द करती रहती हैं। उनके ऊपर सौरभकी लहरोसे हलके रेशमी परदे हिल रहे हैं।

कक्षमे एक ओर गवाक्षके पास सटकर पद्म-राग मणिका पर्यंक बिछा है। उसपर तुहिन-सी तरल मसहरी झूल रही है। उसके पट आज उठा दिये गये हैं। अदर फेनो-सी उभारवती शय्या बिछी है। मीना-खचित छतोंमे मणि-दीपोंकी झूमरें झूल रही हैं। एक ओर आकाशके टुकडे-सा एक विशाल बिल्लौरी सिंहासन बिछा है। उसपर कासके फूलोंसे बुनी सुख-स्पर्श, मसृण गद्दिया और तकिये लगे हैं। उसके आस-पास उज्ज्वल मर्मर पाषाणके पूर्णाकार हस-हसिनी खडे हैं, जिनके पखोमे छोटे-छोटे कृत्रिम सरोवर बने हैं, जिनमें नीले और पीले कमल तैर रहे हैं। कक्षके बीचोबीच पन्नेका एक विपुलाकार कल्पवृक्ष निर्मित है, जिसमेंसे इच्छानुसार कल घुमा देनेपर, अनेक सुगधित जलोंके रग-विरगे सीकर बरसने लगते हैं। मणि-दीपोकी प्रभामें ये सीकर इद्रधनुषकी लहरें बन-बनकर जगतकी नश्वरताका नृत्य रचते हैं। कक्षके कोनोमें सुदर बारीक जालियो-कटे स्फटिकमय दीपाधार खडे हैं, जिनमे सुगधित तैलोके प्रदीप जल रहे हैं।

बाहर उत्सवका सायाह्न एक मधुर अलसता और अवसादसे भरा है। आज सुहागिनी अजनाकी शृगार-सध्या है। चारो ओर महलोके सभी खडोंके झरोखोसे मोहन-राग सगीत और प्रकाशकी शीतल-मथर लहरें बह रही हैं। सुदर सुवेषिनी दासिया स्वर्ण-थालो और कलशोमें नाना सामग्रिया लिये व्यस्ततापूर्वक ऊपर-नीचे दौड़ती दीख रही हैं।

शयन कक्षके बाहर छतपर दासिया और सखिया मिलकर अजनाके लिये स्नानका आयोजन कर रही हैं। कुछ दूरपर नारिकेल-वनके अतरालसे 'पुडरीक' नामक विशाल प्राकृतिक सरोवरकी ऊर्मिया झाकती दीख पडती हैं। नारिकेल शिखरोपर वसतके सध्याकाशमें गुलाबी और अगूरी बादलोकी झीलें खुल पडी हैं। ऊपर घिर आती रातकी श्याम-नील

वेलामेंसे कोई-कोई विरल तारक-कन्याये आकर इन झीलोमे स्नान-केलि कर रही हैं।

देव-रम्य राजोद्यानके पूर्व छोरपर, सघन तमालोकी वनालीसे, सुहागिनीके मुख-मडल-सा हेम-प्रभ चद्रमा निकल आया। सरोवरसे सद्य विकसित कुमुदिनियोका सौरभ और पराग लेकर वसतका मादक गध्यानिल झूमता-सा वह रहा है। छतके उत्तर भागमे एक पद्माकार केलि-सरोवर बना है। उसके एक दलपर स्फटिककी चौकी बिछा दी गई है और उसीपर बिठाकर अजनाको स्नान कराया जा रहा है। सुगधित दूध, नवनीत, दही तथा अनेक प्रकारके गधजलोकी झारिया और उपटनोके चपक लेकर आसपास दासिया खडी हैं। वसतमाला अग-लेप लगा-लगाकर अजनाको स्नान करा रही है। केलि-सरोवरके किनारे गमलोंमे लगी भूशायिनी वल्लरिया हवाके हिलोरोंमे उडती हुई इधर-उधर डोल रही हैं। वे आ-आकर अजनाकी अनावृत भुजाओ, जघाओ, बाहो और कटिभागमे लिपट जाती हैं। वह उन अनायास उड आती लताओको विह्वल बाहोसे वक्षमे चापकर उनपर अपना सारा प्यार उडेल देती है। तन अपूर्व अज्ञात सुखकी सिहरनसे भरकर उसका अग-अग जाने कितने भगोंमे टूट जाता है। उनके छोटे-छोटे फूलोको अगुलियोके बीच लेकर वह चूम लेती है—उन मृदुल डालो और नन्ही-नन्ही पत्तियोको गालोसे, गलेसे हलके-हलके छुहलाती है। उस क्षण उसके प्यारने सीमा तोडी है। बहिर्जगतकी लाज और विवेक जाने कहाँ पीछे छूट गया है। आस-पास खडी सखिया और दासिया हसी-चुहलमे एक दूसरीमे लिपटी जा रही हैं। तभी हलकेसे हसते हुए वसतने मधुर भर्त्सना की—

"तेरा बचपन अभी भी छूटा नहीं है, अजन। इन नन्ही-नन्ही फूल-पत्तियोंसे खेलनेमें लगी है कि नहाना भूल गई है। ऐसे ही अपनी बाल-लीलाओंमें रत होकर किसी दिन कुमार पवनजयको मत भूल बैठना, नही तो अनर्थ हो जायगा।"

कहकर वसत खिल-खिलाकर हस पडी। अजना एक वेलिको गालसे लगाये कुछ देर मुग्ध विभोरतामे नत हो रही। फिर धीमेसे बोली—

"सो मुझे कुछ नही मालूम है, वसत। पर देख रही हू—कितना सरल है इन नन्ही-नन्ही वल्लरियोका प्यार। व्याज नही, छल नही, अपेक्षा भी नही है। सहज ही आकर मुझसे लिपट रही है। किस जन्मकी आत्मीयता है यह ? (रुककर) सोचती हू, कौनसा प्यार है जो इस प्यारसे वडा हो सकता है ! क्या मनुष्यका प्रेम इससे भी वडा है ? पर मै क्या जानू वसन्त, इनसे परे इस क्षण मेरे लिए कुछ भी स्पृहणीय नही है।"

कुछ देर चुप रहकर फिर मानो भर आते गलेसे बोली—

"निखिलको भूलकर जो एक ही याद रह जायगा, उसकी ठीक-ठीक प्रतीति मुझे नही है—पर इस क्षण इस प्यारसे परे मै किसीको भी नही जानती ?"

"तो वह जाननेकी वेला अब दूर नही है अजन—लो उठो, उस ओर चलकर कपडे पहनो।"

छतके दक्षिण भागमें, खुले आकाशके नीचे रत्न-जटित खभोवाली सुहाग-शय्या बिछी है। चद्रमाकी उज्ज्वल किरणोसे रत्नोमें प्रभाकी तरगें उठ-उठकर विलीन हो रही है। मानो वह शय्या किसी नील जलधि-वेलामें तैर रही है। शय्यापर कचनार और चपक पुष्पोकी राशिया बिछी है। उसकी झालरोमें केसरवाले पुडरीक झूल रहे है। पलगके रत्न-दडोपर चारो ओर कुद-पुष्पोसे बुनी जालियोकी मसहरी झूल रही है। पलगके शीर्षके चौखटपर चद्रकान्त मणियोकी झालरें लटकी है, चादकी किरणोका योग पाकर उन मणियोमेंसे भीनी-भीनी जलकी फुहारें झर रही है।

और वही पास ही इद्र-नील शिलाके फर्शपर चारो ओर सखियो और

दासियोसे घिरी, सुहागिनी अंजनाका शृंगार हो रहा है। उस तरल ज्योत्स्ना-सी देहमें पीत कमलोके केसरने अंगराग किया गया है। हथेलियों और पगतलियोमे लोध्रकी रेणुसे महावर रची गई है। मध्यारात्रि सागर-वेला सी वह घनश्याम केश-राशि ऐसी निर्बंध लहरा रही है कि उस देहके तरल तटोमें वह सम्हाले नही सम्हलती। इसीसे वेणी गूथनेका प्रयत्न नही किया गया है, केवल मानसरोवरके मुक्ताओंकी तीन लडियोसे हलका-सा बाधकर उसे अटका दिया गया है। लिलार और गालोके केश पाशपरसे दो लडिया दोनो ओरकी केश-पट्टियोको बाधती हुई जाकर चोटीके मूलमे अटकी है, मागकी सेंदुर रेखापरसे एक तीसरी लड जाकर उन दोनोसे मिल गई है। कानोंमें नीलोत्पल पहनाये गये है। अर्ध चद्राकार ललाटपर गोरोचन और चदनसे तथा स्तनोपर कालागुरुसे वसतमालाने पत्र-लेखा रची है। मृणाल-ततुओंसे लाल कमलके दलोको बुनकर बनाई गई कचुकी पद्म-कोरकोसे उद्भिन्न वक्ष-देशपर बाध दी गई। कलाइयोपर मणि-कंकण और फूलोके गजरे पहनाये गये और भुजाओपर रत्न-जटित भुज-बंध बाधे गये। गलेमे वैडूर्य-मणिका एक अति महीन चादनी-सा हार धारण कराया गया। देहपर श्वेत-नील लहरियेका हलका-सा रेशमी दुकूल पहना और पैरोमे मणियोके नूपुर झनझना उठे।

वैशाखकी पूर्णिमाका युवा चद्र, तमालके वनोसे ऊपर उठकर, सपूर्ण कलाओसे मुस्करा उठा। अपनी सारी पीली मोहिनी नवोढा अंजनाको सौंपकर अब वह उज्ज्वल हो चला है। दूर देव-मदिरोके धवल शिखरपर आकर वह कुछ ठिठक गया है। मानो आज वह सुहागिनी अंजनाका दर्पण बन जाना चाहता है। जयमाला जब दर्पण लेकर सामने आई, तो अंजनाने सभ्रम-पूर्वक गर्दन घुमाकर चादकी ओर देखा और मुस्करा दिया। कपोल-पालीमें फैली हुई स्मित-रेखा, उन आखोके गहन कजरारे तटोमे जाने कितने रहस्योसे भरकर लीन हो गई।

शयन कक्षके झरोखोंसे दशाग धूपकी धूम्र-लहरे आकर बाहर चादनीकी तरलतामें तैर रही हैं, अजनाके केशोपर आकर मानो वे सपनोंके जाल बुन रही है।

थोडी ही देरमे शृगार सपन्न हो गया। दूसरी ओरके केलि-सरोवरके पास दासियोंने प्रवालके हिंडोलोको पुष्प-मालाओसे छा दिया। चारो ओर घिरी सखियोंके हास-परिहास, विलास-विभ्रम और चचल कटाक्षोके बीच अजना अपनी सारी शोभाको समेट अपनी ढुलकी पलकोकी कोरोमे लीन हो रही है। अपनी ही सौरभसे मुग्ध पद्मिनी जैसे झुककर अपने ही अतरकी आकुल ऊर्मियोमे अपना प्रतिबिंब देख रही हो।

इद्र-नील शिलाके फर्शमें जिस बालाकी परछाही पड रही है, उसे अजना पहचान नही पा रही है। किस आत्मीय-जनहीन सागरात-की वासिनी है यह एकाकिनी जल-कन्या? और लो, वह छाया तो खोई जा रही है, अनत लहरोमें, नाना भगोमे टूटकर वह छवि दिगतोके पार हो गई है! अजनाका समस्त प्राण उस बालाके लिये अथाह करुणा-व्यथामे भर आया है। चादनीके जलसे आकुल दिशाओके सभी छोरोपर वह उसे खोजती भटक रही है। पर जहातक दृष्टि जाती है, चचल लहरोके सिवा कही और कुछ नही है। लहरें जो टूट-टूटकर अनतमे बिखर जाती है। सारे ग्रह-नक्षत्र छविकी इन तरग-मालाओमें चूर-चूर होकर बिखर रहे है। जन्म और मरणसे परे मुक्तिके भवरोपर आत्मोत्सर्ग-का उत्सव हो रहा है। देश और कालकी परिधि निश्चिह्न हो गई है। सुख-दुख, आनद-विषादकी सीमा तिरोहित हो गई है।

और शून्यमे वह कौन आलोक-पुरुष दिखाई पड रहा है, जिसके चरणोमे जा-जाकर ये अतहीन लहरें निर्वाण पा रही है! एकाएक अजनाने शून्यमे हाथ फैला दिये। अपने ही मणि-ककणोकी रणकारसे वह चौंक उठी। वसतमालाने पीछेसे उसे थाम लिया। परिचयहीन, भटकी चितवनसे वह वसतको देख उठी। फिर एक अपूर्व सवेदनकी

मर्म-पीडा उन आखोकी कजरारी कोरोमें भर आई। देखकर वसत नीरव हो गई। चित्त उसका रुद्ध हो गया और चाहकर भी बोल नही फूट पाया।

पूर्ण चेत आते ही अजनाको रोमाच हो आया, कपोलोपर पसीना झलक उठा। अगाढ लज्जासे मानो वह अपने ही में मुंदी जा रही है। कि अगले ही क्षण वह परवश होकर लुढक पडी—वसतमालाके वक्षपर।

"अजन, मुझसे ही लाज आ रही है आज तुझे ?"

"जीजी वहुत दिनोका भूला सबोधन आज फिर ओठोपर आ गया है—अनायास, क्षमा कर देना, जीजी। पर आज तुम बडी ही वडी लग रही हो! तुम्हें छोडकर आज कहीं शरण नही है—इसीसे कह रही हू। वीच धारामें मुझे असहाय छोडकर चली मत जाना। अपनी अजनाका पागलपन तो तुम सदासे जानती हो—फिर क्या आज भी क्षमा नही कर दोगी, जीजी ?"

अजनाकी झुकी हुई पलकपर विखर आई हलकी-सी केश-लटको उँगलीसे हटाते हुए वसतने कहा—

"इसीसे तो कह रही हू अजन, कि अपनी चिर दिनकी उस जीजीसे भी यो लाज करेगी ?"

"तुमसे नही जीजी, अपनी ही लाजसे मरी जा रही हू। अपनी ही हीनतापर मन करुणा और अनुतापसे भरा आ रहा है। देनेको क्या है मेरे पास, जीजी, तुम्ही बताओ न ?"

"छि मेरी पगली अजन "

कहते-कहते वसतका गला भी हर्षके पुलकसे भर आया। और भी दुलारसे अजनाके शिथिल हो पडे शरीरको उसने वक्षसे चाप लिया।

"सच कह रही हू जीजी, मेरा मन मेरे वशमें नही है। और रूप ? यह तो टूट-टूटकर विखरा जा रहा है, धूल-मिट्टी हुआ जा रहा है! शृगार-सज्जाके छद्म-वधनमें वाधकर इसे, उन चरणोपर चढानेको

कहती हो जीजी ? क्या क्षणोंके इस छलसे उन चरणोंको पाया जा सकेगा ? और यदि पा भी गई—तो कै दिन रख सकूँगी ?"

"कैसी बातें करती है, अंजन ? जिस अंजनाके दिव्य रूपको पानेके लिये, स्वर्गके देवता मर्त्यलोकमें जन्म पानेको तरस जाय, उसी अंजनाके हृदयका यह अमृत आज उसकी समर्पणकी अंजुलियोंमें भर आया है ! देखूं, वह कौनसा पुरुषार्थ है, जो रूपके इस अकूल समुद्रको पार कर, नाशकी भंभा-धारासे ऊपर उठकर, हृदयके इस अमृतको प्राप्त कर लेगा ! मान-सरोवरकी विरुद्ध-गामिनी लहरोंपर तैरनेवाले कुमार पवनंजयके मानकी परीक्षा है आज रात . . ।"

अंजनाकी समस्त देह पिघलकर मानो उत्सर्गके पद्मपर, एक अदृश्य जल-कणिका मात्र बनी रह जाना चाहती है । वसंतके वक्षपर सिमटकर वह गांठ हुई जा रही है । उसने बोलती हुई वसंतके ओठोंपर हथेली दाब दी—

"ना. .ना .ना .बस करो जीजी । मेरी क्षुद्रताको शरण दो जीजी । कहां है हृदय—जो उसकी बात कह रही हो । मन, प्राण, हृदय—सर्वस्व हार गई हूं ! अपनेको पकड़ पानेके सारे प्रयत्न विफल हो गए हैं । इसीसे पूछ रही हूं कि क्या देकर उन चरणोंको पा सकूंगी ? मैं तो सर्वहारा हो गई हूं, क्षण-क्षण मिटी जा रही हूं, मुझपर दया करो न, जीजी !"

और तभी उस ओरके केलि-सरोवरसे सखियोंके चंचल हास्यका रव सुनाई पड़ा । कि इतनेमें ही लीलाकी तरंगों-सी सखियां इस ओर दौड़ आईं ।

"उठो रानी, खेलनेके लिए बालिका अंजनको जाने दो—हिंडोलेकी पेंगें उसकी राह देख रही हैं !" कहकर वसंतने अंजनाको दोनों हाथोंसे झकझोरकर एकदम हलका कर देना चाहा ।

चारों ओर घिर आयी सखियोंने सिंधुवार और मल्लिकाके फूलोंसे

अजनाका अभिषेक कर दिया। 'युवराज्ञी अजनाकी जय'—मृदु कठोका समवेत स्वर हवामें गूज गया। जयमालाने एक उत्फुल्ल कुमुदोकी माला अजनाके गलेमें डाल दी। वसतके हाथके सहारे उठकर अजना चली—धीर-गभीर और सभ्रमसे भरी। चारो ओर—सखिया और दासिया झुक-झुककर वलायें ले रही हैं। इस सारे रूप, शृगार, सज्जामे ऊपर उठकर सौदर्यकी एक मुक्त विभा-सी वह चल रही है। चाद उस सौदर्यका दर्पण न वन सका—वह उसका भामडल वन जानेको उसके केश-पाशकी लहरोपर आ खडा हुआ है, पर वहा भी जैसे ठहर नही पा रहा है।

केलि-सरोवरके एक ओरके दलोके ऊपर होकर हिंडोला झूल रहा है। हिंडोलेके एक कोनेमें वाईं पीठिकाके सहारे, एक मोतिया रगके रेशमी उपधानपर कुहनी टिकाये, गाल एक हथेलीपर धरकर अजना वैठी है। सहज सकोचवश कुछ मुडे-से दोनो जानु उसने अपने ही नीचे समेट लिए हैं। पास ही दाईं पीठिकाके सहारे वसतमाला वैठी है। कुछ सखिया हिंडोलेके आस-पास खडी होकर हौले-हौले झूला दे रही हे। वडी ही कोमल रागिणियोसे वे गीत गा रही है। उन रागोकी मूर्छा पवनपर चढकर दिशाओके तट छू आती है। वढते हुए उल्लासके साथ रागोका आलाप वढता ही जाता है।

केलि-सरोवरके उस ओर हार-यष्टि वाधकर खडी सखिया नाना भगोमें नृत्य कर उठी। मजीरोकी पहली ही रणकारसे अतरिक्षके तारोमें झकार भर गई। वीणा, मृदग और जल-तरगकी स्वरावलियोपर समुद्रकी लहरोका सगीत उतरने लगा, अतरके कितने ही लोक एक साथ जाग उठे। वायुकी तरगो-सी वे तन्वगी वालाए, सगीतके तालोपर, शून्यमे चित्र वनाने लगी। अर्ध उन्मीलित नयनोसे, देह-यष्टिको अनेक भगियोमें तोडकर, उन्होने हाथ जोडकर अपने-आपको निवेदित किया। देहका सारा स्थूल रूप-लावण्य सौदर्यकी कुछ ही सूक्ष्म रेखाओमे सिमटकर

जाज्वल्य हो उठा। 'वादल-वेला', 'मयूरी-नृत्य', 'वसत-लीला', 'अनग-पूजा', 'प्रणयाभिमार', 'सागर-मथन', आदि अनेक नृत्य क्रमश वे वालाएं रचती गई।

अजना कभी नृत्यकी भाव-भगियो और सगीतकी मूर्छनामें विभोर हो आखे मूद लेती, और कभी आकाशकी ओर दृष्टि उठाये अपने हाथके लीला-कमलको उगलियोके बीच नचाती हुई ग्रह-नक्षत्रोकी गतियोसे खेलने लगती। एकाएक उसकी नजर केलि-सरोवरके जलमें पडते तारोके प्रतिबिंवपर जा पडती। ईषत् झुककर हाथके लीला-कमलसे वह जलकी सतहको झकझोर देती। ग्रह-नक्षत्रोके विंव उलट-पुलट हो जाते। वह खिलखिलाकर हँस पड़ती। पास खडी सखिया अचरजमें भरी देखती रह जाती। कभी अजनाकी वे लीलायित भौहें कुचित हो जाती तो कभी गभीर! तो कभी एक निर्दोष कौतुकसे वह मुस्करा देती। मानो आज नियतिसे ही विनोद करनेको वह उतर पडी है।

निहपौरपर नौवत वज उठी। रातका दूसरा पहर आरभ हो गया। सामने दृष्टि पडी—गुलावी कचुकियोसे वधे उद्भिन्न वक्ष देशपर, हाथोकी अजुलियोमे सर्वस्व उत्सर्ग करती हुई, मुद्रित-नयन वालाए समर्पणके भगोमें नत हो गई। मजीरोकी रणकार नीरव हो गई। सगीतकी डूबती हुई सुरावलिया दिशाओके उपकूलोमें जाकर सो गई। एक-एककर सब वालाए तिरोहित हो गईं।

× × ×

अटारीके दक्षिणवाले रेलिंगपर अजना और वसत खडी है—छाया-मूर्तियो-सी मौन। विशाल राजप्रागणमें चारो ओर सन्नाटा छा गया है। नीरवता सघन हो रही है। आकाशके असख्य तारोकी उत्सुक आखें इस छतपर टकटकी लगाये है। चारो ओर निस्पद, अपलक प्रतीक्षा विछी है। उद्यानकी वन-राजियोमेसे, केलि-गृहोके द्वारोमेंसे, नारिकेल-

वनके अतरालोंसे, लता-मडपोंके द्वारोंसे, सरोवर तटके कदली और माधवी-कुजोंसे, देव-मदिरोंके शिखरोंपरसे, सौध-मालाओंकी गुम्बजोंसे— मानो कोई आनेवाला है! अधकारमेंसे कोई छायाकृति आती दिखाई पडती है—और फिर कहीं छाया-चादनीकी आख-मिचौनीमें खो जाती है। दक्षिण समीरके अनन्त झोंकोंमें तरु-मालाए मर्मरित होती रहती हैं। वह शून्यता और भी निविड, और भी गभीर हो जाती है।

'पुडरीक' सरोवरके गुल्मोंमेंसे कभी कोई एकाकी मयूर टहुक-टहुक उठता है, कोई जल-जतु विचित्र स्वर कर उठता है। सरोवरकी कगारपर-से कोई एकाकी बिछडा पछी उडता हुआ निकल जाता है, पानी छप्-छप् बोल उठता है। झिल्लीका रव इस शून्यताके हृदयका सगीत बन गया है। कभी-कभी दूरपर, प्रहरीके उलट शब्दकी ध्वनि, स्तब्धताको और भी भयावह बना देती है।

सुहाग-शय्याके सामनेवाले वातायनमें अजना चुप बैठी है। पासके रेलिंगपर वसत खामोश ठुड्डीपर हाथ देकर बैठी है। नई छाली हुई धूपसे धूम्र लहरिया और भी वेगसे उड रही है। चारों ओर मणि-माणिकोंकी झलमल आभामें नाना भोग-सामग्रिया दीपित हैं। स्फटिककी चित्रमयी चौकियोंपर रत्नोंकी झारिया शोभित हैं। कचनके थालोंमें विविध फल और पुष्पहार सजे हैं। अनेक शृगारके उपादानोंसे भरी रत्न-मजूषाए खुली पडी हैं। वसतमालाने कमरेमें घूमकर दीपाधारोंके दीपोंकी जोतको और भी ऊचा उठा दिया। सुहाग-सेजके चारों ओरके धूप-दानोंमें नवीन धूप डाल दिया। शून्य शय्यामें जा-जाकर धूम्र लहरें विसर्जित होने लगीं। सुहागिनीके प्रतीक्षासे आकुल नयन आकाशमें लोटते ही चले गये। और तरु-पल्लवोंकी 'डल-पलमें' तारे खिल-खिलाकर हँस पडे।

चाद ठीक सौधके शिखरपर आ गया है। चूडाके रत्न-दीपमेंसे क्रातिकी नीली-हरी किरणें झर रही हैं। दूरपर कुमार पवनजयके

'अजितंजय-प्रासाद' का शिखर दीख रहा है। उसपर अष्टमीके वक्र चंद्र-सा अरुण रत्न-दीप उद्भासित है। जरा झुककर धीरेसे वसतने कहा—"देख रही हो अंजन, वह रतनारी चूडा—वही है 'अजितजय प्रासाद'।"—वसतके इगितपर अनायास अजनाकी आखे उस ओर उठ गई। पर दर्पकी वह भ्रू-लेखा जैसे वह झेल न सकी। चाहकर भी फिर उस ओर देखनेका साहस वह न कर सकी।

कालका प्रवाह अनाहत चल रहा है। जीवन क्षण-पल घडियोमें कण-कण बिखरकर अवश वह रहा है। यह जो आस-पास सब स्तब्ध-स्थिर दीख रहा है, यह सब उस प्रवाहमें सूक्ष्म रूपसे अतीत और व्यय हो रहा है; सब चचल है—और क्षण-क्षण मिट रहा है, और नव नवीन रूपोमें नव-नवीन इच्छाओ और उच्छ्वासोके साथ फिर उठ रहा है। सब कुछ अपने आपमे परिणमन-शील है। आत्माके अतरालमें चिरतन विछोहकी व्यथा निरतर घनी हो रही है।

कि लो, सिंह-पौरपर तीसरे पहरकी नौवत वज उठी। फिर हवाके झोकेमें तरु-मालाए मर्मरा उठी और तारे फिर खिलखिलाकर हँस पडे। अतरिक्षमें रह-रहकर एक नीरव ध्वनि गूँज उठती है— 'नही आये! नही आये!! नही आये!!!" रात ढल रही है। तारे वह रहे है, चाद वह रहा है, वादल वह रहे है, आकाश वह रहा है, पृथ्वी वह रही है, हवाए वह रही है, अधकार और प्रकाश वह रहे है—। और इसी प्रवाहमें चेतना भी अवश वह रही है। पर भीतर सवेदनकी एक अखड जोत जल रही है—जो इस प्रवाहको चीरकर ऊपर आया चाहती है, परिणमनके इन सारे जुलूसोको जो अपने भीतर तदाकार और चिद्रूप कर लेना चाहती है। देहकी दीवारोमे वह वदिनी टकरा रही है, पछाडे खा रही है। और ऊपर मणि-माणिक्यकी नाना-वर्णी प्रभामे मायाकी चित्र-लीला अविराम चल रही है। संसार-चक्र सतत गति-शील है—।

कि लो, रातके चौथे पहरकी नौबत बज उठी। प्रश्न-चिह्न-सी-सजग, अपने आपमें चिन्मय लौ-सी बाला अजना वातायनमें बैठी है, इस सारे परिच्छदके बीच वह नितात निराधार, असहाय और अकेली है—निज रूपमें रमण-शील। रेलिंगपरसे उठकर उसके पास जानेकी वसतकी हिम्मत नही है। देखते-देखते पश्चिमके वानीर-वनोमे चाद पाडुर होता दीख पडा। तारे क्षीण होकर डूबने लगे। शयन-कक्षके दीपाधारोमें सुगधित तैलोके प्रदीप मद हो गये। धूप-दानोपर कोई विरल धूम्र लहरी शून्यमें उलझी रह गई है।

केवल मणि-दीपोकी म्लान, शीतल विभामे वह विपुल भोग-सामग्रियोसे दीप्त सुहागकी उत्सव-रात्रि कुम्हला रही है। अस्पर्शित शय्याकी चपक-कचनार सज्जा मलिन हो गई। कुद-पुष्पोकी मसहरी जल-सीकरोमे भीगकर झर गई है। पूजाकी सामग्री ठुकराई हुई, हतप्रभ, शून्य उन थालोमें उन्मन् पडी है। सब कुछ अनगीकृत, अवमानित, विफल पडा रह गया है। पुजारिणी स्वय चिर प्रतीक्षाकी प्रतिमा बनी झरोखेमे बैठी रह गई है। एक गभीर पराजय, अवसन्नता, म्लानता चारो ओर फैली है।

और भीतर कक्षकी शय्यापर आत्माकी अग्नि-शिखा नग्न होकर लोट रही है।

सध्यामे सीढियोपर बिछाये गये प्रफुल्ल कुमुदिनियोके पावडे अछूते ही कुम्हला गये। पर वह नही आया—इस सुहाग-रात्रिका अतिथि नहीं आया।

और लो, राज-प्रागणकी प्राचीरोके पार ताम्र-चूड बोल उठा।

[ ८ ]

राजपरिकरमें बिजलीकी तरह खबर फैल गई "देव पवनजयने नवपरिणीता युवराज्ञी अजनाका परित्याग कर दिया।"

और दिन चढते न चढते सपूर्ण आदित्यपुर नगर इस सवादको पाकर स्तब्ध हो गया। उत्सवकी धारा एकाएक भग हो गई। प्रात काल ही राज-मदिरसे लगाकर नगरके चारो तोरणोतक वाद्य, गीत-नृत्यकी जो मगल ध्वनिया उठने लगी थी, वे अनायास एक गभीर उदासीमें डूव गई। प्रजा द्वारा सात दिनके लिये आयोजित विवाहोत्सवके उपलक्ष्यमे नगरमे जहा-तहा तोरण, मडप, वेदिया रची गई थी, अनेक लता-फूल, वनस्पतियो के द्वार वने थे, ध्वजाओ और वदनवारोके सिंगारसे नगर छा गया था, उस सारी सजावटमें एक गहरा सन्नाटा गूज रहा है। मानो नियतिका व्यग्य-अट्टहास अतहीन हो गया है। केवल वडे-वडे कांसेके धूप-दानोमें जहा-तहा सुगधित धूपका धूम्र मौन-मौन लहराता-सा उठ रहा है। मदिरोंके पूजा-पाठ और घटा-रव एकाएक मूक हो गये। देवताओकी वीतराग पाषाण प्रतिमाए, और भी अधिक वीतरागताके रहस्यसे भरकर मुस्करा उठी! नागरिकोमें चारो ओर अपार आश्चर्य, निरानद और कौतूहल छा गया है।

राज-प्रागणमें गभीर आतकका सन्नाटा फैला है। राज-मदिरोपर घने विषादका आवरण पड गया है। प्रासाद-मालाओंके छज्जोपर केवल कवूतरोकी गुटुर-गुटुर सुनाई पडती है, जो उस उदासीको और भी सघन और मार्मिक वना देती है। सिंहपौरपर केवल समय-सूचक नौवत कालके अनिवार चक्रकी निर्मम सूचना देती है।

मनुष्यकी वाणी ही आज मानो अपराधिनी वन गई है। कभी कोई एकाकिनी प्रतिहारी, विशाल राज-प्रागणको पारकर एक सौधसे दूसरे सौधको जाती दिखाई पडती है। जीवन, कर्म, व्यापार, चेष्टा सव जडीभूत हो गया है। चारो ओर फैला है आतक, अपराध, क्षोभ, रोष—समस्त राज-कुलके प्राण विकल पश्चात्तापसे हाय-हाय कर उठे है। नागरिकाओ और कुल-कन्याओंके वक्षमें एक शब्दहीन रुलाई गूज रही है। प्राण-प्राणके तटोमें जाकर अकल्पित दु खकी यह कथा अशेष हो गई है।

यह सब इसलिए कि यह कोई उडती हुई खबर नही थी। यह कुमार पवनजय द्वारा स्वय घोषित की गई घोषणा थी। कुमारकी जिस गुप्त प्रतिहारीने, उनकी निश्चित आज्ञाओके अनुसार इस घोषणाको नगरमे फैलाया, उसके पास एक लिखित पत्रिका थी जिसपर कुमारके हस्ताक्षर थे। हवाके वेगसे प्रतिहारी घूम गई। लोग अवाक् रह गये—और देखते-देखते प्रतिहारी गायब हो गई। प्रजामें जन-श्रुतिकी तरह यह बात प्रसिद्ध है कि 'देव पवनजयकी हठ टलती नही है, उनका वचन पत्थरकी लकीर होता है।' फिर वह तो लिपि-बद्ध घोषणा थी—जो कुमारने स्वय आग्रह-पूर्वक प्रकाशित की थी।

महादेवी केतुमतीके आसुओका तार नही टूट रहा है। आस-पास आत्मीय, कुटुबी, परिजन, दासिया, बारबार सबोधनके हाथ उठाकर रह जाते हैं। बोल किसीका फूट नही पाता है। क्या कहकर समझायें। सब निर्वाक् हैं और हृदय सभीके रुद्ध हैं।

महाराज प्रह्लाद राज-मन्त्रियोके साथ सवेरेसे मन्त्रणा-गृहमें बद है। प्रमुख द्वार भीतरसे रुद्ध है, घटो हो गये नही खुला। महाराजने सवेरे ही स्वय महामन्त्री सौमित्रदेवको भेजा था कि जाकर वे पवनजयको लिवा लायें। पर महामन्त्री निराश लौटे, कुमार अपने महलमें नही थे। महाराज स्वय पालकीपर चढकर गये। 'अजितजय-प्रासाद' का एक-एक कक्ष महाराज घूम गये पर कुमारका कही पता नही था। अश्व-शालामें पवनजयका प्रियतम तुरग 'वैजयत' अपनी जगहपर नही था। महलके द्वारके दोनो ओर प्रतिहारिया कतार बाधे नत खडी थी। महाराज के पूछनेपर सिर उठाये और भयसे थरथराती हुई वे मूक रह गई। वे रो पडी और बोल न सकी। महाराज उदास होकर लौट आये। चारो दिशाओमे सैनिक दौडाये गये, पर दिन डूबने तक भी कोई सवाद नही आया।

और विषादके बादलोसे ढककर जब आस-पासका सारा राज-

वैभव मानो भू-लुठित हो गया है, तब यह 'रत्नकूट-प्रासाद' इस सबके बीच खडा है—वैसा ही अचल, उन्नत, दीप्त रत्नोसे जगमगाता हुआ ! इसका तेज जरा भी मद नही हुआ है। दिनकी चिलचिलाती धूपमें वह और भी प्रखर, और भी प्रज्वलित होता गया है। कोई कातिमान तरुण योगी मानो समाधिस्थ है, ओठोकी वीतराग मुस्कराहटमें एक गहन रहस्यमयी करुणा है।

परिजनोकी आसूभरी आखें धूपमें दहकते उस शिखरकी ओर उठती हैं, पर ठहर नही पाती; ढुलक जाती हैं, और आसू सूख जाते हैं। इस प्रज्वलित अग्नि-मदिरके पास जानेका साहस किसीको नही हो रहा है। सारे मनोकी करुणा, व्याकुलता, सहानुभूति अनेक धाराओमें उसके आस-पास चक्कर खाती हुई लुप्त हो जाती है।

दासिया और प्रतिहारिया महलकी सीढियो और खडोमें पहेलिया बुझाती हुई बैठी हैं—पर ऊपर जानेकी हिम्मत नही है।

छतवाले उसी शयन-कक्षमें बीचके बिल्लौरी सिंहासनकी दाई पीठिकाके सहारे अजना अध-लेटी है। पास ही बैठी है उदास वसत; रो-रोकर चेहरा उसका म्लान हो गया है और आखें लाल हो गई हैं। पीछे खडी रत्न-माला मयूर-पखका विपुल विजन धीरे-धीरे झल रही है।

अजनाकी देहपरसे राग-सिंगार, आभरण मानो आप ही झरे पड़ रहे हैं। उन्हें उतारनेकी चेष्टा नही की गई है, वे तो निष्प्रभ होकर जैसे आप ही खिर रहे हैं। और जब वे पहनाये गये थे तब भी कब सचेष्टताके साथ सम्हाले गये थे। सुषमाके उस सरोवरमें वे तो आप ही तैरने लगे थे और धन्य हो गये थे। दिन भर आज खुली छतमें शय्याके पास बैठ, अजनाने सूर्यास्नान किया है। उसमें सारे रत्नाभरण और कुसुमाभरण उस देहसे उठती ज्वालाओमें गलित-विगलित होते गये हैं।

अब साझ होते-होते वसतका वश चला है कि वह उसे उठाकर कक्षमें ले आई है। बिल्लौरी सिंहासनपर सरोवरके जल-बिंदुओसे आर्द्र, सद्य

तोड़े हुए कमलके पत्तोंकी शय्या बिछाकर उसपर अंजनाको उसने लिटाना चाहा, पर वह बैठी है। पास ही मीनाकी चौकीपर पन्नेके चषकोंमें कर्पूर, मुक्ता और चदनके रस भरे रखे हैं, पर उन अंगोंने लेप नहीं स्वीकारा। सुगंधि जली और रत्नोंकी भारियां मुह ताकती रह गईं।

रत्नमालाने कल घुमा दी, पन्नेके कल्प-वृक्षोंमें निकलकर शीतल सुगंधित नीहार-लोक कमरेमें छा गया। अंजनाके तपोज्ज्वल मुखपर अपार शांति है। गलित-स्वर्ण-सी पसीनेकी धारें कहीं-कहीं उस अरुणाभामें सूख रही है। सघन वरौनियोंके भीतर घन पल्लव-प्रच्छाय किसी अतलांत वन्य वापिकाके जल-सी वे आखें कभी उठकर लहरा जाती हैं और फिर ढुलक जाती हैं।

अंजनाके माथेपर हलकेसे हाथ फेरती हुई वसत बोली—

"अंजन, तेरे हृदयके अमृततक नहीं पहुच सका वह अभागा पुरुष! इसीसे तो झुंझलाहटकी एक ठोकर शून्यमें मारकर वह चला गया है। . पर नारीकी देह लेकर—"

कहते-कहते फिर वसतका गला भर आया, विह्वल होकर उसने अंजनाको अपनी गोदमें खींच लिया और उसका मुख वक्षमें भर मुंदी आखोंके वे बडे-बडे पलक चूम लिए। उस ऊष्मामें अंजनाकी वे सुगोल सरल आखें भरपूर खुलकर वसतकी आखोंमें देख उठीं और फिर ढुलक गईं। मुहूर्त मात्रमें वह वसतको अपने अंतर्लोकमें खींच ले गयी।

"भूल हो गई है जीजी, मुझीसे भूल हो गई है। मैंने अपनी आखोंसे देखा था कल रात—उस इंद्रनील शिलाके फर्शमें। छायाकी उस कन्याको मैं अपने सुख-सुहागके गर्वमें पहचान न सकी। पर मैं ही अभागिनी तो थी वह! टूटती ही गई—टूटती ही गई। अनत लहरोंमें चूर-चूर होकर मैं बिखर गई। और मैंने देखा, वे आलोकके चरण आ रहे हैं! पर मैं पहुच न सकी जीजी उनतक। देखो न वे तो चले ही आ रहे हैं, पर मैं तो चूर-चूर हुई जा रही हू। देखो न जीजी मैं अभागिन।"

कहते-कहते अपने दोनो हाथ अजनाने शून्यमे उठा दिये। और वसतने देखा, उसकी दोनो आखोसे आसू अविराम झर रहे हैं। लगा कि वह ध्वनि मानो किसी सुदूरकी गभीर उपत्यकासे आ रही थी।

"अजन—मेरी प्यारी अजन ! यह कैसा उन्माद हो गया है तुझे ? मेरी अजन . "

कहते-कहते वसतने अजनाके दोनो उठे हुए हाथोको वडी मुश्किलसे समेटकर, फिर उसके चेहरेको अपने वक्षमें दाव लिया।

"पर जीजी भूल मुझीसे हुई है। वार-वार तुमसे मनकी वात कहनी चाही है—पर न कह सकी हू। मोहकी मूर्छामे अपनी तुच्छताको भूल वैठी, इसीसे यह अपराध हो गया है, जीजी ! देखो न, वे चरण तो चले ही आ रहे हैं, पर मै ही नष्ट हुई जा रही हू—टूटी जा रही हू। उन चरणोके आनेतक यदि चुक ही जाऊ तो मेरा अपराध उनसे निवेदनकर, मेरी ओरसे क्षमा माग लेना, जीजी !"

वसतसे वोला नही गया। उसने अजनाका वोलता हुआ मुह और भी भीचकर छातीसे दाव लिया, फिर धीमेसे कहा—

"चुप चुप चुपकर अजनी"

कुछ क्षण एक गहरी शाति कमरेमे व्याप गई। तव अजनाको अपनी गोदपर धीमेसे लिटाकर, वसत हलके हाथसे उसके ललाटपर चदन-कर्पूर और मुक्ता-रसका लेप करने लगी।

[ ९ ]

यह है कुमार पवनजयका 'अजितजय-प्रासाद'। राजपुत्रने अपने चिर दिनके सपनोको इसमें रूप दिया है। अवोध वालपनसे ही कुमारमें एक जिगीषा जाग उठी थी—वह विजेता होगा। वय-विकासके साथ यह उत्कठा एक महत्वाकाक्षाका रूप लेती गई। ज्ञान-दर्शनने सृष्टिकी

विराटताका वातायन खोल दिया। युवा कुमारकी विजयाकाक्षा सीमासे पार हो चली वह मनहीमन सोचता—वह निखिलेश्वर होगा—वह तीर्थंकर होगा।

इस महलमें कुमारने अपने उन्ही सपनोको सागोपाग किया है। महाराजने पुत्रकी इच्छाओंको साकार करनेमें कुछ भी नहीं उठा रखा। विपुल द्रव्य खर्च कर, द्वीपातरोके श्रेष्ठ कलाकारो और शिल्पियो द्वारा इस महलका निर्माण हुआ है।

दूरपर विजयार्द्धकी उत्तुग शृग-मालाए आकाशकी नीलिमामे अतर्धान हो रही है। और उनके पृष्ठपर खडा है यह गर्वोन्नत 'अजितजय-प्रासाद',—अपनी स्वर्ण-चूडाओसे विजयार्धकी चोटियोका मान मर्दन करता हुआ।

पार्वत्य-प्रदेशके ठीक सीमातपर, जहासे समतल भूमि आरभ होती है, एक विस्तृत टीलेपर यह महल बना है। राज-मदिरसे यहातक आनेके लिये विशेष रूपसे एक सडक बनी है, दूसरा कोई रास्ता यहा नही पहुच सकता। महलके सामने ऊचे तनेवाली सघन वृक्ष-राजियोसे भरा एक रम्य उद्यान है। और उसके ठीक पीछे, पादमूलमें ही आ लगा है वह पहाडियोसे भरा बीहड जगल। किसी प्राचीर या मुडेरसे उसे अलग नहीं किया गया है। महलके पूर्वीय वातायन ठीक उसीपर खुलते है। कृत्रिमका यह सीमात है, और प्रकृतिका आरभ। ठीक महलकी परिखापर वे भयावनी वन्य-झाडिया झुक आई है। महलको चारो ओरसे घेरकर यह जो कृत्रिम परिखा बनी है, वह देखनेमें बिल्कुल प्राकृतिक-सी लगती है। बडे-बडे भीमाकार शिलाखड और चट्टानें उसके किनारे अस्त-व्यस्त बिखरे हैं, जिनमें पलाश और करौंदोकी घनी झाडिया उगी है। विशद परिखाके अदर हरा-नीला पुरातन जल बारहो महीने भरा रहता है, बडे-बडे कछुए, अजगर, मच्छ और केकडे उसमें तैरते दिखाई पडते है।

इस परिखाके बीच कज्जल और भूरे पाषाणोके आठ विशाल

दिग्गजोकी कुर्सी बनी है, जिसपर 'विजेता' का यह प्रासाद झूल रहा है। नौ खडोंके इस महलमें चारों ओर अगणित द्वार-खिडकिया सदा खुली रहती हैं, जिनमेंसे आर-पार झाकता हुआ आकाश मानो खड-खड होता दिखाई पडता है। अनेक पार्वत्य नदियोके प्रवाहोमें पड़े हुए, निरतर लहरोके-जल-सघातसे चित्रित हरे, नीले, जामुनी और भूरे पाषाणोसे इस महलका निर्माण हुआ है। पहले ही खडमें चारो ओर महलको घेरकर जो मेखला-सी गवाक्ष-माला बनी है, उसके सबलोमे सप्त-धातुकी मोटी-मोटी शृंख-लाए लटक रही है, जो कुर्सीके दिग्गजोके कुम्भस्थलोको बांधे हुए हैं। महलके सर्वोच्च खडपर पच मेरुओंके प्रतीक स्वरूप सोनेके पाच भव्य शिखर हैं, जिनपर केशरिया ध्वजाए उड रही हैं। सामनेकी ओर परिखाको पाटता हुआ जो महलका प्रवेश-द्वार है, उसके दोनो ओर सजीव से लगनवाले सोनेके विशाल सिंह बने है।

पीछेके वन्य-प्रदेशमें दूरपर कुछ पहाडियोंसे घिरी एक प्राकृतिक झील पडी है। गुहाओमें झरती हुई पानीकी झिरिया वनोमें होकर झीलमें आती रहती हैं, जिससे झीलका पानी कभी सूखता नही है। झीलके दोनो ओरके तट-भागोमें सघन अटविया फैली हैं। महलके पूर्वीय वाता-यनपर खडे होकर देखा जा सकता है कि कभी चादनी रातमें या फिर किसी शिशिरकी दोपहरीमे सिंह झीलके किनारे पानी पीने आते हे। वह प्रदेश प्राय. निर्जन-सा है, क्योकि वहीसे विजयार्धकी वे दुर्गम खाइया और विकट अरण्य-वीथिया शुरू हो गई है—जो आस-पासके जन-समाजमे प्राय. अगम्य मानी जाती हैं और जिनके सबधमें लोकमे तरह-तरहकी रहस्य भरी कथाए प्रचलित हैं।

भय और मृत्युकी घाटियोपर आरूढ यह 'जेता'का स्वप्न-दुर्ग है। देव पवनजय यहा अकेले रहते हे—सिर्फ कुछ प्रतिहारियोंके साथ। पुरुष यहा वही अकेला है—दूसरा कोई नही। दिशाए उसकी सहचरिया हैं और सपने उसके साथी।

पौ अभी नही फटी है। प्रतिहारिया दालानमें ऊघ रही हैं। द्वारके सिंहसे सटकर जो पुरुष सीढियोपर बैठा है, वह अखड रात जागता बैठा रहा है। अभी-अभी सवेरेकी ताज़ी हवामें उसकी आख झपक गई है।

अचानक घोडेकी टाप सुनकर वह पुरुष चौका। उसने गर्दन ऊपर उठाकर देखा। घोडेसे उतरकर पवनजय क्षण भर सहम रहे। फिर एक झटकेके साथ वे आगे वढ गये और दुर्निवार वेगसे महलकी सीढिया चढ गये। उसी वेगमे विना मुडे ही कहा—

'ओह, प्रहस्त ! अ आओ "

प्रतिहारिया हडवडाकर उठी और अपने-अपने स्थानपर प्रणिपातमें नत हो गईं। 'देव पवनजयकी जय'का एक कोमल नाद गूज उठा। उस भव्य दीवानखानेमे अनेक स्तभो और तोरणोंको पार करते हुए तीरके वेगसे पवनजय सीधे उस सिहासनपर जा पहुँचे, जो उस सिरेपर बीचो-बीच आसीन था। अमूल्य नागमणियोसे इस सिहासनका निर्माण हुआ है। महानीलमणिके वने नागोके विपुलाकार फणा-मडलने इसपर छत्र ताना है, जिसमे गज-मुक्ताओकी झालरे लटक रही है। सहस्र-नागके फनो और वराहोकी पीठपर यह उठा हुआ है। पैरके पायदानके नीचे चित-कवरे पापाणोके दो विशाल सिह ज़बान निकालकर बैठे है, और किसी तीव्र आग्नेय मणिसे वनी उनकी आखें आतक उत्पन्न करती रहती हैं। सिहासनकी मूल वेदिकाके दोनो ओर जो कटघरे वने हैं, उनमे क्रमसे सूय और चद्रकी अनुकृतिया वनी है।

पीठेकी दीवारमे रत्नोका एक उच्च वातायन है, जिसमें आदि चक्रवर्ती भरतकी एक विशाल सूर्य-कान्त मणिकी प्रतिमा विराजमान है। उसके पाद-प्रान्तमे चक्र-रत्न नाना रगी प्रभाओसे जगमगाता घूम रहा है।

उधर उदयाचलपर 'अजितजय-प्रासाद'के भामडल-सा सूर्य उदय हो रहा है।

छत्रके फणा-मडलपर कुहनी रखकर पवनजय खडे रह गये। सुदृढ प्रलंबमान देह-यष्टिपर कवच और शस्त्रास्त्र चमक रहे है। कुंचित अलकावलि अस्तव्यस्त बिखरी है और उसपर एक कुम्हलाये श्वेत वन्य-फूलोकी माला पड़ी है। ललाटपर बालोकी एक लट दोनो भौहोंके बीच कुडली मारी हुई नागिन-सी झूल रही है, लाख हटानेसे भी वह हटती नही है।

प्रहस्त चुप-चाप पीछे चले आये थे। उन्हें एक हाथके इंगितसे ऊपर बुलाते हुए लापरवाह मुस्कराहटसे पवनजय बोले—

"आओ प्रहस्त, कुशल तो है न....?"

प्रहस्त ऊपर चढकर अपने सदाके आसनपर बैठ गये, धीरेसे बोले—"साधुवाद पवन! कुशल तो अब तुम्हारी कृपाके अधीन है। मेरी ही नही, समस्त आदित्यपुरके राजा और प्रजाकी कुशल तुम्हारे भ्रू-निक्षेप की भिखारिणी बन गई है!"

प्रहस्तने देखा पवनजयके चेहरेपर गहरे सघर्षकी छाया है। वह शून्यसे जूझ रहा है। अपनी ही छायाके पीछे वह भाग रहा है। उसके पैर धरतीपर नही है—वह अधरमें हाथ-पैर मार रहा है। वह चट्टानोसे सिर मारकर आया है। उसका अग-अग चचल और अधीर है। अपने भीतरकी सारी कशमकशको भौहोमें सिकोडकर पवनजयने उत्तर दिया—

"अधीन! अधीन कुछ नही है, प्रहस्त। कोई किसीके अधीन नही है। अपने सुख-दुख, जन्म-मरणके स्वामी हम आप है। मोहसे हमारा ज्ञान-दर्शन आच्छन्न हो गया है, इसीसे हम निज स्वरूपको भूल बैठे है। अपना स्वामित्व खो बैठे है, इसीसे यह अधीनता और दयनीयताका भाव है। किसीकी गति-विधि दूसरेपर निर्भर नही। वस्तु-मात्र अपने ही स्वभावमें परिणमन-शील है, और मेरी तो क्या बिसात स्वय तीर्थंकर और सिद्ध भी उसे नही बदल सकते। "

"ठीक कह रहे हो पवन! वह तो हमारे ही अज्ञानका दोष है। पिछले कुछ दिनोमें तुम जिस गुणस्थानतक पहुच गये हो वहातक हमारी

गति नही। सारे सबधोसे परे तुम तो निश्चय-ज्ञानी हो गये हो। और हम तो साधारण ससारी मानव है, राग-कपाय, मोह-ममता, दया-करुणासे अभिभूत है। तुम सम्यक्-द्रष्टा हो गये हो—और मै मिथ्यात्वोसे प्रेरित लोकाचारकी व्यावहारिक वाणी बोल रहा हू। वह तुम्हारे निकट कैसे सच हो सकती है, पवन ! मेरी धृष्टताके लिए मुझे क्षमा कर देना।"

इस्पातके कवचमे बधा पवनजयका वक्ष अभी भी रह-रहकर फूला आ रहा था। मानो भीतर कुछ घुमड रहा है जो सीना तोडकर बाहर आया चाहता है। आखें उसकी लाल हुई जा रही है—मस्तकमे आकर खून पछाडें खा रहा है। प्रहस्तका साहस नही है कि इस पवनजय से बैठनेको कहे—

"अपनी पहोचके बारेमें मै किसीका मत सुननेको जरा भी उत्सुक नही हू। क्योकि सिद्धि सारे मतामतसे परे है। मै तो पदार्थकी स्वतत्र सत्ताकी बात कह रहा था। पदार्थका स्वभाव मेरी पहोचकी अपेक्षा नही रखता। वस्तुपर मै अपनेको लादना नही चाहता। ममकारसे परे हटाकर ही सत्ताके निसर्ग रूपका दर्शन हो सकता है। कहना चाहता हू, किसीके भी प्रति दायित्ववान होना निरा दभ है, और मै उससे छुट्टी चाहता हू ! स्वय नही बधना चाहता हू, इसीसे किसीको बाधकर भी नही रखना चाहता। विजयार्धकी चोटियोको अपनेमें डुबाकर भी यह आकाश वैसा ही निर्लेप है, और वे चोटिया अपनेको खोकर भी वैसी ही उन्नत है—वैसी ही अम्लान ! यही मेरा निस्सग मुक्ति मार्ग है। कोई इसे क्या समझता है—यह जाननेकी चिंता मुझे जरा भी नही है, यह तुम निश्चय जानो, प्रहस्त !"

"और उस नि स्सग मुक्ति-मार्गपर कितनी दूर अपनी जय-ध्वजा गाडकर अभी लौटे हो, पवन ? शायद 'रत्नकूट-प्रासाद' तक पहुँचनेके लिये तुम्हें कई दुर्लंघ्य पर्वत और समुद्रोको पार करना पडा है !

तुम्हारी यह परेशान सूरत और ये बिखरी अलकें इस बातकी साक्षी दे रही हैं। योद्धाका अभेद्य कवच अपनी जगहपर है, पर माथेपर शिरस्त्राण नहीं है और खड्ग-यष्टिमें खड्ग नहीं है। अजनापर विजय पा लेनेके बाद शायद योद्धा इनकी जरूरतसे उपरत हो गया है।"

एक जोरके लापर्वाह झटकेसे सिरके बालोंको झकझोरकर पवनजय सिंहासनकी पीठके सहारे जा खड़े हुए और दोनों बाहोंको छत्रके फणा-मंडलपर पूरा पसार दिया। भौंहोंके कुचनमें अपनेको सम्हालते हुए दीवान-खानेके द्वारकी ओर उंगली उठाकर बोले—

"उस ओर देखो प्रहस्त! विजयार्द्धके शृगोंपर नवीन सूर्यका उदय हो रहा है। हर नवीन सूर्योदयके साथ मैं नवीन जय-यात्राका सकल्प करता हू। जो मजिल विगत हो चुकी है—उसका अब क्या ज़िक्र और कैसी चिंता? दिनों बीत गये उस कथाको। विदा होनेसे पहले मान-सरोवरके तटपर एक शिला-चिह्न गाड आया था। उस अतीत क्षणकी याद उसे कुछ हो तो हो, चाहो तो जाकर उससे पूछो। पर समयके प्रवाह-में अब तो वह भी उखड गया होगा। सत् पल-पल उठ रहा है—मिट रहा है—और अपने निज रूपमें ध्रुव होते हुए भी वह प्रवहमान है। सत्ता स्वतत्र है और निरतर गति-शील है। विगत, आगत और अनागतसे परे वह चल रही है। प्रगति-मार्गका राही पीछे मुडकर नही देखता। परपरा राग-ममकारके कारण है—और उससे मैं छुट्टी ले चुका हू। जो पल ठीक अभी बीत चुका है, उसका ही मैं नही हू तो कलका क्या ज़िक्र—?"

"मेरी धृष्टताको क्षमा करना पवनजय, एक बातसे सावधान किया चाहता हू। आत्म-स्वातत्र्यके इस आदर्शकी ओटमें कही दुर्बलका हीन अहकार न पल रहा हो? आत्म-रमणके सुन्दर नामके आवरणमें व्यक्तिकी उच्छृखल इच्छाओंका नग्न प्रत्यावर्तन न चल रहा हो? आत्मा और अहका अतर जानना ही सबसे बडा भेद-विज्ञान है। स्व-परके भेद-

विज्ञानमें दभ और स्वार्थको काफी अवसर हो सकता है। आत्मा मात्र स्व है और अनात्मा मात्र पर है। अनात्म शरीरके उपचारसे अन्यकी आत्माको 'पर' कहकर दायित्वसे मुंह मोडना स्वार्थीका पलायन है। वह भीरुता है—वह निर्वीर्यता और असामर्थ्य का चिह्न है। सबमे बडा ममकार अपने 'मैं' को लेकर ही है। सबको त्यागकर जो अपने मैंको प्रस्थापित करने में लगा है, वह वीतरागी नही, वह सबसे बडा भोगी और रागी है। वह ममताका सबसे बडा अपराधी है। अपने 'मैं'को जीत लो, और सारी दुनिया विजित होकर तुम्हारे चरणोमे आ पडेगी। मुक्ति विमुखता नही है, पवन, वह उन्मुखता है। अपने आपमें बद होकर शून्यमें भटक जानेका नाम मुक्ति नही है, समग्र चराचरको अपने भीतर उपलब्ध कर लेना है—या कि उसके साथ तदाकार हो जाना है। इस 'मैं'को मिटा देना है, बहा देना है, अणु-अणुमें रमाकर एक-तान कर देना है—?'

बीच हीमें अधीर होकर पवनजय बोल उठे—

"मुक्तिका मार्ग किसी निश्चित सडकसे नही गया है, प्रहस्त। मेरा मार्ग तुमसे भिन्न हो सकता है। आत्म-साधनाका मार्ग हर व्यक्तिका अपना होता है, मित्रकी सलाह उसमें कुछ बहुत काम नही आती। अपना दर्शन अपने तक ही रहने दो तो अच्छा है। दूसरोपर वह लादना भी एक प्रकारका दुराग्रह ही होगा।"

"तो अपनी एक जिज्ञासाका उत्तर मै योगीश्वर पवनजयसे पाया चाहता हू—फिर यहासे चला जाऊगा। राग-ममकारसे परे सत्ताकी स्वतत्रताकी प्रतीति जिस पवनजयने पा ली है—उसके निकट किसी भी पर वस्तुके ग्रहण और त्यागका प्रश्न ही क्यो उठ सकता है? जिस अजना-का ग्रहण उनके निकट अप्रस्तुत है, उसके त्यागकी घोषणा करनेका मोह उन्हें क्यो हुआ? और जिस मजिलकी समाप्ति वे मानसरोवरके तटपर ही चिह्नित कर आये थे—इतने दिनो बाद परसो फिर आदित्यपुर नगरमें उसे घोषित करनेका आग्रह क्यो?"

पवनंजयके ललाटकी नसें तनी जा रही थी। अनजाने ही वे मुट्ठिया बंध गईं, भौंहे तन गईं। कडककर एकाएक वे बोले—

"पवनजयकी हर भूल उसका सिद्धात नही हो सकती। और व्यक्ति पवनंजयकी हर गलतीके लिये कैफियत देनेको विजेता पवनजय बाध्य नही है। सिद्धात व्यक्तिसे बडी चीज़ है! मैं व्यक्तियोकी चर्चामें नही उलझना चाहता। व्यक्ति-जीवन अवचेतनके अँधेरे स्तरोमे चलता है। और देखो प्रहस्त, एक बात तुम और भी जान लो, जिस अपने सखा पवनजयको तुम चिर दिनसे जानते थे, उसकी मौत मानसरोवर तटपर तुम अपनी आखो आगे देख चुके हो। उसे अब भूल जाओ यही इष्ट है। और भविष्यमें उस पवनजयकी खोजमें तुम आये तो तुम्हें निराश होना पडेगा—"

कहकर दोनो हाथसे अभिवादन किया और बिना प्रत्युत्तरकी राह देखे पवनजय सिंहासनसे नीचे कूद गये। उसी वेगमें सनसनाते हुए दीवानखाना पार किया और आयुधशालाका द्वार खोल नीचे उतर गये!

प्रहस्तकी आखोमें जल भर आया। वह चुप-चाप वहासे उठकर धीरे-धीरे चला आया।

[ १० ]

महादेवी केतुमतीका कक्ष।

पहर रात बीत चुकी है। महारानी पलगपर लेटी है। सिरहाने एक चौकीपर महाराज चिंतामग्न, सिर झुकाये बैठे है। कुहनी शय्यापर टिकी है और हथेलीपर माथा ढुलका है। कभी-कभी रानीकी अथाह व्यथाभरी आखोमें वे अपनेको खो देते है। रानीकी आखे प्रश्न बनकर उठती है—उत्तरमें राजा खामोश आसूसे ढल पडते है। इस बेबूझतामें

वचन निरर्थक हो गया है, बुद्धि गुम है। चारो ओर विपुल वैभवकी जगमगाहट परित्यक्त, म्लान और अवमानित होकर पडी है। रत्न-दीपोका मद आलोक ही उस विशाल कक्षमें फैला है।

एकाएक द्वार खुला। देखा, पवनजय चले आ रहे हैं—अप्रत्याशित और अनायास। महाराजने चौंककर सिर उठाया। महादेवी माथेपर आचल खीचती हुई उठ बैठी। पवनजय बिल्कुल पास चले आये। चुपचाप विनयावनत हो पिताके चरणोंमें नमन किया। फिर माके पैर छुए और पलगके किनारे बैठ गये। कुमारकी वे गर्विणी आखे उठ नही सकी—एक बार भी नही। मूर्तिवत जड वे बैठे रह गये है। हाथकी अगुलिया मुट्ठीमें बध आना चाहती है, पर बध नही पा रही है, वे चचल है और काप रही है। माता और पिता एकटक पुत्रका वह चेहरा देख रहे है, जो उस नम्रतामें भी दृप्त है। भय और विषादकी गहरी छायासे वह मुख अभिभूत है। मोतियोकी हलकी-सी लड उन कुटिल अलकोको बाधनेका विफल प्रयत्न कर रही है। एक गहरा जामुनी उत्तरीय कधेपर पडा है। देह निराभरण है, केवल एक महानील मणिका वलय बाही भुजापर पडा हुआ है।

पिताने बालपनसे ही कुमारको बहुत माना है। अपार मान-सभ्रमके क्रोडमें उन्होने पवनजयको परवरिश किया है। पवनकी इच्छाके ऊपर होकर महाराजकी कोई इच्छा नही रही है। पवनकी हर उमग वे दोनो हाथोसे झेलते थे। और उसकी हर अनहोनी मागको पूरा करनेके लिए सारा राज-परिकर हिल उठता था। राजाको पवनमें देवताकी असाधारणताका आभास होता था, और इसीलिए कुमारका कोई भी कृत्य उनके निकट शिरोधार्य था। उसमें मीन-मेख नही हो सकती थी। पर अजना-सी वधुका त्याग—? महाराजकी बुद्धि सोचनेसे इनकार कर रही थी। उन्हें विश्वास नही हो सकता था कि पवन यह कर सकता है। और यह पवन भी सामने प्रस्तुत है! चाहें तो पूछ सकते है। नही, पर

वह उनका बुलाया नही आया है। पहर रात बीतनेपर अत पुरके महलमें, वह मासे मिलनेको ही शायद चुप-चाप आ गया है।

राजाके मनमें कोई प्रश्न नही उठ रहा है, वे कोई कैफियत नही चाहते। उसकी कल्पना भी उन्हे नही हो सकती है। वस, वे तो इस चेहरेको देखकर व्यथासे भर आये है। इस लाडिले मुखडेको, जिसके पीछे न जाने कौन विषम सघर्ष चल रहा है, अपने अतरमें ढाक लेना चाहते हैं, दुनियाकी नजरोसे हटा लेना चाहते है। पर वे अपनेको अनधिकारी पाने लगे। उन्हें डर हुआ कि वे कही पागलपनमें गलती न कर बैठें। नही, उनका यहा एक क्षण भी ठहरना उचित नही। मा और वेटेके वीच उनका क्या काम ? विना कुछ कहे वे एकाएक उठकर चल दिये—। रानीने रोका नही। पवनजय निश्चेष्ट थे।

माका हृदय किनारे तोड रहा था, पुत्रका वह गभीर, म्लान चेहरा देखकर। वरसोका सोया दूध आज मानो उमडा आ रहा है। पिताके अधिकारकी सीमा हो तो हो, पर जननीके अधिकारसे वडा किसका अधिकार है ? पर वक्षका उमडाव और भुजाओका विह्वल वात्सल्य चपेट-सी खाकर रह जाता है—पुत्रकी दृप्त ललाटपर—दोनो घनी भौहोके बीच उठे उस अर्ध चद्राकार कालागुरुके तिलकपर।

यह कोखका जाया, क्यों पराया हो उठा है ? रानीका हृदय मानों वुझता ही जाता है, डूवता ही जाता है, और फिर विजली-सा प्रज्ज्वलित हो उठ रहा है। वह अपने मातृत्वके अधिकारको हार बैठी है। पर वही तो है यह पवन, आप ही ललककर तो माकी गोदकी शरण आया है। गोद फडक उठती है कि अभी पास खीचकर छातीसे लगा लेगी। कि उसी अविभाज्य क्षणमें हिम्मत टूट गई है—भुजाएं ढीली पड गई हैं। पुत्रके ऊपर होकर पुरुष,—दुर्जय, दुर्निवार, दुरत पुरुपका आतक सामने एक चट्टान-सा आ जाता है।

गहरी नि श्वास छोडकर माताने सारी शक्ति बटोर, भर्राये कठसे पूछा—

"पवन, मासे छुपाग्रोगे ? बोलो मेरे जीकी सौगध है तुम्हें !"

पवनने पहली बार आखे माकी ओर उठा दी। उन आखोमे कुहरा छाया है, वे थमी है अपलक। बयाबानोकी भयावनी शून्यता है उनमे, दुर्गम कातारोकी बीहडता है और पत्थरोकी निर्ममता। बेरोक खुली है वह दृष्टि, पर उसे भेदकर उस बेटेके हृदयतक पहुचना माके बसका नही है।

कुछ क्षण सन्नाटा बना रहा। पवनजयने चित्तके स्वस्थ होनेपर जरा कठका परिष्कार कर कहा—

"अपने बेटेको नही पहचानती हो मा ? अपने ही अतरगमें झाक देखो, अपनी ही कोखसे पूछ देखो—मुझसे क्यो पूछ रही हो ?"

"बेटा, अभागिनी माकी ऐसी कठोर परिक्षा न लो। तुम्हें जन-कर ही यदि उससे अपराध हो गया है तो उसे क्षमा कर दो ! शायद तुम्हारी मा होने योग्य नही थी मैं अभागन, इसीसे तो नही समझ पा रही हू।"

पवनजयकी आखोमें जो रहस्यका कुहरा फैला था, वह मानो धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। और आखोके किनारोपर पानीकी लकीरें चमक रही हैं—जैसे विद्युल्लेखाए वर्षाके आकाशमें स्थिर हो गई हो।

"मा, बेटेको और अपराधी न बनाओ। उसे यो ठेले दे रही हो ? फिर एक बार चूक गया। इस गोदमें शरण खोजने आया था—पर शरण कहा है ? वह झूठ है—वह मरीचिका है। सत्य है केवल अशरण ! नही, इस गोदमें शरण पाने योग्य अब मैं नही रहा हू मा। मुझे क्षमा कर देना, कहनेको मेरे पास कुछ नही है—।"

कहकर पवनजय छतको फटी आखोसे ताकते रह गये। पानीकी वे विद्युल्लेखाए आखोके किनारोपर अचल थमी थी।

"पवन यह क्या हो गया है मुझे ? तुझे पहचान नही पा रही हूँ। मेरी कोख कुठित हो गई है—मेरा अतरग शून्य हो गया है। अपनी माके हृदयपर विश्वास करो, पवन। वहा तुम्हारे मनकी बात अंतिम दिनतक छुपी रहेगी। कहीं भी जाओ—चाहे मौतसे खेलने जाओ, पर मुझसे कहकर जाना; जीत सदा तेरी होगी।"

क्षणैक चुप रहकर माताने फिर सजल आखोसे पवनकी ओर देखा, उसके कधेपर हाथ रख दिया और बोली—

"अपना दुख मासे कहनेमें हार नहीं होगी बेटा, कहो, कहो, कह दो, पवन"

कहते-कहते पवनजयका कधा झकझोड डाला और भरी आये कठमें वाणी डूब गई। एक बार पवनजयके जीमें एक वेग-सा आया कि कह दे, पर फिर दबा गया। ज़रा स्वस्थ होकर बोला—

"इसे प्रबल भोगातरायका उदय ही मानो, मा, मनका रहस्य तो केवली जानते हैं। अपने इस अभागे मनको मैं ही कब ठीक तरह समझ पाया हू ? यह जीवन ही अतरायकी एक दीर्घ रात्रि है, और क्या कहू। और अपने बेटेके वीर्य और पुरुषार्थपर भरोसा कर सको तो यह मान लो कि उसके लिये भोग्य लावण्य इस ससारमें नही जन्मा है और नहीं जन्मेगा। अपनेसे बाहरके किसी पदार्थका यदि उपकार मैं नही कर सकता हू, तो उससे खिलवाड करनेका मुझे क्या हक है। ...अपने उस चरम भोग्यकी खोजमें जाना चाहता हू, मा। आशीर्वाद दो कि उसे पा सकू और तुम्हारे चरणोमे लौट आऊ।"

कहकर पवनजयने माथा माके चरणोमें रख दिया। माकी आखोंसे चौंसठ-धार आंसू बह रहे है। बेटेके माथेपर हाथ रख, उन अलकोको सहलाती हुई बोली—

"त्रिलोकजयी होओ बेटा, पर मुझसे कहते जाओ'।

पवनञयने फिर एक बार पैर छू लिये, पर कहा कुछ नही। मा

उमडती आखोसे आसू पोछती ही रह गई। कुमारने सकेतमे जानेकी आज्ञा मागी, और नि श्वास छोडकर विना एक क्षण ठहरे, निर्मम भावमे चल दिये।

घोडेपर चढकर जब अकेले, अपने महलकी ओर उडे जा रहे थे, तब राहके अधकारमें दो आसू टपककर बुझ गये। बिजलिया पानी हो गई।

[ ११ ]

आषाढका अपराह्न ढल रहा है। विजयार्द्धके सुदूर पूर्व शिखरोपर मेघमालाए झूम रही है। गिरि-वनोमें होकर वादलोके यूथ मतवाले हाथियोसे निकल रहे है। गुलावी विजलिया कुमारी-हृदयकी पहली मधुर पीर-सी रह-रहकर दमक उठती है।

अजना अपनी छतके पश्चिमीय वातायनमें अकेली बैठी है। इन दिनो प्राय वह अकेले ही रहना पसद करती है। इसीसे वसत भी पास नहीं है। ये युवा वादल उडते ही चले जा रहे है—चले ही जा रहे है। कहा जाकर रुकेंगे—कुछ ठीक नही है। इसी तरह जीवनके ये दिन मास, वर्ष वीतते चले जा रहे है—विराम कहा है—कौन जानता है ?

उन्ही वादलोके आवरणमें जीवनके बीते वर्षोंकी सारी स्मृतिया स्वप्न-चित्रो-सी सजल होती गई। कहा है महेद्रपुरके वे राज-प्रासाद ? कहा है माता-पिताकी वह वात्सल्यमयी गोदी ? अजनाकी एक-एक उमगपर स्वर्गोका ऐश्वर्य निछावर होता था। सुर-कन्याओ-सी सौ-सौ सखिया उसके एक-एक पद-निक्षेपपर हथेलिया विछाती। और वे वाला-पनके मुक्त आमोद-प्रमोद और क्रीडाए! दति-पर्वतकी तलहटीवाले 'ऐंद्रिला' उद्यानमे वे वादल-वेलाए, वह कोयलकी टेरोके पीछे दौडना, वह वादलोमें प्रीतमका रथ खोजनेकी सखियोमे होडें, वह वापिकाओके पालित हसोके पखोपर वाहन, वे वर्षा, वसत और शरदोत्सवके विस्तृत

आयोजन, वह वसंतकी सध्याओमें दति-पर्वतके किसी शिखरपर अकेले बैठकर मुक्त हवाओके बीच वीणा-वादन, वह 'मादन-सरोवर'के प्राकृतिक मर्मर-घाटोमें स्नान-केलिके आनद ! . सपनोका एक जुलूस-सा आखोमे तैरता निकल गया । दूर—कितनी दूर चला गया है वह सब, लगता है, विस्मृतिके गर्भमें सोये जाने किन विगत भवातरोकी कथाए है वे । प्रमादके रिक्त क्षणकी एक छलना भर है वह । उससे अब कही उसका कोई सबध नही है । पर उस सारे अपनत्वको त्यागकर, जिसके पीछे-पीछे वह इस परिचित अनात्मीय देशमे चली आई है—वह कौन है, और वह कहा है ? वह उसे ठीक-ठीक पहचानती भी नही है, पर सुना है उस प्रीतमने उसे त्याग दिया है । लेकिन इस क्षणतक भी इस बातकी प्रतीति उसे नही हो रही है । भीतरकी राह वह आ रहा है और अतरके वातायनपर उसकी आती हुई छवि कभी ओझल नही हुई है ।

कि एकाएक अजनाकी दृष्टि अपनी देहपर पड गई । वे सुगोल चपक भुजाए परसके रससे ऊर्मिल है । उस वक्षके उभारमें वे आकाशकी गुलाबी विजलिया बदिनी होकर कसक उठी है । घिरते बादलोकी श्यामतामें एक विशाल पुरुषाकृतिके आविर्भावने चारो ओरसे उसे छा लिया है । अग-अग रभसकी एक विकल उत्कठामें टूट रहा है ।

और न जाने कब कौन उसे हाथ पकडकर कक्षमे ले गया । वह उन मर्मरके हसोकी ग्रीवासे गाल सहलाती हुई मुग्ध और बेसुध हो रही है । बिल्लौरी सिहासनके कासके उपधानोको वक्षमे दाबकर कस-कस लेती है । कक्षकी दीवारो, खभो, खिडकियोके पर्दोसे अगोको हलके-हलके छुहला-सहलाकर वह सिहर उठती है । और जाने कब वह उस पर्यंककी शय्यापर जा लेटी, जिसे उसने आजतक छूआ नही था । वक्षको दाबकर वह औधी लेट जाती है । समूचे विश्वका देह-पिंड एक बारगी ही मानो अपने पूर्ण आकर्षणसे उसे अपने भीतर खीचता है । एक प्रगाढ़ आलिगनकी मोह-मूर्च्छामें वह डूब गई है । और वल्लभकी भुजाओके आलोडनका अत नही

है। कि देखते-देखते स्पर्शका वह अतल सुख विछोहकी अशेष वेदनामें परिणत हो गया। वक्षकी मासल काराको तोडनेके लिये प्राण छटपटा उठे। उसकी शिरा-शिरा, रक्तका विंदु-विंदु, विद्रोही चेतनकी इस चिनगीसे अगार हो उठा और देखते-देखते देहकी सपूर्ण मासलता मानो एक पार-दर्शी अग्नि-पिंडमें बदल गई। पर वह जो खीच रहा है—सो खीचता ही जा रहा है। उसमें पर्यवसित होकर वह शात और निस्तरग हो जाना चाहती है।

निरतर वह रहे आसुओके गीलेपनसे उसे एकाएक चेत आया। वक्षके नीचे कोमल शय्याका अनुभव किया। पाया कि वह कक्षमें है—वह उस विलासके पर्यंकपर है। कौन लाया है उसे यहा ? ओह, वचक माया ! वह अपने ही आपसे भयभीत हो उठी। वह उठकर भागी और फिर उसी वातायनपर जाकर बैठ गई।

कि लो, वे पर्वत-पाटिया उन घटाओमें डूब गई है। वन-कानन खो गये है। अजनाने पाया कि वह पृथ्वीके छोरपर अकेली खडी है, और चारो ओर मेघोका अपार सिंधु उमड रहा है। उस महा जल-विस्तारमें श्वेत पछियोकी एक पात उडी जा रही है। अजनाकी आखें जहातक जा सकी—उन पछियोके पीछे वे उडती ही चली गईं। और देखते-देखते वे दृष्टि-पथसे ओझल हो गये। आखोमें केवल शून्यके बबूले उठ-उठकर तैर रहे है। उस अतलात शून्य सजलतामें वह डूबती ही गई है कि उन पछियोको पकड लाये। अपनी बाहोपर बिठाकर वह उनसे देश-देशकी बात पूछेगी, जन्मातरोकी वार्ता जानेगी। अरे वे तो मुक्तिके देव-दूत है—इसीसे तो इस दुर्निवार बादल-वेलामें वे ऐसे हलके पखोसे उडे जा रहे है।

अजना अपने भीतर जितनी ही गहरी डूब रही है, बाहर वह उतनी ही अधिक फैल रही है। वह विजयार्द्धकी बादल-भरी उपत्यकाओमें खेलने चली आई है। वह उसके रत्नमय कूटोकी वेदियोमें

बैठकर गान गा रही है। वह एक शृंगसे दूसरे शृंगपर छलाग भरती चल रही है। अनुल्लंघ्य झरनोंको वह चुटकी बजाते लाघ जाती है। अगम्य खाइयों, खंदकों और घाटियोंको वह लीला मात्रमें पार कर रही है। वह विजयार्द्धकी मेखलामे अबाध परिक्रमा देती चल रही है। चित्र-व्याघ्र, सिंह, भालू और अष्टापद आकर उसके पैर चाटने लगते हैं—अपनी सुनहरी-रुपहरी अयालोंसे उसके अग सहलाते है। अनेक जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, उस देहसे लिपटकर—उसका दुलार पा चले जाते है। पलक डालने और उठानेमें कितनी ही विद्याधरोंकी नगरिया दृष्टि-पथमें आती हैं और निकल जाती हैं। और रह-रहकर वे पक्षी उसे याद आते हैं। उसकी आकुलता अतहीन हो जाती है। और वह अपनी यात्रामें आगे बढती ही जाती है। कितने पर्वत, पृथ्वियो, सागरो और आकाशोंको पार कर वे पक्षी जाने किस दिशाके नील नीडमें जाकर छुप गये हैं ?

. . मुक्त केश-राशि कपोलोंपर छाती हुई वक्षपर लोट रही है। अजनाका माथा वातायनके खभेपर ढुलका है। मुदी आखें बाहरकी उस बादल-राशिकी ओर उन्मुख हैं। ओठोंपर एक मुग्ध स्मित ठहरी है। एक हाथ रेलिंगपरसे ऊपरको अजुली-सा उठा है—और दूसरा हाथ सहज वक्षपर थमा है।

"अजन . . !"

अजनाने चौंककर आखे खोली, और स्वप्नाविष्ट-सी वह सामने वसनको देख उठी। एक अलौकिक मुस्कराहट उसके ओठोंपर फैल गई—जिसमे गहरी अतर्वेदनाकी छाया थी।

" अ . हा, कबसे बैठी हो जीजी, ज़रा आख लग गई थी, पर जगा क्यों नही लिया ?"

कहते-कहते वह शर्मा आई और उसने एक गहरी अँगडाई भरी। उन तद्रिल आखोमे उडते पछियोंके पखोंका आभास था।

अजनाकी दृष्टि अपने कक्षकी ओर उठी । शिलाओं और रत्नोंकी ये दीवारें, यह ऐश्वर्यका इंद्र-जाल, यह वैभवकी सकुलता, उनकी यह मोह-कता, यह सुखोष्मा, यह निविडता ! अगह्य हो उठा है यह सब । जीवनका प्रवाह इस गह्वरमें बदी होकर नही रह सकता । और वह उफनाती हुई शून्य शय्या, जिसपर अनत अभाव लोट रहा है । . प्राणकी अनिवार पीडासे वक्ष अपनी सपूर्ण मांसल मृदुलता और माधुर्यमें टूट रहा है, टूक-टूक हुआ जा रहा है । एक इद्रियातीत सवेदन बनकर सपूर्ण आत्मा मानो दिगतके छोरोतक फैल गया है ।

कही उद्यानकी वृक्ष-घटाओंके पारसे मयूरोंकी पुकार सुनाई पडी । बादल गुरु मद्र स्वरमें रह-रहकर गरज रहे हैं । घनीभूत जलाधकारमें रह-रहकर बिजली कौंध उठती है ।

"जीजी, यह मयूरोंकी पुकार कहासे आ रही है ? देखो न, ये हमें बुला रहे हैं । अपने वहा चल नही सकतीं हैं, जीजी ? चलेंगी, जरूर चलेंगी । तुम भी मेरे साथ आओगी न ? दूर, बहुत दूर, महल और राजो-द्यानके पार—विजयार्द्धकी उपत्यकामें ! मुझे अभी-अभी सपना आया है जीजी, वे वही मुझे मिलेंगे, घन काननकी पर्ण-शय्यापर !—इन कक्षमें नही, इस पद्म-राग-मणिके पलगपर नही !"

वसत खिलखिलाकर हस पडी और बोली—"अजन, देखती हू अभी भी तेरा बचपन गया नही है । जब बहुत छोटी थी तब भी ऐसी ही बातें किया करती थी । जो भी उम्रमें तुझसे एक ही दो बरस बडी हू, फिर भी तेरी ऐसी अद्‌भुत बातें सुनकर मुझे हसी आ जाती है । बीचमे तू गभीर और समझदार हो गई थी । पर कई बरस बाद तुझे फिर यह विचित्र पागलपन सूझने लगा है ।"

"तो जीजी बताओ न ये मोरोकी पुकारें कहासे आ रही है ?"

"पुडरीक सरोवरके पश्चिमी किनारेपर जबू वनमे खूब मोर हैं । घटाओंको देखकर वही वे शोर मचा रहे हैं ।"

"तो जीजी, मुझे ले चलो न उस जबूवनमे। मेरा जी अब यहा
बहुत ऊब गया है। चलो न, उस जबू-वनतक जरा घूम ही आयें।"
अजनाकी इस अनुनयमें बडी ही अवशता है। इस प्रस्तावको सुनकर
वसतके सुख और आश्चर्यकी सीमा नही थी। कई दिनोसे अपने आपमे
बद और मूक अजना सरल बालिका-सी खुल-खिल पडी है। विषादका
वह घनीभूत कोहरा मानो फट गया है। अजना निर्मल जलधारा-सी
तरल और चचल हो उठी है। वसतने प्रस्तावको सहर्ष स्वीकार कर
लिया। चलते-चलते कुछ सखियो और दासियोको और भी साथ ले लिया।
अबतक अजना केवल प्रात-साय सुमेरु चैत्यमें देव-दर्शनके लिये जाती
और लौट आती थी। आज पहली ही बार उसने राजोद्यानकी सीमाको
पार किया।

वानीर, वेतस और जामुनोकी सघन वनानीमे होकर एक नल्ला
बहता था, जो पुडरीक सरोवरमे दूरकी पार्वत्य नदियोका जल लाता था।
इसके किनारे झूम रहे दीर्घकाय वानीर-वनोकी छायामे नल्लेका जल
सदा पन्नेसा हरा रहता। दोनो किनारोके मिलनातुर वृक्षोके बीच
आकाशका पथ आँख-मिचौनी खेलता। उसमे तैरते प्रवासी बादल
नल्लेके हरित-श्याम जलमें छाया डालते।

जबू-वनकी सकुल घटाओमें बादलोकी अँधेरी स्तब्ध खडी है। मयूर
और मयूरियोके झुड चारो ओर बिखरे है। उनमेसे कुछ किनारेके हरि-
याले प्रकाशमें पख फैलाकर नाच रहे हैं। और एकाएक वे शीतल स्वरोमें
पुकार उठते हैं। वनकी अँधेरी गूज उठती है। फिर बादल घुमड
उठते है।

मानवोका पद-सचार और आवाज़ सुनकर वे झुड थोडे चौकन्ने
हो गये। तितर-बितर होकर वे चारो ओर भागने लगे। अजना बालिका-
सी उनसे खेलनेको मचल पडी। वह उन्हें भयभीत नही करना चाहती—
पर उसका प्यार जो आज उन्मुक्त हो गया है।

किनारेकी एक खजूर नल्लेके जलपर झुक आई थी। उसपर खडा एक मयूर पख फैलाये, अपनी सपूर्ण शोभाकी नीलाभा खोलकर नाच रहा है। अजना उस खजूरके तनेपर जा पहुची। उन पैरोकी अछूती कोमलतामें वे खजूरके काटे गड नही रहे हैं। सब कुछ उस मार्दवमें मानो समाया ही जा रहा है।

एक हाथसे, पास ही झुके हुए एक वृक्षकी डाल पकडकर अजना बैठ गई और दूसरी बाह उसने उस नाचते मयूरकी ओर फैला दी। वह डरा नही—वह सहमा नही। फिर एक बार एक अपूर्व निगूढ उल्लाससे नवीनतम भगिमामें नाच उठा। और नाचते-नाचते वह अजनाकी बाहपर उतर आया। उन पखोमें मुह छुपाकर अजनाने आखें मूद ली, मयूरोके झुड फिर विह्वलतासे पुकार उठे। वसतकी आखोमें सुखके आसू आ जाना चाहते हैं। सभी सखिया आनद, क्रीडा और हास्यमें मग्न हो गई। मयूरोके पीछे वे दौडती हैं—पर वे हाथ नही आते हैं।

अजना तनेपरसे उस मयूरको अपने बाहुमें भरकर नीचे उतार लाई। सखियोके आश्चर्य कौतुहलकी सीमा नही है। अजना शिलापर आ बैठी है। वह मयूर उसके वक्षपर आश्वस्त है। आस-पास सखिया पैर फैलाये बैठी हैं। मयूर-मयूरियोका झुड चारो ओर, प्रफुल्ल नील कमलोके वन-सा, पूर्ण उल्लसित और चचल होकर नाच उठा।

अजनाके जीमें आया, उसने क्यो इस मयूरको बदी बना रखा है ? ओह, यह उसका मोह है। उसने उसका आनद छीन लिया है ! अजनाने तुरत उस मयूरको छोड दिया। पर वह उडा नही—अपना नीला मसृण कठ अजनाके गलेके चारो ओर डालकर उस वक्षपर चचु गडा दी। जाने कितनी देर उस ग्रीवालिंगनमें वह पक्षी विस्मृत, विभोर हो रहा। चारो ओर सखिया ताली बजा-बजाकर बादल रागके गीत गाने लगी। केकाओकी पुकारें फिर पागल हो उठी।

कि एकाएक अजनाकी गोदसे वह मयूर उतरकर नीचे आ गया

और अपने संगियोंके बीच अनोखे उन्मादमे नाचने लगा। उसके आनद-लास्यको देख दूसरे मयूर-मयूरी भी अजनाकी ओर दौड पडे। सखिया उन्हें पकडना चाहती हैं पर वे हाथ नही आते हैं। अजना उन्हें पकडना नही चाहती—पर वे उसके शरीरपर चढनेमें जरा नही हिचक रहे हैं। उसके आस-पास घिरकर अपनी ग्रीवाने उसकी जघाओ, उसकी भुजाओ, उसके वक्षसे दुलार करते हैं—और फिर नीचे फुदककर नाचने लगते हैं।

कि इतनेहीमे पुर्वैया हवा प्रबल वेगसे बहने लगी। स्तब्ध वनाली हिल उठी। झाड झाय-झाय, साय-साय करने लगे। और थोडी ही देरमें वृष्टि-धाराओंसे सारा वन-प्रदेश मर्मरा उठा। मयूरोकी पुकारें पागल हो उठीं—वे चारो ओर फैलकर मुक्त लास्यमें प्रमत्त हो गये। देखते-देखते मूसल-धार वर्षा आरंभ हो गई। हवायें तूफानके वेगसे सनसनाने लगी। झाडोकी डालिया चू-चडट बोलने लगी, मानो अभी-अभी टूट पडेगी। वेणु-वनकी बासुरीमें सू-सू करता हुआ मेघ-मल्लारका स्वर बजने लगा। बादल उद्दाम, तुमुल घोषकर गरज रहे हैं,—बिजलिया कडकडाकर दूरकी उपत्यकाओमें टूट रही हैं। एक अग्नि-लेखा-सी चमककर वनके अधेरेको और भी भयावना कर जाती है।

बसत-मालाके होश गुम हो गये। आज उससे यह क्या भूल हो बैठी है। ऐसे दुर्दिनमें वह अजनाको कहा ले आई है? महादेवीको पता लगा तो निश्चय ही अनर्थ घट जायगा। अजना अब महेंद्रपुरकी निरकुश राज-कन्या नही है, वह अब आदित्यपुरकी युवराज्ञी है। और तिसपर त्यक्ता और पद-च्युता है। उसके लिये ये मुक्त क्रीडा-विहार? और वह भी इस भयानक निर्बंध ऋतुमे? राजोपवनकी सीमाके बाहर? क्षण मात्रमें ही ये सारी बाते बसतके दिमागमें दौड गईं।

और अजना? वह शिलापर दोनो ओर हाथ टिकाकर और भी खुलकर बैठी है। वह निर्द्वंद है और निरुद्वेग है। इस भयानकताके प्रति वह पूर्ण रूपसे खुली है। आत्माका चिर दिनका रुद्ध वज्र-द्वार

मानो खुल गया है। ये झझाएँ, ये वृष्टि-धाराएँ, यह मेघोका विप्लवी घोष, ये तडपती विजलिया, सभी उस द्वारमेंसे चले जा रहे है। इस महामरणकी छायामे हृदयका पद्म अपने सपूर्ण प्रेमको मुक्तकर खिल उठा है। प्रलयकी वहियापर मानो कोई हँसता हुआ वन-कुसुम वहा जा रहा है। पानीकी वौछारो और हवाओकी चपेटोमें वह सुकुमार देह-लता सिकुडना नही चाहती। वह तो पुलकित होकर गुल-खिल पडती है। वह तो सिहरकर अपनेको और भी विखेर देती है। आखें प्रगाढतासे मुंदी है—और ऊपर मुख उठाये वह मुस्करा रही है—मौन, मुग्ध, महानदसे विकल, आवेदनकी मुक्त वाणी-सी।

और साथकी सभी अन्य वालाए भयसे थर्रा उठी है। ऋतुके आघातोमें वे अपनेको सम्हाल नही पा रही है। और फिर युवराज्ञीकी चिंता सर्वोपरि हो उठी है। अजनाको पता नही कब वे सब आकर उसके आस-पास लिपट-चिपटकर वैठ गई है। भय-चिता और उद्वेगसे वे काप रही है। उन्होने चारो ओरसे अपने शरीरोसे ढापकर अजनाकी रक्षा करनी चाही।

अजना उस अवरोधको अनुभव कर घवडा उठी। माथेपर छाई हुई वसतकी भुजाओको और चारो ओर घिर आई सखियोके शरीरोको झकझोर कर वह उठ वैठी—

"अरे यह क्या कर रही हो? ओ वसत जीजी! ओह, समझ गई, चारो ओरसे ढापकर इस ऋतु-प्रकोपसे तुम मेरी रक्षा करना चाहती हो? पर आज तो वर्षाका उत्सव है—भीगनेका दिन-मान है, आज क्यो कोई अपनेको बचाये? देखो न, ये मयूर लास्यके आनदमे अचेत हो गये है। इस वर्षाके अविराम छद-नृत्यसे भिन्न इनकी गति नही। चारो ओर एक विराट आनदका नृत्य चल रहा है। मेघोके मृदगोपर विजलिया ताल दे रही है। ये झाडिया हवाके तारोपर अश्रात थिरक रही है। ये झाड झूम-झाम रहे है—लताए, तृण-गुल्म, सभी तो नाच-नाचकर लोट-पोट

हो रहे हैं—सभी भीग रहे है रसकी इस धारामे। कोई अपनेको वचाना नही चाहता। आओ, इनसे मिले-जुले, प्यारका यह दुर्लभ क्षण फिर कब आनेवाला है ?"

अजनाने दोनो हाथोसे अपने केश-भारको उछाल दिया। वालिका-सी दुरत और चपल होकर वह चारो ओर नाच उठी। सखिया उसके पीछे दौड-दौडकर उसे पकडना चाहती है—पर वह हाथ कब आनेवाली है। शरीरपर वस्त्रकी मर्यादा नही रही है, और वनके तनोमे वह वेतहाशा आख-मिचौनी खेल रही है। वसतके प्राण सूख रहे है—पर वह क्या करे—यह अजना उसके वसकी नही है। जो भी वह जानती है, यह राजोपवनका ही सीमात है और यहा कोई आ नही सकता है। फिर भी समय-सूचकता आवश्यक है। अजनाके स्वभावमे यह लीला-प्रियता नई नही है। पर वहुत दिनोसे गभीर हो गई अजना, तिरस्कृता, परित्यक्ता अजनाको आज यह क्या हो गया है ?

और वह भागती हुई अजना झाडके तनोसे लिपट जाती है—उन्हे वाहुओमें कस-कस लेती है। झाडकी कठोर छालसे गालोको सटाकर हौले-हौले रभस करती है। डालोपर झूम जाती है—और झूमते हुए तरु-पल्लवोको पलकोसे दुलराती है। वन-वल्लियो, तृणो और गुल्मोके भीतर घुसकर धप्से उनमे लेट जाती है—गालोसे, भुजाओसे, कठसे, लिलारसे, उन वनस्पतियोको छुहलाती है—सहलाती है, चूमती है पुच-कारती है—वक्षमें भर-भरकर उन्हे अपने परिरभणमें लीन कर लेना चाहती है। विराट स्पर्शके उस सुखमे वह विस्मृत, विभोर होकर चारो ओर लोट रही है। और जाने कवतक यह लीला चलती रही—

× × × ×

साझ हो रही है। वर्षासे धुले उजले आकाशमे अगूरी और दूधिया वादलोके चित्र वने है। अजनाने कक्षमें इप्टदेवके विम्वके सम्मुख घीका

प्रदीप जला दिया। धूपायनमें थोडा धूप छोड दिया। वसतके साथ जानुओपर बैठकर उसने विनीत स्वरमें अरहत्का स्तवन किया। अतमें वदनमें प्रणत हो गई और बोली—

"हे निष्प्रयोजन सखे! हे अशरण आत्माके एकमेव आत्मीय! तुम चराचरके प्राणकी बात जानते हो, अणु-अणुके सवेदन तुम्हारे भीतर तरगायित हैं। बोलो, तुम्ही बताओ, क्या मुझसे यह अपराध हुआ है? किस भवका यह अतराय है और किस जन्ममें किसको मैंने दारुण विरह दिया है—इसकी कथा तो तुम जानो। मैं अज्ञानिनी तो केवल इतना ही जानती हू, कि मेरा प्रेम ही इतना क्षुद्र था कि वह 'उन'तक पहुच ही न सका, वह उन्हें बाधकर न ला सका, इसमें उनका और किसीका क्या दोष है?

"पर अपने इस चराचरके नि सीम साम्राज्यमें भी क्या मेरे इस क्षुद्र प्रेमको मुक्ति नही दोगे, प्रभु? देखो न, ये छोटी-छोटी वनस्पतिया, तृण-गुल्म, पशु-पक्षी, कीट-पतग, जड-जगम सभी अपना प्रेम देनेको मुक्त हैं। फिर मैं ही क्यो आत्म-घात करू, तुम्ही कहो न? मनुष्यकी देहमे नारीकी योनि पाकर जन्मी हू, कोमल हू, अवलविता हू और देना ही जानती हू, क्या यही अपराध हो गया है मेरा? क्या पुरुष नारीके अस्तित्वकी शर्त है?—और उससे परे होकर क्या उसका कोई स्वतत्र आत्म-परिणमन नही? यही धृष्ट जिज्ञासा बार-बार मन-प्राणको बीध रही है। अतर्यामिन्, मुझ अज्ञानिनी बालाके इस पागल मनका समाधान कर दो!"

अजनाकी अधमुदी आखोमेंसे आसू चू रहे हैं। वसत स्तब्ध है, अजनाके साथ वैसी ही एकात्म्य होकर, साश्रु-नयन प्रार्थनामे अवनत है। तब आह्लादित होकर अचानक अजना बोल उठी—

"उत्तर मिल गया जीजी! आखें खोलो प्रभुने मुस्करा दिया है!"

वसतने देखा—दीपकके मद आलोकमें प्रभुके मुखपर वही त्रिलोक-मोहिनी मुस्कान खिली है—मानो जीवनका उन्मुक्त प्रवाह आखोके आगे बह रहा है, निर्मल और अवाधित। उसमे बहनेको सभी स्वतत्र है—वहा मर्यादाए नही है, शर्ते नही है, अतराय नही है, योनि-भेद नही है, विधि-निषेध नही है,—है केवल आत्माके अकलुप प्रेमकी स्रोतस्विनी !

[ १२ ]

आधी-वर्षाकी रुद्र, प्रलयकरी रातोमें पवनजय भयभीत हो उठते ! बाहरके सारे भयोपर वे पैर टेककर चले है, पर यह आत्म-भीति सर्वथा अजेय हो पडी है। इन बिजलियोकी प्रत्यचाओपर चढकर जो तीर इन तूफानकी रातोको चीरते हुए आ रहे है, उनके सम्मुख कुमारका सारा ज्ञान-दर्शन, शौर्य, वीर्य और उनकी आयुध-शालाके सारे शस्त्र कुठित हो गये है। सूक्ष्म, अमोघ और अतर्गामी है ये तीर, जो मर्ममे जाकर बिधते ही जाते है।

उनका प्रेत ही छायाकी तरह उनके पीछे-पीछे दौड़ रहा है। उनके रोम-रोम एक निदारुण भयसे आकुल है। अपने ही सामने होनेका साहस उनमे नही है। वे अपनेसे ही विमुख और विरक्त हो गये है, पर अपनेसे भागकर वे जाये तो कहा जायें ?

कई अखड दिनो और रातो घोडेकी पीठपर चलकर वे योजनो पृथ्वी रौंद आये है। ऐसे महा-विजनोकी वे खाक छान आये है, जहा मानव-पुत्र शायद ही कभी गया हो। अलघ्यको उन्होने लाघा है, और दुर्निवारको हठ पूर्वक पार किया है। घोडा जब तीरके वेगसे हवामें छलाग भरता, तो उड़ानके नशेमें उनकी आखे मुद जाती। उन्हें लगता कि उनका घोडा आकाशकी नीलिमाको चीरता हुआ चल रहा है। पर आखे खुलते ही

पाया है कि वे धरतीपर ही हैं ! इसी तरह पराभवमे कातर और म्लान वे सदा अपने महलको लौट आये हैं ।

इस महावकाशमें वे कही भी अपने लिये स्थान नही खोज सके हैं । माना कि वे चिरतन गतिके विश्वासी हैं, और ठहरना वे नही चाहते, स्थितिपर उन्हें विश्वास नही है । पर वर्षाकी इन दुर्दाम रात्रियोमे क्यो वे इतने अरक्षित और अशरण हो पडते है ? ऐसे समय अवस्थिति और प्रश्रयकी पुकार ही क्या उनमे तीव्रतम नही होती है ? वे अपनेको पाना चाहते है । पर अपने ही आपसे छलकर, वे अपनेसे ही आख-मिचौनी जो खेल रहे हैं । अपनी ही पकडाईमें वे नही आया चाहते । अपनी दिन-दिन गहरी होती आत्म-व्यथाको वे अनदेखी कर रहे हैं । फिर अपनेको पायें तो कैसे पाये ?

समय-असमय, जव-जव भी ऐसी वेचैनी हो जाती है, वे महलके नवो खडोके एक-एक कक्षमे घूम जाते हैं । वहाके चुंधिया देनेवाले चित्र-विचित्र सिंगारो, परिग्रहो और वस्तु-पुजोकी मायाविनी विविधतामे वे अपनेको उलझाये रखना चाहते हैं । पर चित्तका उद्वेग वढता ही जाता है । दूरसे एक मरीचिका पूर्ण आवेगसे खीचती है । पास जाते ही वह सव फीका पड जाता है—नीरस, निस्पद, अगतिशील, जड !

नौवें खडके कक्षोमे अनेक लोको, पृथ्वियो, समुद्रो और पर्वतोकी रचनायें हैं । वे मान-चित्रोकी परिमाण-सूचकताके साथ तैयार की गई हैं । उन्हें देखकर फिर वे एक नवीन ताजगी, उत्साह और उत्कठासे भर आते हैं । वे अपनी महा-यात्राकी योजनाए वनानेमे सलग्न हो जाते हैं । वर्षोके प्रसारमें वह योजना वढती जाती है, योजनोकी सख्या गुप्त होने लगती है । उनका नक्शा वनते-वनते उलझ जाता है, रेखाओके जाल सकुल हो उठते हैं । यात्राका पथ अवरुद्ध हो जाता है । विफलताके शून्य काले धव्वो-से उनकी आखोमें तैरने लगते हैं । वे नक्शो-

को फाडकर फेंक देते है, जितने वारीक टुकडे वे कर सके, करते ही जाते है—और फिर उन्हे दृष्टिसे परे कर देना चाहते हैं ।

फिर एक नया आवेग नस-नसमें लहरा जाता है। तब वे महलके गर्भ-देशमे वनी अपनी आयुध-शालामें जा पहुचते हैं। तावेके विशाल नीराजनमें एक ऊची जोतका दीप वहा अखड जलता रहता है। कुमार पहुचकर अलग-अलग आलयोके सभी दीपोको सजो देते है। शस्त्रास्त्रोकी चमकसे आयुध-शाला जग-मगा उठती है। परपरासे चली आई आदित्यपुरकी अलभ्य और महामूल्य आयुध-सपत्ति यहा सचित है। फिर कुमारने भी उसे वढानेमें वहुत प्रयत्न और धन खर्च किया है। अचिंत्य और अकल्पित शस्त्रास्त्र यहा सग्रहीत है। आयुधोके फल दर्पणो-से चमकते हैं, उनमें अपने सौ-सौ प्रतिविंव एक साथ देखकर कुमार रोष और विरक्तिसे तिक्त और क्षुब्ध हो उठते हैं। वहा शस्त्रोको धार देनेके लिये वड़ी-वडी शिलाए और चक्र पडे हुए हे। अपने अनजानमे ही अपने ठीक सामनेके शस्त्रकी चमकको वुझा देनेके लिये, वे उसे सानपर चढा देते हैं। उसमेंसे चिनगारिया फूट निकलती हैं। कुमारके भीतरकी अग्नि दहक उठती है—वह नगी होकर सामने आया चाहती है। शिलाए कसक उठती है—देखते-देखते वे हिलने लगती है, जैसे भूकपके हिलोरे आ रहे हो। सानके सारे चक्र कुमारकी आखोमें एक साथ पूर्ण वेगसे घूमने लगते हैं—उन सवमे चिनगारिया फूटने लगती है। वे सानपरसे शस्त्रको हटा लेते है। उसकी चमक और भी पार-दर्शी हो उठती है। उसमें कुमारके प्रतिविंव कई गुने हो उठते है। वे झल्लाकर शस्त्र फेक देते है। सारी आयुध-शाला झन-झना उठती है। ऊपर प्रतिहारियोके प्राण सूख जाते हैं। आयुध-शालाके शस्त्रागारोपर लगी सिंदूर विकराल, रुद्र हास्यसे मूक अट्टहास कर उठती है!

कुमार झपटकर शखोके आलयकी ओर चले जाते है। अद्-भुत हैं वे शख! भिन्न-भिन्न दिशाओंके स्वामियोको ललकारने और

चुनौती देनेकी भिन्न-भिन्न शक्तियां उनमे अभिनिहित है। वे अभी-अभी शख फूक देनेको आतुर हो पडे है। वे एक शख उठा लेते है। पर वे किस दिशाके स्वामीको जगाये ? उन्हे कुछ भान नही हो रहा है, कुछ सूझ नही पड रहा है। उन्होने अपने हाथके शखको गौरसे देखा—उस-पर एक ध्वजामें मकरकी आकृति चिह्नित है। ओह,—मकर-ध्वज। कुमारने फूक देना चाहा वह शख पूरे जोरसे। पर सास मानो रुद्ध हो गया है या कि शख ही मूक हो गया है ? कुमारके अग-अगमे बिजली-सी तड-तडा उठी। उन्होने दूरके एक खभेको लक्ष्य कर वह शख जोरसे दे मारा। पर वह खभेपर न लगकर कामेके एक विशाल घटेपर जा लगा। अप्रत्याशित ही घटेका गुरु-घोष पृथ्वी-गर्भमे गूजकर लहराने लगा।

बहुत दिनोकी प्रपीडित और छट-पटाई हुई कषाय प्रमत्त हो उठी। अहकी मोहिनी नगी तलवारोसी चमचमा उठी। जाने कब कुमारने पानी-सा लहरीला एक खड्ग उतारकर शून्यमें वार करना शुरू कर दिया। सू सू करती—तलवारकी विकलता पृथ्वीकी ठडी और निबिड गधमें उत्तेजित होती गई। शरीरकी स्नायुए मस्तिष्कके केंद्रसे जैसे च्युत हो गई है। तलवार खभोके पत्थरोसे टकराकर उस अकाट्यतासे कुठित हो, और भी कटु, और भी विपाक्त हो जाती है। वह नही मानेगी जबतक वह उस निरतर कसक रहे, दिन-रात पीडित करनेवाले मर्मको चीर नही देगी। वह तलवार प्रबलतर वेगसे बेकाबू सन-सनाने लगी। शून्यमें कही भी घाव नही हो सका है—मात्र यह निर्जीव खभेके पत्थरोका अवरोध टकरा जाता है—ठन्न ठन्न।

और खच्चसे वह आ लगी बाए पैरकी पिडलीपर। कोई मासल कोमलता बिंध गई है। कुमारके चेहरेपर एक प्रसन्नता दौड गई। और अगले ही क्षण पसीनेमे, तर-ब-तर हाफते हुए पवनजय, चक्कर

खाकर धप्से धरतीपर बैठ गये। घावपर निगाह पडी—खूनकी एक पिचकारी-सी छूट गई है।

ओह, अपनी ही तलवारसे अपना ही घात ? उफ् . शस्त्र .. हिंसक, बर्बर शस्त्र ! कितनी ही बार शस्त्रोमे उन्हे अविश्वास हुआ है। ये हिंसाके उपकरण ? कितनी ही बार उन्हें इनसे घोर ग्लानि और विरक्ति हुई है। पर कौनसी मोहिनी है जो खीच लाती है ? वे फिर-फिर इनसे खेलनेको आतुर हो उठते है। हिंसाकी विजय, विजय नही, वह आत्म-घात है। वे नि शस्त्र जय-यात्राके राही है, इसीसे न क्या उन्होने उस दिन उस पर्वतकी अतलात अधेरी खाईमें, कौतुक मात्रमें, अपनी तलवार खड्ग-यष्टिसे निकालकर फेक दी थी ?

.खून जख्मसे वेतहाशा वहने लगा। कुमारको अपने ऊपर तरस आ गया—दया आ गई।.. छि दया ? और वह भी अपने ऊपर ? नही, वे नही करेंगे कोई उपचार इस जख्मका। दया वे नही करेंगे अपने ऊपर। दया कायरताकी पुत्री है ! पवनजय और कायर हो, इस ज़रासे आघातपर ?

वे सन्नाते हुए आयुध-शालासे ऊपर निकल आये। सिंहासनकी सीढीपर मुह हाथोमे ढककर वैठ गये। खून निकलकर पैरको लथ-पथ करता हुआ चारों ओर फैल रहा है।

आख उठाकर उन्होने देखा, एक प्रतिहारी साहस-पूर्वक उस जखमको एक हाथसे दवाकर उसपर व्रणोपचार किया चाहती है—पट्टा बाधा चाहती है। कोमलता ?.. .ओह, कायरताकी जननी ! वह असह्य है उन्हें। न . न... न हर्गिज़ नहीं—यह सब वे नही होने देंगे।

"हट जाओ प्रतिहारी, इस व्रणका उपचार नही होता !" झुझलाकर कुमारने पैर हटा लिया।

"देव, तुम्हारे ये अत्याचार अब नही सहे जाते !"

कापते आवाज़में साहसपूर्वक प्रतिहारी आवेदन कर उठी। उपचारोन्मुख खाली हाथ उसके शून्यमें थमे रह गये हैं—और आखोमे उसकी, आसू झल-झला रहे है। कुमारके हृदयमें जहा जाकर प्रतिहारीका यह वाक्य लगा है, वहासे वे उसके इस दु साहसका प्रतिकार न कर सके। वे अवाक् उसका मुह ताकते रह गये।

ओह नारी कोमलता आसू ? फिर वही मोह-जाल फिर वही माया-मरीचिका ? फिर दोनो हाथोमें वडे ज़ोरसे मुखको मीच लिया। सारी इद्रियोको मानो उन्होने अपने भीतर सिकोड लिया। नही, इस कोमलताके स्पर्शको वे नही सह सकते। यह कातरता है यह दया है। और कौन है यह प्रतिहारी, तुच्छ जो पवनजयपर दया करेगी ? वे अपने आपमें अपनेको अस्पृश्य शून्य अनुभव करन लगे। पर उन्हें लगा कि वह कोमलता हार नही मान रही है। वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होकर उनकी सारी स्नायुओको वीधती हुई, शिरा-शिराको परिप्लावित करती हुई उनकी समस्त आत्मामे सिच गई है—परिव्याप्त हो गई है। वह अक्षत माधुर्य-धारा है, वह अमोघ अमृत है। नही उससे वे अपनेको वचा नही पा रहे हैं।

और जाने कव, जव आख खुली तो देखा—सामने रक्तकी एक भी वूद नही है। है केवल फेन-सा रूईका एक पट्टा, जो उस पैरकी पिंडलीपर चमक रहा है।

एक गहरी नि श्वास छोडकर पवनजय उठ वैठे। अपने ही आपमें उद्वेलित होकर, वे उस विशाल दीवानखानेमें वडे-वडे डग भरते हुए चक्कर काटने लगे।

[ १२ ]

अजनाने पाया, अतरके क्षितिजपर एक नवीन वोधका प्रभात फूट रहा है। ममत्वके इस नीडमें अव वह आश्रय नही खोज सकेगी। इस

नीडके सुनहले तिनकोमें दु ख और विपादके पुज घनीभूत हो रहे थे। मोहकी वह रात्रि अव तिरोहित हो गई है। नवीन प्रकाशके इस अनतमे उडनेको अव वह स्वतत्र है। प्रेम ममत्व नही है। दु ख और वेदनाकी यह मोहिनी ममत्वकी प्रसूता है।

पर अजना तो उत्सर्गिता है, अपनेको यो वाधकर वह नही रख सकेगी। और अपनेको वह रक्खेगी किस लिये ? किस दिनके लिये और किसके लिये ? क्या अपने ही लिये ? पर वह अपनत्व शेप कहा रह गया है ? वह तो छाया है, वह भ्रांति है। यह दु ख और यह विपाद और ये आसू, यह सव अपने ही को लेकर तो था। अचेतनके खोखलेपनमें मिथ्याकी प्रेत-छायाए खेलने लगी थी।

और मर्यादा किस लिये ? मर्यादा तो वे आप है, जहा जाकर अपनेको लय कर देना है। इस राजमदिर और इस लोकालयकी मर्यादा उसके दृष्टि-पथमें नही आ रही है। इन किनारोमे जीवनको थामनेका क्या प्रयोजन है ? और कौन है जो थाम सकेगा ? वह जीवन जो हाथसे निकल चुका है और जिसकी स्वामिनी वह आप नही है।

उसे लगा कि अपने अनजाने ही अवतक वह मृत्युका वरण करनेमे लगी थी। प्रेमका वह निसर्ग स्रोत रुद्ध हो गया था। प्रेम आप ही अपनी मर्यादा है—उसमे ऊपर होकर और कोई शील नही है। शील क्या दुरावमें है ? वहा तो शीलकी ओट पाप पल रहा है।

सो, न देव-मदिर ही और न कक्षमे ही अव उसका सामायिक (आत्म-ध्यान) सभव रह गया है। प्रात -साय सामायिककी वेला होते ही वह चली जाती है, राजमदिरका सीमात लाघकर, दूरके उस मृग-वनमें।

पुडरीक सरोवरके उस पार वडी दूरतक चदनका एक वन फैला है। और ठीक उसके वाहर निकलते ही एक वन-खड आ गया है, जिसमें मृगोके झुड उन्मुक्त विचरते है। काफी दूरतक मैदान समतल है, उसके वाद कुछ पहाडिया और टीले है।

सबसे परे जो पहाडी है, उसका नाम अरुणाचल है। उसपर ऊचे तनेवाले नील-गिरिके झाडोकी एक कतार खडी है। पहाडीके ढालोमे कुछ झाडी-जगल है, तो कही-कही चट्टानो और पत्थरोकी आडमे वृक्षोमे छाये मृगोके आवास है। मैदानके बीच-बीचमे जो टीले इधर-उधर बिखरे है, वे ही मृगोके क्रीडा-पर्वत है। मैदान, टीले और पहाडियोपर हरियालीका स्निग्ध, शाद्वल प्रसार फैला है। समतलमे इधर-उधर नीलम-खडो-से जलाशय चमक रहे है, किनारे जिनके ऊची-ऊची घास और जल-गुल्मोके पुज है। विचरते हुए मृग वहा पानी पीते दिखाई पडते है।

कही-कही वन-लताओसे छाई स्निग्ध, श्यामल वन्य-झाडिया फैली है, जिनमें खरगोश रहते है। उन जलाशयोके किनारे कासके वन-पुजोमेंसे कभी दुबके-से निकलकर सर्रसे वे अपनी झाडियोमे जा छुपते है। अरुणाचल पहाडीके उस पारसे कभी-कभी नील गाय, साभर और बारह-सिंगे भी नीलगिरिके झाडोके अतरालसे उतरकर इधर आया करते है।

दूर-दूरपर टीलो और पहाडियोकी हरियालीमें आकाशके किनारे वे मृग चरते दिखाई पडते है। उनके पीछेके बादल-खड उनके पैरोमे आते-से लगते है।

लगता है, सौंदर्य और प्रेम यहा गल-बाही डाले है। यहा सघर्ष नही है, घात नही है, कोई स्थूल शोषण नही है। अबोध प्रेमका यह दिव्य विहार है। जीवनाचरणमें यहा वैर नही है। समताका विपुल बोध यहा दिशातो तक प्रसरा है, मानो किसी सिद्धकी यह निर्वाण-भूमि रही हो।

अजना प्रात-साय यही सामायिक करने आती है—अचूक। वर्षोपर वर्ष बीतते गये है, पर यह साधना उसकी अभग रही है। आयुष्यके अतीत होते तटोपर उसने पद-चिह्न नही छोडे है। अनागतकी कोई विकल प्रतीक्षा अनायास किसी बादलकी दुपहरीमें दूर वनातके केका-सी पुकार उठती, किसी वसत-सध्याकी डालपर कोयल-सी टेर उठती। वह प्राणको समयातीत कर खीचती ही ले जाती, ऋतुओंके पार—जीवन-समुद्रके

छोरोंपर। किन्तु अनादि उद्गमसे कामनाकी एक मुक्त तरंगिणी हहराती चली आ रही है, जो उन छोरोंमें आकर विसर्जित हो जाती है। वही एक आकर्षण है, जो तलहपर निर्वेद और प्रशात है—पर भीतर निखिलके साथ एकतान होनेकी परम आकुलता है।

कायोत्सर्गकी यह साधना, उसकी हिमाचल-सी अचल है। 'देहसे नही पा सकी हू, तो विदेह होकर पाऊगी तुम्हे!'—उसके भीतर रह-रहकर गूज उठता। सामायिकमे कभी-कभी वह गभीर आवेदन-सवेदनसे भर आती। इद्रियोके बध मानो अनायास आसू बन-बनकर ढलक पड़ते, जैसे शृखलाकी कडिया पिघलाकर विखर पडी हो। स्पर्श, रूप, रस, गध, स्वरके भिन्न-भिन्न द्वार टूट-टूटकर खुल जाते, और एक प्रोज्ज्वल, निराकुल, अविकल्प सुखानुभूतिका सागर-सा खुल पडता। उसमें ज्योतिकी तरगे उठ रही है, और वह लहरोपर आनेवाला चिर-परिचित आलोक-पुरुष देखते-देखते आकर अजनामे अतर्धान हो जाता।

और आख खोलते ही वह पाती, आस-पास खडे मृग उसकी देह-अग सहला रहे है, उसके केशोको सूघ रहे है। उस केश-राशिमे वे उस गधको पा गये है, जिसके लिये उनके प्राण चिर-कालसे विकल भटक रहे है। अवतक उस गधके लिये कितनी ही वार वे छले गये है। प्राणोकी वाजी लगाकर भी वे उसे नही पा सके है। पर इस देहकी ऊष्मा, इन केशोकी गधमें वे अभय तृप्ति पा रहे है, आत्म-पर्यवसित हो रहे है। यहा छल नही है, मृत्यु नही है। यहा परम शरण है।

चाहे कैसी ही दुर्निवार वादल वेला हो, कैसा ही दुर्धर्ष शीतकाल हो, कैसी ही वेधक हवाये चल रही हो, कैसा ही प्रचड ग्रीष्म तप रहा हो, और चाहे फिर वसतकी कुसुम-वेला हो, इस सीमातरपर आत्म-ध्यानके लिये अजनाका आना ध्रुवकी तरह अटल था।

वे खरगोश-शिशु अंजनाकी वाहोंके सहारे, उस सर्व-काम्य वक्ष-पर लिपटकर आश्वस्त हो जाते। एक आकर्षणकी हिलोर-सी आती।

वह चल पडती मृगोके उस लीला-काननमे। मृग-शावक उसकी कटिपर भूमते, अन्य मृग-मृगिया उसके उडते हुए दुकूलको खीचते। अजना खर-गोशोको आचलमें ढाप लेती। आस-पास भूमते मृग-मृगियोके गल-वहिया डालकर, उनकी गर्दन और पीठपर अपनी गर्दन डाल देती, गालो और आखोंसे उनके शरीरके मृदु रोओका रभस करती। अग-अग उनपर निछावर होता। उनकी आखोमें आखें डालकर देखती—जाने किन चिरकाम्य रूपका दर्शन उनमें हो जाता। निराकुल, विदेह सुखमे मूर्छित होकर वह मुस्करा देती। निगूढ लज्जासे अग-अग पुलक-सजल हो उठता। आह, कौन छू गया है ? अननुभूत है यह स्पर्श—चिर दिनसे जिसकी चाह प्राणोमें घनी होती गई है।

यो ही उन पशुओके साथ निर्लक्ष्य भटकती, खेलती वह उस अरुणाचलतक चली जाती। कभी-कभी उस पहाडीपर, नील-गिरिकी वनानीमें पहाडीके उस पारके छुटुक-फुटुक विखरे भिल्ल-ग्रामोकी वन-कन्यायें मिल जाती। वर्षाकी नदियो-सी वे श्यामला है। कच्चे रसालोकी रस-भार-नम्र स्निग्ध घटाओ-सा उनका यौवन है—अनावृत और अवध्य। गिरि-घाटियोके हिंस्र-जतु-सकुल प्रदेशोमे वे अभय विचरती है। दुर्जेय और दुरत है उनका कौमार्य। तीरके फलपर परखे जानेवाले वीर्यका वे वरण करती है। कटिपर वे नाम मात्रका वसन वाध लेती है—या फिर वल्कल। ऋतु-पर्वोपर वे पत्तोके वसन पहन आती है, कानोमें कलियो और कच्चे फलोके झुमके और माथेपर तथा गलेमे जगली फूलोकी माला। उनकी उद्दड वाहोमें पार्वत्य उपलोके वलय पडे रहते और पैरोमें कासेकी कडिया।

अनायास वे अजनाकी सहेलिया वन गई थी। कहानी भर जिसकी वे अपनी दादियोसे सुनती, और निरतर जिस वन-लक्ष्मीकी उन्हे खोज थी, उसे ही शायद वे एकाएक पा गई है—ऐसा उन्हें आभास होता। वह 'वन-लक्ष्मी' किस दिशासे कव आ जाती है, वे खोजकर भी पता नही

पा सकी हैं। आदित्यपुरकी युवराज्ञी उनकी कल्पनाके वाहर है, फिर उससे उन्हे प्रयोजन ही क्या हो सकता है। राजोपवनकी सीमा उनके लिये वर्जित प्रदेश है, सो उस ओरसे वे उदासीन है। कभी-कभी दूरसे ही कौतूहल भर करके वे रह जाती है।

थोडे ही दिनोमे अजनाने उनकी प्रकृत भाषाको सहज ही अपना लिया। उनकी सारी अत प्रकृतिसे उसका निसर्ग परिचय होता चला। वे अपनी ही भाषामें अजनाकी वाते सुनती। जन्मोके अज्ञानकी अधेरी गुहाओका तम भिदने लगता। उसके भीतर अजनाके शब्द प्रकाशके विदुओकी तरह फूटने लगते। वाणी सिद्ध हो चली। अनादिकालके जडावरणोमें, जिनसे आत्मा रुद्ध है, वह वाणी अव्यावाध प्रवेश करती चली।

उन्हे ज्ञान-दान देनेका कोई कर्तव्य-भाव वाहरसे अजनामे नही जागा है। उसकी उन्मुखतामें ही सहज उन अज्ञानी मानव-प्राणियोके लिये उसका सहवेदन गहरा होता गया है। उसके भीतरसे निरतर पुकार आ रही है—वही उसका सकल्प है और वाचामें फूटकर वही कर्म-मय होता गया है। अक्षर-वद्ध और वचन-वद्ध किसी निश्चित ज्ञानकी शिक्षा देनेकी चेष्टा उसमें नही है। उस ज्ञानमें सघर्ष सभव है—वितर्क सभव है। पर प्रेमकी इस अजस्र वाणीमे केवल वोध ही फूटता है—एक सर्वोदयी, साम्य-भावी वोध—जीवन-मात्रका मगल-कल्याण ही जिसका प्रकाश है। इस ज्ञान-दानमें बुद्धिका अह-गौरव सभव नही है। 'मै इन्हे ज्ञान दे रही हू' यह मतर्क प्रभुत्वका भाव नही है। यह दान तो अजनाकी विवशता है—उसकी आत्म-वेदनाका प्रतिफल है, जो देकर ही निस्तार है। सिखाना उसे कुछ नही है—वह तो वह स्वय सीखना चाहती है—स्वय जानना चाहती है। उसीका नम्र अनुरोध मात्र है यह वाणी—जिसमेसे ज्ञान झिरियोकी तरह आप ही फूट रहा है।

निपट अकिंचन और उन्ही-सी निर्वोध होकर अजना उनसे अपनी वात कहती है। आस-पासकी यह विशाल प्रकृति, जिसकी कि वे

पुत्रिया हें, उसीकी भाषा—उसीके सकेत और उपकरणोंके सहारे वह अपनेको व्यक्त करती है। पहाड, नदिया, चट्टानें, गुफाए, झरने-जगल, जीव-जतुओको ही लेकर जाने कितनी न कथा-वार्ताए कही जाती है—कितने न रूपकोका आविष्कार होता है। वे भिल्ल-बालाए अपने जगली जीवनोमें परपरासे चली आई, कई दु साहसकी दत-कथाए सुनाती। नाना पशु-पक्षियोके और मानवोके घात-प्रतिघात और सघर्षोके वृत्त उनमे होते। उनके जीवनोका गहन, प्रकृत परिचय पाकर अजनाकी आत्मीयता सर्व-स्पर्शी हो फैल जाती। वह उन्ही कहानियोको उलट-पुलटकर—उनकी हिंस्र क्रूरताओके बीच-बीचमें बडी ही स्वाभाविकतासे कोई प्रेमके वृत जोड देती। वे बालाए जिज्ञासासे भर आती। उनकी निर्विकार चचल आखोमें सहवेदनकी करुणा छल-छला आती। वे अजनाके ही शब्दोमें अनायास बोलकर प्रश्न कर उठती। क्रीडा-कौतुक मानसे अजना समाधान कर देती। वे जोर-जोरसे खिलखिलाकर हस पडती। गुजान हसीसे वनस्थली गूज उठती। वे बातें उन्हें कभी नही भूलती। वे तो मानव प्रकृतिके पटपर लिखे गये अक्षर है, जो सदा ध्वनित होते रहते हैं—इन झरनोमें, इन हवाओमें, इन झाडियोमें।

किसी उत्सवके दिन यदि वे अजनाको पा जाती तो वनके फूल-पत्तियो-से उसका अभिषेक कर देती। पैरोमे घूघुर बाधकर आती और अजनाके चारो ओर वृत्तमें झूमर देकर नाचती, हिंडोल भरे मदमाते रागोमें अपने जगली गीत गाती। तब अजनाको सुनाई पडता—उस जगल-घाटीमें दूर-दूर तक फैले पुरवोसे उत्सवकी गान-ध्वनिया आ रही है। बीच-बीचमे ढोलक और खजडी अविराम बज रही है। पृथ्वीकी परिक्रमा देता हुआ यह स्वर आ रहा है। एक अनिवार आकर्षण अजनाके शरीरके तार-तारमे बज उठता। जीवन जीवन जीवन! उन पुरवोमे होकर—उन दूर-सुदूरके अपरिचित मानवोमे होकर ही उसका मार्ग गया है। अरे क्यो है यह अपरिचय, क्यो है यह अज्ञान—क्यो है यह

अलगाव ? असह्य है उसे यह आवरण, यह मर्यादा। इस सबको छिन्नकर उसे आगे बढ जाना है, उसे चले ही जाना है, जीवन पुकार रहा है।

और ठीक उसी क्षण उसे अपनी वस्तुस्थितिका भान हो आता। उन परिजनोका क्या होगा ? उनके दुखोकी बोझिल साकलें उसके पैरोमें बज उठती है। मोह है यह, क्यो वे अपने ममत्वसे घिरे है ? इसी कारण क्या नही है—यह दुखोकी अभेद्य भव-रात्रि—यह मूर्छनाका अधकार ? इसी कारण यह अज्ञता और अपरिचय है—इसी कारण यह राग-द्वेष और अपना-पराया है। पर उनके प्रति वह करुणा और सहानुभूतिसे भर आती है। उनका दुख उसे ही लेकर तो है—वे भी तो पर-दुख-कातर है। उनकी वेदनाको भी उसे झेलना ही होगा। उनके और अपने दुखोकी सकुलताको चीरकर ही राह मिलेगी। नही, उन्हे छोड़कर वह नही जा सकेगी। वह शायद जीवनसे मुह मोडना होगा—पराजितका पलायन होगा। वह स्वार्थ है—अपने ही स्वच्छद सुखकी खोजमें औरोकी उपेक्षा है। कर्तव्य और दायित्व उसका समग्रके प्रति है, लोक और लोकालय उससे वाहर नही है। वह जायेगी किसी दिन, उपेक्षा करके नही, उनके प्रेमकी अनुमति लेकर—आशीर्वाद लेकर। तब वह निश्चित होगी, मुक्त होगी और सबके साथ होगी। यो टूटकर और छूटकर वह नही जायगी। एकाकारिताकी इस साधनामें वह अलगावका क्षत अपने पीछे नही छोडेगी। मनमें कोई फास लेकर वह नही जायेगी। कोई दूरी, कोई विरह-वियोग, कोई अभावका शून्य वह नही रहने देगी।

. कि एक सुदीर्घ-विरह-रात्रिका प्रसार उसके हृदयमे झाक उठता.. कौन आया चाहता है .?

योही वर्षपर वर्ष बीतते जाते है। मृग-वनकी शिलापर जब प्रात सामायिकसे निवृत्त हो वह आख खोलती तो अरुणाचलपर बालसूर्यका उदय होता दीख पडता। साझका कायोत्सर्ग कर जब वह आख उठाती,

तो नील-गिरिकी वनालीमे पीताभ चद्र उदय होता दिखाई पडता। वह जो सतत आ रहा है परम पुरुष उसीके तो आभावलय है ये विंब! और उन विंबोमें होकर कोई मृग छलाग भरता निकल जाता है ..योंही वर्ष भाग रहे है काल भाग रहा है और उसके ऊपर होकर अवाधित चला आ रहा है वह अतिथि!

[ १४ ]

राजोपवनके दक्षिण छोरपर जो खेतोका विस्तार है, उसके उस किनारे कृपको और गोपोके छोटे-छोटे गाव वसे है। वही थोडे-थोडे फासलेसे राज-परिकरके सेवकोकी वस्तिया है। सवकी अपनी स्वतत्र धरती है, गोधन है। राज-सेवा वे स्वेच्छतया करते है। राजा और राजके प्रति उनमें सहज कर्तव्यका भाव है। उनका विश्वास है कि राजा प्रजाके माता-पिता है, जीवन, धन और धरतीके रक्षक है, पालक प्रजापति है।

कुछ वर्ष पहले एक गोप-वस्तीकी सीमापर, एक शिशिरके सवेरे, कुहरेमेंसे आती हुई एक साध्वी दीखी थी। सालवनके तले पनघट और वापिकाओपर पानी भरती हुई गोप-वधुए उसे कौतूहलकी आखोसे देखती रह गई। निकट आकर वह साध्वी खेतमें वने एक चवूतरेपर वैठ गई। पहले तो वे वधुए मारे अचरजके ठिठकी रही, फिर कुछ हसकर परस्पर काना-फूसी करने लगी। साध्वियाँ तो आती ही रहती है—पर ऐसा रूप? कोई देवागना न हो!

एक दूसरीसे जुडी-गुथी वे वधुए पास सरक आईं। कुछ दूर खडी रहकर वे देखती रह गई—अवाक् और स्तब्ध। विचित्र है यह साध्वी! वालिका-सी लगती है। गभीर है, पर रह-रहकर चचल हो जाती है। वरफ-सी उजली देहपर, दूधकी धारा-सा दुकूल है, पीठपर विपुल केश-भार पडा है, जो गालोको ढकता हुआ कधो और भुजाओपर भी छाया है।

वह बडी-बडी सरल आखोसे उनकी ओर देख मुस्करा रही है, जैसे बुला रही हो। पर न हाथ उठाकर सकेत करती है, न पुकारती है।

मुहूर्त भरमें ही वे सब वधुए जाने कब पास चली आई। भूमिपर सिर छुआकर सबने प्रणाम किया।

"अरे-अरे, छि छि—यह क्या करती हो! मुझे लजाओ नही। क्या मै तुमसे बडी हू? मै तो तुमसे छोटी हू, और तुम्हीमेंसे एक हू—तुम्हारी छोटी बहन, क्या मुझे नही पहचानती ..?"

सब अवाक् आश्चर्यसे उस ओर देख उठी। सचमुच जैसे वर्षोसे पहचानती है, कही देखा है कभी, पर याद नही आ रहा है। एक निगूढ स्मृतिके सवेदनसे रोम-रोम सजल हो आया। ये आखें, यह पारदर्शी मुस्कराहट। और सबसे अधिक आत्मीय है इस कठकी वाणी। पर विचित्र है यह साध्वी। अरे इसके हाथोमें वलय है, और भालपर तिलक है! साध्वियोके वलय और तिलक तो नही होता। पर मन इसे देखकर बरबस श्रद्धासे भर आता है, पता पूछनेका जी ही नही होता। केवल एक आश्वासन भीतर अनायास जाग उठता है।

"हा .. हा... हा मै समझ गई हू, तुम्हारे मनोमें क्या है!"

पूछ देखो न, तुम्हारे मनकी बात जानती हू कि नही!"

वधुओको लगा, जैसे इससे कुछ छुपा नही है। पहले जिन प्रश्नो और जिज्ञासाओको किसीसे नही पूछा था—अपने अभिन्न वल्लभसे भी नही—वे सब अतिम प्रश्न मनमें खुल-खिल उठे। लज्जा मर्यादासे परे है वे अतर की गोपन पहेलिया। एक-एककर उन्होने पूछ डाले वे प्रश्न। वह साध्वी सुनकर मुस्करा आती है, उन प्रश्नोके वह सीधे उत्तर नही देती है। वह छोटी-छोटी, सुगम और रजनकारी कहानिया कहती है। लीला करती है, विनोद करती है, और जाने कब वधुए समाधान पा जाती है।

हवा बात ले गई। कुछ ही दिनोमें आस-पासकी सारी बस्तियो और गावोंके किनारोपर वह साध्वी दिखाई पड़ने लगी। अनिश्चित

कालातरालसे अतिथिकी तरह कभी-कभी वह आती। ग्रामके वाहरकी किसी पाथ-शालामें, किसी मदिरके चबूतरेपर, किसी शिलातलपर, या किसी वृक्षके तले पत्तोपर वह एकाएक वैठी दिखाई पडती। देखते-देखते ग्राम-जन, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध सभी जुट जाते। वह कब कहासे आती और कहा चली जाती, यह जाननेका कुतूहल लोगोका अव मिट चला था। वलय और तिलक भी नगण्य हो गये थे। निश्चित वह कोई साध्वी है, जो तत्त्वको पा गई है। क्योकि वह उन सबोके हृदयोकी स्वामिनी हो चली थी—इन्ही कुछ वर्षोमें। और साध्वीका कौन स्थान, क्या पता और क्या समय ? वह उन्हें सुप्राप्त थी। चली जाती और वहुत दिनोमें आती, उसका कुछ ठीक नही था। पर वह उस लोक-जीवनका हृदय-स्पदन वन गई थी। वह जीवनके केंद्रमें वस गई थी, सो सदा उनके साथ थी।

ग्राम-जन अपने सुख-दुखोकी वात कहते। जीवनके वाह्य आधारोमें सभी तुष्ट थे। रोटीका सघर्ष नही था—भौतिक जीवन-सामग्री सब स्वाधीन थी और अपार थी। सुख-दु ख थे मनके वैकारिक सघर्षोको लेकर ही। जिज्ञासाए जन्म-मरण, रोग-शोक, हर्ष-विषाद और मुक्तिको लेकर थी। प्रति दिनके मानवीय सबधोंमें जो राग और द्वेपकी रगड है, हार-जीत है, क्रोध, मान, माया, लोभका जो सूक्ष्म सघर्ष सर्वव्यापी है, जिसे जानते हुए भी उसकी जडतक पहुचकर हम उसे ठीक नही कर पाते, उसीको लेकर उनकी समस्यायें थी। सवसे अधिक प्रवलता थी मानकी, प्रभुत्वकी, अधिकार और स्वामित्वकी।

साध्वीके उत्तर वहुत सरल और सीधे होते। वे सवकी समझमें आते। वह सूत्र-वाणी वोलती। एक उत्तरमें कई प्रश्नोके उत्तर एक साथ मिल जाते। कमलकी पखडीमेंसे पंखडी खुलती जाती। चेतनके अतरालोमें उजाला छा जाता। व्यक्तिकी सीमाए मानो लोप होने लगती। जन-जनमें एक ही प्राणकी अविच्छिन्न धारा दौडने लगती। समस्त

चराचरकी विशाल एकताके वोधमें मन आप्लावित हो जाते। जन्मोकी विच्छेद-वार्ता पुलकोके आँसू वनकर झर जाती।

साध्वीके वोल लोक-कण्ठमें वस चले—

"अपनेको वहुत मत मानो, क्योकि वही सारे रोगोकी जड हैं। मानना ही तो मान है। मान सीमा है। आत्मा तो असीम है और सर्वव्यापी है। निखिल लोकालोक उसमें समाया है। वस्तु मात्र तुममें है—तुम्हारे ज्ञानमें है। वाहरसे कुछ पाना नही है। वाहरसे पाने और अपनानेकी कोशिश लोभ है। वह, जो अपना है उसीको खो देना है, उसीको पर वना देना है। मानने हमें छोटा कर दिया है, जानने-देखनेकी शक्तियोको मद कर दिया है। हम अपने हीमें घिर रहते है। इसीसे चोट लगती है—दु ख होता है। इसीसे राग है, द्वेष है, रगड है। सवको अपनेमें पाओ—भीतरके अनुभवसे पाओ। वाहरसे पानेकी कोगिश माया है, झूठ है, वासना है। उसीको प्रभुने मिथ्यात्व कहा है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष सव तुम्हीमें है। उनका होना तुम्हारे ज्ञानपर कायम है। कहा न कि तुम्हारा जीव सत्ता मात्रके प्रमाण है, वह सिमटकर क्षुद्र हो गया है, तुम्हारे 'मैं' के कारण। 'मैं' को मिटाकर 'सव' वन जाओ। जानने-देखने-की तुम्हारी सवसे वड़ी शक्तिका परिचय इसीमें है।

"समग्रको जाननेकी इच्छाका नाम ही प्रेम है—वही धर्म है। जानने-की व्यथाको गहरी होने दो। जितनी ही वह गहरी होगी, आपा खिरता जायगा, सवके प्रति अपनापा वढता जायगा। यही प्रेमका मार्ग है—धर्म-का मार्ग है। मुक्ति चाहनेकी चीज़ नही है। उसका ध्यान भुला दो।

मुक्तिको लेकर ही हममें काक्षा और गर्व जागेगा तो क्या मुक्ति मिलेगी? वह तो वधन ही होगा। अपने को मिटाओ, मुक्ति आप ही मिल जायगी। मुक्ति कोई स्थान विशेष नही है—वह समग्रकी प्राप्तिमें है, सव-रूप हो जानेमे है ..."

ग्राम-जन वात्सल्य-वश फल, दूध-दही, मक्खनकी मधुकरी ले आते। साध्वीके पैर पकड लेते कि उनका उपहार लेना ही होगा। वह हाथकी अजुलिमें लेकर उसे सिरसे लगा लेती—और आस-पासके बालकोंमें बाट देती। पीछेसे स्वल्प प्रसाद ग्रहणकर आप भी कृतार्थ होती। दोनो जुडे हाथोपर सिर नवांकर ग्राम-जनोको नमस्कार करती और चल देती—खेतके पथपर, मृग-वनकी ओर।

लोक-जनोमें एक जिज्ञासा बनी हुई थी—कैसी है यह साध्वी, जो अज्ञानियोको नमन् करती है? ऐसी साध्वी तो नही सुनी। सच-मुच विचित्र है वह!

[ १५ ]

मृग-वनसे सध्याका सामायिक कर अजना अपने महलको लौट रही है। बाहर रात अधेरी है, शीत बहुत तीव्र है। अजना अकेली ही चली आरही है।

ऊपर आकर उसने पाया, उसके कक्षमें महादेवी केतुमती बैठी है। पास ही वसतमाला और जयमाला बैठी है। राजमाता गभीर है और चुप है। कक्षमें एक क्षुब्ध खामोशी है। देखकर अजना स्तब्ध रह गई! आशातीत और अभूतपूर्व है यह घटना। जबसे वह इस महलमें राज-वधू बनकर आई है, इतने वर्ष निकल गये है, महादेवी यहा कभी नही आईं। यहा जो ज्वाला निर्धूम जल रही है, उसे देखनेकी छाती शायद राजमाताकी नही थी। दूरसे इस सौधका रत्न-दीप देखकर ही उनका हृदय दुखसे फटने लगता था। पर आज .? आज कौन ऐसी असाधारण स्थिति उत्पन्न हुई है, कि कलेजेपर पत्थर रखकर वे यहा चली आई है। देखकर अजना भौचक-सी रह गई। क्षणभर कक्षकी देहरीमें ठिठक गई। सपना जैसे भग हो गया। वस्तुस्थितिका

भान हुआ। अतर्लोक लुप्त हो गया। उसने पाया कि वह वाहरके व्यवहार-जगतमें है।

दूसरे ही क्षण वह नम्र, विनत हो आई। आकर उसने महादेवी-के चरण छुए, और पास ही वह ढुलकी-सी बैठ गई। आखें उठाने और कुशल-वार्ता पूछनेकी वात दूर, यहा होना ही उसे दूभर हो गया है। अपने आपमें वह मुंदी जाती है। जैसे सिमट कर शून्य हो जाना चाहती है—धरतीमें समा जाना चाहती है।

गंभीर स्वरमे महादेवीने स्तब्धता भग की—

"देखती हू वेटी, तुम्हारा चित्त महलमे नही है। कुलके परिजनोसे नाता-नेह नही रहा? पर वह तो हमारे ही प्रारब्धका दोष है। घरका जाया ही जव अपना न हो सका, तो तुम तो पराये घरकी लडकी हो, कौनसा मुह लेकर तुमसे अपनी होनेको कहू? पर राजकुलकी मर्यादा लोप हो गई है! लोकमें अपवाद हो रहा है, तव तुम्हारे निकट प्रार्थिनी होकर आनेको वाध्य हुई हू। वहुत दिन तुम्हारी राह देखी, सदेशे भेजे, पर तुम तक वे पहुच न सके, तव और क्या चारा था?

"मृग-वनके सीमातपर तुम सामायिक करने जाती थी, सुना, तो सोचा कोई वात नही है, वह अत पुरका ही क्रीडा-प्रदेश है। पर वहा भी तुम्हारा सामायिक न हो सका! तव अरुणाचलकी पहाडी तुम्हें लाघनी पडी—भील-कन्यायें तुम्हारी सहचरिया हो गईं। यहाकी प्रतिहारियो और सखियोका सग तुम्हें असह्य हो गया। तुम अकेली ही जाने लगी। फिर तो गोप-वस्तियो, कृषक-ग्रामो और राज-सेवकोकी वसतिकाओमे भी तुम्हारा स्वच्छद विचरण शुरू हो गया। सुनकर विश्वास नही हुआ—सव पीती ही गई हू। पर आज समस्त आदित्यपुर नगरमे राज-वधूके स्वैर-विहारपर चर्चाएँ हो रही है! और इस वेषमें . ? तुम्हें कौन पहचानता कि तुम राजकुलकी वधू हो? इसीसे तो विचित्र कहानिया कही जा रही हैं। अपने लिए न सही, पर इस

घरकी लाज तुम्हें निभानी थी। कुलके शील और मर्यादाकी लीक तुमने तोड दी। आदित्यपुरकी युवराज्ञी ग्राम-जनो, भीलनियो और सेवकोके बीच भटकती फिरे? क्या यही है उसका शील और मर्यादा? क्या यही है उसकी शोभा? तुम्हारे दुखसे मेरा दुख अलग नही है, पर कहे बिना रहा नही जाता। क्या यह भूल गई हो अजना, कि तुम परित्यक्ता हो—पदच्युता हो? किसके गर्वपर तुम्हारे ये स्वच्छद क्रीडा और विहार? जो चाहो करो, पर कुलकी मर्यादा नही लोपी जा सकेगी . . ।"

दुखित कठसे, परतु अकुठित तीव्रता और आवेशमें राजमाताने सब कह डाला, और चुप हो गई। अजना अचल बैठी थी, पर भीतर उसके भूचाल था। उत्तर देनेकी चेतना उसमें नही थी।

जब अजनाको चेत आया तो पाया कि राजमाता, वसत, जयमाला और बाहर बैठी हुई प्रतिहारिया सब जा चुके है। वह अपने कक्षमें अकेली है। वसत इन दिनो प्राय उसके पास होती है—पर आज वह भी नही है। अपने तल्पपर जाकर वह औधी लेट गई। नही है वसत तो उसे शिकायत क्यो हो? उसके पति फिर आ गये है, उसके अपने बच्चे है, वह अपने घर गई होगी। और उसने कब किसीकी अपेक्षा की है? जिस दिन पहली ही बार वह राजोपवनकी सीमा लाघकर जबू-वनमें गई थी, उसी दिन वहासे लौटते हुए उसने पाया था कि वसत अब उसके साथ नही है। अजनाकी मुक्तता उसे सह्य नही है। वह चिर दिनकी सखी, जीजी भी बिछुडती ही गई। और उसे ठीक-ठीक याद नही कि वह कब पीछे छूट गई। फिर बीच-बीचमें वसत महेंद्रपुर भी चली जाती। उसकी ससुराल वही थी—और पीहर भी वही था। पर अजना . . ? वह भी तो महेंद्रपुर जा सकती थी? पर वह नही गई। पिता और भाई, एक-एककर सभी उसे कई बार लिवाने आये—यहातक कि मा भी आई, उसके पैरतक

पकड लिये, रो-रोकर हार गईं। पर अजना अपनेको लौटा न सकी। उसे स्वय इसके लिये मनमें कम सताप और ग्लानि नही थी। पर. . . . पर अब उसका पथ वदल चुका था, उसपर वह वहुत दूर निकल गई थी, वहासे लौटना उसका सभव नही था। यह उसकी विवशता थी। और फिर कौनसा मुह लेकर वह महेद्रपुर जाती ? अपनी जन्मभूमिको वार-वार उसने सजल आखोसे प्रणाम किया है—और तब अपने भाग्यको कोस-कोस डाला है। अपने कौमार्यकी वह स्वप्न-भूमि अव उसके लिए दूरसे ही वदनीय थी। पर तव सामने कितने ही नवीन लोकोके अतराल जो खुलते जा रहे थे।

वेदनाका कुहासा एक दिन अनायास फट गया था, और वह नवीन सवेरे के प्रकाशमे वढती ही चली गई। तव उसे यह ध्यान नही रहा कि कौन पीछे छूट गया है ? उसने पाया कि उसकी यात्रा नि सग है। उस पथका सगी कोई नही होता। प्रतिहारियो, दासियो और सखियोको सहज ही उसने यह जता दिया था, कि विना काम और विना कारण उसके साथ किसीको रहनेकी बाध्यता नही है। और सामायिकमें सेविकाओ और सगिनियोका क्या होता ? और उसके वे भ्रमण ? उसमे बाधा कहा थी ? वह कही भी तो न अटक सकी। कोई रोक भीतरसे नही हुई। वसतने एकाध वार कुछ सकेत किया था, पर वह सव उसकी समझमें न आ सका था। वह वहुत कुछ बाहरका स्थूल लोकाचार था—जो आत्माके मूल्योंपर आधारित नही दीखा। वसतिकाओ और ग्रामोमें वह क्यो गई ? इसका कोई उत्तर उसके पास नही है। यह सव वह अपने भीतर उपलब्ध करती गई है। अतरकी पुकारने उसे वहा पहुचाया है। 'शिरीष-कानन'के 'अशोक-चैत्य'के दर्शन करके वह लौटती—तव वे वसतिकाए उसकी राहमे पडती थी। कहा थी वे उसकी राहके बाहर ?

लाज, कुल, शील, मर्यादा, प्रारब्ध, विवाह, परित्यक्ता, पद-

च्युता, लोकापवाद—एकके वाद एक सफेद प्रेतोकी एक श्रेणी-सी उठ खडी हुई, और वे सारे प्रेत आपसमें टकराने लगे। देखते-देखते एक भीमाकार अँधेरेकी प्राचीर-सी उसके सामने उठने लगी। और अगले ही क्षण एक अनिर्वार विप्लवकी झझाएँ जैसे उसके समस्त देह, मन-प्राणमें मँडराने लगी। और भीतरके तल-देशसे एक करुण प्रश्नकी चीत्कार-सी सुनाई पडी—"आह वे माता-पिता, वे भाई, ये सास-माता और श्वसुर-पिता, वसत और ये सव परिजन—? क्या होगा इन सवका ? इन सवका ऋण वह कैसे चुकाये ? वे कितने विवश है ?—अपने सीमा-वधनोमें वे छट-पटा रहे है। वह कैसे उन्हे मुक्त करे इन रुढताओसे—इस मिथ्यात्वसे ? वह कैसे उन्हें समझाये ?
पर, वह कव उन्हें छोडकर गई है ? उन्हीका प्रेम और कृतज्ञता क्या वार-वार उसे खीचकर नही लौटा लाये है ? एकाएक वे प्रलयके वादल फट गये। आसुओका एक अकूल पारावार सारे तटोको तोडकर लहरा उठा। नही, आज वह नही पी सकेगी, ये आसू ! यह अपने लिये रोना नही है। सर्वके प्रति उसका यह आत्म-निवेदन है। कहा है इस प्रवाहकी सीमा—वह स्वय नही जानती

" ओ मेरे मर्यादा-पुरुषोत्तम ! तुम हो मेरी मर्यादा, और तुम्ही उसकी रक्षा करो। मै तो केवल वहना जानती हू, टूट चुकी हू लहर-लहरमें। अव राहमें विश्राम कहा है जवतक उन चरणोमें आकर लीन न हो जाऊ ? और वाहरका कोई शासन-अनुशासन मुझे मान्य नही, इसीसे अग्नि-परीक्षाएँ अव समुख है। मुस्कराता हुआ मेरा सत्य इस ज्वाल-पथपर चला चले, वह वल मुझे दान करो, देव ! कुलकी लीक क्या तुमसे भी वडी है ? कौनसी मर्यादा है, जो तुमतक आनेसे मुझे रोक सकेगी ? प्रवाहकी इन लहरोमे वह आप ही टूट जायेगी। उसमें मेरा क्या दोप है ? वोलो न, चुप क्यो हो ? तुम्हारी शरणमें सव सुरक्षित है। इह लोक, परलोक, स्वर्ग-नरक,

मुक्ति, सब वही चढाकर अब निश्चित होकर चल रही हू। कोई दुविधा नही है। वे सतत आ रहे चरण कब आखोसे ओझल हुए है ?"

और इसी बीच जाने कब उसकी आख लग गई।

[ १६ ]

सवेरे जब ब्राह्म-मुहूर्तमे अजना जागी, तो मन उसका शरदके आकाश-सा स्वच्छ और हलका था। कोई दुविधा नही थी, कही भी कोई अर्गला नही थी। वह निर्द्वंद्व चली गई, अटल अपने पथपर।

मृगवनकी शिलापर जब उसने कायोत्सर्गसे आखें खोली, तो अरुणाचलपर बाल-सूर्यका उदय हो रहा था। उसमें दीखा कि एक तरुण-अरुण विद्रोही चला आ रहा है, उसके उठे हुए दाएँ हाथकी उगलीपर एक आग्नेय चक्र घूम रहा है। अपने पैरोमे सापो-सी लहराती अधकारकी रागियोको वह भेदता हुआ चल रहा है।

एक अदम्य आत्म-निष्ठासे अजना भर उठी। नही, वह असत्यको सिर नही झुकायेगी—वह मिथ्याको शिरोधार्य नही कर सकेगी। वह प्रतिषेध करेगी। वह दुराग्रह नही है, वह तो सत्यका पावन अनुरोध है। वह घात नही करेगा, वह कल्याण ही करेगा।

चित्तमें आज उसके अपूर्व चिन्मयता और प्रसन्नता है। वह मृगवनसे सीधी पुडरीक-सरोवरके तीरपर चली आई। महलसे चलती वेर प्रतिहारीको आदेश कर आई थी कि वह देवी वसतमालाको जाकर सूचित कर दे कि आज सरोवरके 'गध-कुटि' चैत्यमे पूजाका आयोजन करें।

पुडरीक सरोवरके बीचोबीच अमृत-फेन-सा उजला मर्मरका 'गध-कुटि' चैत्य है, जिसमें प्रभुके समवसरणकी बडी ही भव्य और दिव्य रचना है। सरोवरके किनारे जो दूरतक मर्मरका देव-रम्य घाट फैला है, उसपर थोडे-थोडे अतरसे जलपर झुके हुए वातायन हैं। तीरसे चैत्य तक

जानेके लिये, एक सुदर पच्चीकारीके रेलिंगवाला मर्मरका ही पुल बना है।

वसत वेदीपर पूजार्घ्य सँजोये अजनाकी राह देख रही थी। अजनाके हृदयमे आज सुख नही समा रहा था। आई तो वसतको हिये भरकर मिली, जैसे आज कोई नया ही मिलन है। नई है आजकी धूप, आजकी छाया, आस-पासका यह हरिताभासे भरा उद्यान, ये कुज, ये घाट, ये झरोखे, जल, स्थल और आकाश, सब नया है। अणु-अणु एक अपूर्व, अद्भुत नावीन्यसे मुग्ध और सुदर हो उठा है। दोनो बहनोने बडे तल्लीन भक्ति-भावसे पूजा की। शाति-धारा और विसर्जनके उपरात अजनाने बडे ही सवेदनशील कठसे प्रभुके समुख आत्मालोचन किया और अतमें अपने आपको निवेदन कर नत हो गई।

पूजा समाप्त होनेपर, दोनो बहनें चैत्यकी छतपर आकर, एक झरोखे-में बिछी सीतल-पाटियोपर बैठ गई। चारो ओर सुनील जल प्रसारकी ऊर्मिलता है। देखते ही अजनाको जैसे चैतन्यके शुद्ध और चिर नवीन परिणमनका आभास हुआ।

अवसर पाकर वसतने धीरेसे पूछा—'अजन, कल रात जो महादेवीने कहा, उस सबधमें तूने क्या सोचा है?"

``प्रश्न सुनकर क्षणैक अजनाकी आखें मुंद रही, भृकुटिमें एक वलय-सा पडा और तब मर्मसे भरी वह वेधक दृष्टि उठी। बडे ही धीर और गभीर स्वरमें वह बोली—

"सोचकर भी उस सबका कुछ ठीक-ठीक अर्थ मै नही समझ पाई हू। कुलकी मर्यादा मैंने लोप दी है? यह कुलकी मर्यादा कौनसी ध्रुव लकीर है और वह कहा है, सो मैं ठीक-ठीक नही चीन्ह सकी हू। प्राणि और प्राणिकी प्रकृत एकताके बीच क्या कोई बाधाकी लकीर खीची जा सकती है? और यह कुलीनता क्या है? माना कि गोत्रकर्म है और उससे ऊच-नीच कुल या स्थितिमें जन्म होता है। पर कर्मोंके चक्रव्यूह तो भेदते ही चलना है। क्या कर्म पालनेकी चीज

है ? क्या वह सचय करनेकी चीज है ? आत्मामे यह जो पुरातन सस्कार-पुज जड और मृण्मय हो गया है, उसे खिराना होगा। नवीन और उज्ज्वलतर कर्मोंके वीचसे मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करना होगा। जो कर्म-परपरा अपने और परके लिये अनिष्ट फल दे रही है, जो आत्मा-आत्माके निसर्ग ऐक्य सवधका हनन कर रही है, वह मुक्ति-मार्गमें सवसे अधिक घातक है। वह गोत्र-कर्मकी वाधा शिरोधार्य करने योग्य नही है, वह भोग करने योग्य नही है। मिथ्या है वह अभिमान। वह त्याज्य और परिहार्य है। असत्यको ध्रुव मर्यादा मानकर नही चल सकूगी, जीजी ! इस अहंकारको पद-पदपर तोडते हुए चलना है। वही जीवन-की सवसे वडी विजय है। जीवनका नाम है प्रगति। जो है, उसीको अतिम मानकर नही चला जा सकेगा ? सतहपर जो दीख रहा है वही पदार्थका यथार्थ सत्य नही है—वह व्यभिचरित सत्य है। वह माया है, वह छलना है। उस यथार्थ तत्वतक पहुचनेके लिये—मायाके इन आवरणोको छिन्न करना होगा। इन क्षुद्र ममत्वोको मेटना होगा। प्रगतिमान जीवनी-शक्ति पुरातन कर्म-परपराओसे टक्कर लेगी—उनका प्रतिषेध करेगी, उन्हें तोड़ेगी। निखिलके स्पदनको अपने आत्म-परिणमनमें वह एकतान कर लेना चाहेगी। इस प्रगतिकी राहमें जो भी आये, वह प्रतिष्ठा करने योग्य नही है, वह तोड फेंकने योग्य है. . . "

वोलते-वोलते अजनाको लगा कि वह आवेगसे भर आई है। उसके स्वरमें किंचित् उत्तेजना है। कही इस कथनमें राग तो नही है ? वह चुप हो गई। अपने आपको फिर तौला और गहरे स्वरमें वोली—

" हा यह जो तोड फेंकनेकी वात कह रही हू—इसमें एक खतरा है। आत्म-नाश नही होना चाहिये। कषाय नही जागना चाहिये। सर्वहारा होकर हम चल सकते है, पर आत्म-हारा होकर नही चला जा सकेगा। मूलको आघात नही पहुचाना है। सघर्षसे तो परे जाना है, उसकी परपराको तो छेदना है। विषमको समपर लाना है, फिर

संघर्षसे विषमको विषमतर बनाये कैसे चलेगा ? देश-काल, युग, परि-स्थिति सबको हमें प्रतिरोध देना है—पर आत्माकी अव्याबाध कोमलतामें, कि जिसमें सब कुछ समा सकता है, संपूर्ण लोकको अपने भीतर समा लेनेका जिसमे अवकाश और शक्ति है। तब आत्मोत्सर्गकी लौ बनाकर हमें जलना होगा। सारे संघर्षोंके विषम और विषको पचाकर हमें नम्र और प्रेमका अमृत देना है। उसकी मर्यादा है आत्म-संयम। हमें चुप रहना है। दूसरेकी वेदनाको भी अपनी ही आत्म-वेदना बनाकर उसमें तपना है, सहन करना है। पर अपने सत्यके पथपर हमें अभय-निर्द्वंद्व और अटल रहना है, फिर राहमें अंगार बिछे हों कि मृलिया बिछी हों। हमें विनीत और नम्र भावसे, बिना किसी अनुयोग-अभियोग या भुनला-हटके, अपने उस पथपर चुप-चाप चले चलना है। हमारी आन है विनय, जीवन मात्रके प्रति आदर। हमारा शस्त्र है निखिलके प्रति सद्भाव और समता। आचरणमें उसे ही अहिंसा कहेंगे। हमें प्राणके मर्मपर आघात नही करना है—जब तोडना है तब जड मिथ्यात्वको ही तोडना है। तब भीतरकी आत्मीयता और प्रेमको और भी सघन करना होगा। अपने व्यक्ति-अस्तित्वकी बलि देकर निखिलके कल्याण, आनंद और मंगलके यज्ञको ज्वलित रखना होगा। बाहरके परिस्थिति-चक्र और भाग्य-चक्रोको तोडनेका अनुरोध हममे जितना ही तीव्र है, अपने आत्म-दुर्गको उतना ही अधिक अजेय बना देना है। पर हा, यह आत्मोत्सर्ग आत्मघात नही होना चाहिये। भीतर प्रति-क्रिया नही पनपनी चाहिये, सम और आनंद जागना चाहिये। प्रेम बहना चाहिये ”

बीचमें धीरेसे वसतने कहा—

“पर लोकमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका जिस रूपमें प्रवर्तन है, व्यवहारमें क्या लोकाचारके उन नियमोको यो सहज तोडा जा सकेगा ?”

“द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी क्या कोई ध्रुव चीज है ? और वे जैसे चले आ रहे है वैसे ही क्या सदा इष्ट है ? हमने निश्चय सत्यसे जीवनके

आचरण-व्यवहारको इतना अलग कर लिया है, कि हमारे व्यवहारके सारे नियम-विधानके आधार हो गये हैं हमारे स्वार्थ, और सत्य रह गया केवल तार्किको और दार्शनिकोकी तत्व-चिंताका विषय। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी तो पदार्थ है। पदार्थ सत् है। और सत्का लक्षण ही है— नित्य परिणमन, गुण-पर्यायोका नित्य परिवर्तन, प्रत्यावर्तन। उत्पाद, नाश और ध्रुवकी सक्रिय समष्टि ही जीवन है, सत् है। एक ही अविभाज्य क्षणमें कुछ मिट रहा है, कुछ उठ रहा है, कुछ अपने स्वभावमे ध्रुव होकर भी अपने आपमें प्रवाही है। फिर लोकाचार और उसकी मर्यादा सदा एक-सी कैसे रह सकती है, जीजी ? वह तो सत्की सत्तासे ही इनकार करना है। वह हमारे स्वार्थों और अभिमानोकी पूजा-प्रतिष्ठा है। वह गर्हित है और अनिष्टकारी है। और तव सोचती हू, कुल, शील, मर्यादाके आधार क्या है ? यह राजसत्ता, सपत्ति, ऐश्वर्य ? यह अपार परिग्रहका हमारा स्वामित्व ? . पर कौन उसे रख सका है ? कौन उसपर अपने अधिकारकी अतिम मुद्रा लगा सका है ? वस्तु कोई किसीकी नही है। सत्ता मात्र स्वतत्र है। यह हमारा ममत्व और स्वामित्वका मान ही तो मिथ्यात्व है। आत्माकी सम्यक्-दर्शनमयी प्रकृतिका घात यही होता है। मोहनी तीव्र होती जाती है, हमारा ज्ञान-दर्शन ममत्वमे आच्छन्न हो जाता है। यही ममत्व है हमारी समाज-व्यवस्था और हमारे नियम-विधानका आधार। इसीपर खडे है हमारे कुल, शील, मर्यादा और प्रतिष्ठाके ये भव्य प्रासाद। कितना कच्चा और भ्रामक है इस लोकाचारके मूल्यका आधार ! लोकाचारको मुक्तिमार्गके अनुकूल करना होगा, प्रगति-शील जीवनकी मागोंके अनुरूप लोकाचारके मूल्योको बदलते जाना होगा। निश्चयके सत्यको, आचरण-व्यवहारके तथ्यमें उतारना होगा।"

कुछ देर चुप रहकर फिर अजना बोली—

" . जो सबका है, उसका सचय यदि हमने अपने लिये कर लिया

है, तो इसमे गौरव करने योग्य क्या है ? परिग्रह तो सबसे बडा पाप है ! उसमें सारे पाप एक साथ समाये है । असत्य और हिंसा उसकी नीवमें है । माना कि अपने बाहुबलसे हमने उस ऐश्वर्य, राज्य, सपदाका अर्जन किया है । पर क्या हमारा यह स्वामित्वका अभिमान, आस-पासके जनोमें, जिन्हे हमने उससे वचित कर दिया है, सूक्ष्म हिंसा, ईर्ष्या, सघर्ष नही जगाता ? और क्या हम भी निरतर उसी आत्म-हिंसाके घातसे पीडित नही है ? आस-पास मान और तृष्णाके सघर्ष सतत चल रहे है । क्या इस सघर्षकी परपराको अपने क्षुद्र मान-ममत्वसे धार देना इष्ट है ? क्या वह मनुष्योचित है ? क्या इस हिंसाका सचय हम देखती आखो करते ही जायेगे ? नही, सत्य मार्गका पथी इस बर्बरताके समुख चुप नही रह सकता । मनुष्यके इस पीडन और पतनको—इस आत्म-घातको—वह खुली आखो नही देख सकेगा । सघर्षके इन दुष्चक्रोको उलटना होगा—तोडना होगा । जीवनको इसके बिना परितोष और समाधान नही है । निखिलमें ऐक्यानुभव और साम्य-स्थापन करनेके लिये अपना आत्मोत्सर्ग हम करते जाये । यही प्राणका चिरतन अनुरोध है । भीतर वही हमारी अनुभूति हो—और बाहर वही हो हमारा कर्म !"

"पर जो व्यवस्था है, वह तो अपने-अपने पुण्य-पापो और कर्मोंके अधीन है, अजन । क्या हम दूसरोके कर्मको बदल सकते है ?"

"कर्मकी सत्ताको अजेय और अनिवार्य मानकर चलनेको कह रही हो, जीजी ? तब मान लें कि मनुष्य उस कर्म-सत्ताका खिलौना मात्र है ? और यह भी कि, मनुष्य होकर उसका कृतित्व कुछ नही है ? फिर जडके ऊपर होकर चेतनकी महानताका गुण-गान क्यो है ? फिर तो मुक्ति और ईश्वरत्वका आदर्श निरी मरीचिका है । हमारे भीतर मुक्तिका अनुरोध निरी क्षणिक छलना है । और असख्य महामानव जो उस सिद्धिको पा गये है, उनकी ये गाथाएँ और ये पूजाएँ मिथ्या है ? तब निरर्थक है यह कर्मोंके नाशकी चर्चा ! असलमें विपर्यय यह

हो गया है कि अपने स्वार्थोंके वशीभूत हो हमने जड़ सत्ताका प्रभुत्व मान लिया है। परमार्थ और मुक्तिको भी हमने उसीके हाथों सौंप दिया है। उसीकी आडमें मनुष्यके द्वारा मनुष्यके निरतर पीडनका व्यापार अवाध चल रहा है। उस पीडनको सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त है। पीडित वन गया है मात्र उस यन्त्रका एक अचेतन पुर्जा। कोटि-कोटि जीवनोको अचेतन वनानेका अपराध हम प्रति दिन कर रहे हैं। पापका यह वृहदाकार स्तूप खडा कर, उसे ही पुण्यका देवता कहकर हम उसकी पूजा कर रहे हैं। हमारा सारा पुरुपार्थ और प्रतिभा खर्च हो रही है उसी स्वार्थके पोपणके लिये, जो उस जड-सत्ताकी परपराको वलवान वनाता है।

"... असलमें लोक-जीवनमे यह जो स्वार्थका मूल्य राज-मार्ग वनकर प्रतिष्ठित हो गया है, उसी मूल्यका उच्छेद करना होगा। स्वार्थका अर्थ ही वदल देना होगा। 'स्व'का सच्चा अर्थ है आत्मा, उसका 'अर्थ' यानी 'प्रयोजन', वही सच्चा स्वार्थ है। अर्थात् आत्मार्थ जो कि परमार्थ है, वही सच्चा स्वार्थ है। स्वार्थ और परमार्थके वीचसे यह मिथ्या भेदका पर्दा उठा देना होगा। यानी 'स्व' और 'पर'के भ्रामक भेद-विज्ञानको मेटकर 'स्व' यानी आत्मा और पर यानी अनात्माके सच्चे भेद-विज्ञानको स्थापित करना होगा। जीवनमात्रको आत्मवत् अनुभव करनेकी अविराम साधना ही हो हमारा पुरुपार्थ ...।"

क्षणैक चुप रहकर फिर अजस्र उन्मेपकी वाणीमें अजना वोलती ही चली गई—

'हा, तव निमित्तसे हम दूसरोंके कर्मोंको भी वदल सकते हैं। हम अपने कर्मको जव वदल सकते है, अपनी चेतनामें उसके अनिष्ट फलको अस्वीकार कर सकते हैं तो निश्चय ही हमारे आत्म-परिणाम समकी ओर जायेंगे। तव लोकमें हमसे संवधित प्राणियोंसे जो हमारा जीवनका योग है, उनमें हमारे सम आत्म-परिणामोंके ससर्गसे कुछ सद्प्रक्रिया होगी।

ओर यों आत्म-निर्माणमेंसे लोक-मंगलका उदय होगा। तीर्थंकरका जन्म लेनेमें उस काल और उस क्षेत्रके प्राणि मात्रकी धर्म-भावनाएँ काम करती है। निखिल लोकके सामुहिक पुण्योदय और अभ्युदयके योगसे वह जन्म लेता है। उस कालके जीवन मात्रके शुभ परिणाम और शुभ कर्मोंकी पुंजीभूत व्यक्तिमत्ता होता है वह तीर्थंकर। वह सबका समग्रीय अभ्युदय है। पर पुण्य और पाप दोनों ही अन्ततः संचय करनेकी चीज नहीं है। पहला यदि स्वर्णकी सांकल है तो दूसरा लोहेकी, हैं दोनों ही बंधन। पुण्य कामनासे उपार्जित नही होना चाहिये, वह आनुषंगिक फल होना चाहिये। हमें अपने पुण्य-फलका अनासक्त भोक्ता होना है, उस पुण्य-फलको सबका बना देना है। तब अभिमान कटेगा और संघर्ष क्षीण होगा। जो सबके कल्याणकी कांक्षासे शुभ कर्म करता है, उसमें वैयक्तिक फलकी कामना नही होनी चाहिये। अपने ही लिये तीव्र पुण्य बांधकर, इस मिथ्या महत्ता और अभिमानका पोषण नही करना है। इस अज्ञानके विरुद्ध हमें लड़ना होगा

"  'सबके सुख-दुख अपने-अपने पुण्य-पापके अधीन है'—कह-कर अपने स्वार्थमें बद्ध और लिप्त हो रहनेकी छुट्टी हमें नहीं है। जिस कर्ममें हमारी आसक्ति नही होगी—उसका बंध हमारी आत्ममें नही होगा। तब वह शुभ कर्म हमें बंधनसे मुक्त करेगा—और सबके कल्याण और मुक्तिका मार्ग प्रशस्त करेगा। इसीसे कहती हू जीजी, कि हमारे पाप-पुण्योंके ये मानाभिमान मानव-मानव, प्राणि-प्राणिके बीच नही आने चाहियें। जो व्यक्तियोंके उदयागत पाप-पुण्य हैं, उन्हें हम अचल मानकर नही चल सकते, उससे समाजका कोई शाश्वत नियम-विधान नही बन सकता। हम किसीके पाप-पुण्योंके निर्णायक नही हो सकते। जो उदयागत पुण्य हमारी आत्माके प्रेमगुणका घात कर रहा है, उससे जीवनका सिंगार नही किया जा सकता। वह पुण्य-फल फेंक देने योग्य है—और यदि हो सके तो उसे बांट देना चाहिये, सबका बना देना चाहिये।

तब उस बधनसे मुक्ति मिल जायेगी। पुण्यके दुरभिमानमे मत्त होकर मनुष्य प्राय नवीन दुर्धर्ष पापकर्मोका बध करता है तो वह पुण्य पूजा करनेकी चीज नही है—वह हेय है—तिरस्कार्य है। भरत चक्रवर्तिका जड पुण्य-फल चक्र ठेलनेपर भी बाहुबलिके पास न गया, पर भरतकी आत्मा बाहुबलिके चरणोमे जा पडी ! चक्रवर्तीका प्रेम उसके चक्र-रत्नसे बाधित न हो सका। यह है उस पुण्यका मूल्य जीजी, जिस पर हम अपने कुल, शील, मर्यादा, लोकाचार और सदाचारके मूल्य निर्धारित करते है। इस अज्ञानके अमागलिक पाशको तोडकर ही चलना होगा, जीजी। उसके प्रति हम निष्क्रिय आत्मार्पण नही कर सकते। उसके विरुद्ध अनिरुद्ध खडे रहकर हमें लडना होगा। उस राहमे होनेवाले प्रहारोको अचल रहकर, विनयपूर्वक, समभावसे सहन करना होगा। .. और आवश्यकता पडनेपर निर्मम भी होना पडेगा। परिजनोके मिथ्या दुखका मोह भी, हमारी करुणाको उकसाकर, हमें पथच्युत कर सकता है। पर, वह कर्तव्य-पालन नही है, वह पराभव है। अहिंसाका अर्थ दुर्बलकी दया नही है!"

"पर तुम्हारे दुखसे महादेवीका दुख अलग नही है, बहन। इस घोर आपद-कालमें वे तुम्हारा ही मुह देखकर जीना चाहती है—और तुम्हारे दुखी मनके लिये भी उनकी गोद ही एक मात्र आश्रय है।"

"... दुखको बहुत पाल चुकी हू, जीजी। रत्नकूट-प्रासादके उस ऐश्वर्य-कक्षमे, असंख्य रातें अपने अकेलेपनमें रो-रोकर बिता दी है। पर रुदनके वे दिन अब नही रहे, जीजी। उस रुदनसे मै जीवनका सिंगार न कर सकी ! लगा कि आत्माकी अवमानना हो रही है—लगा कि मृत्यु का वरण कर रही हू। मैं आत्म-घात न कर सकी। आत्म-घातमेंसे क्या उन्हें पा सकती थी ? प्रेम मृत्यु नही है—जीवन है। प्रेम निष्क्रिय आत्म-क्षय नही है, वह अनासक्त योग है—वह प्रवाह है। शरण उन्ही चरणोमें है, और कही नही है। कुल-शील, मर्यादा, पाप-पुण्य, जन्म-

मरणके स्वामी वे आप है। वे आप अपनी मर्यादाकी रक्षा करेंगे। निश्चित होकर सर्वके प्रति अपनेको देते चलना है। जाने कब, एक दिन वे निश्चित मिल जायेंगे—इस जन्ममें हो, कि पर जन्ममें हो ,

"इतना बडा विश्वास उस पुरुषके प्रति कर सकोगी, अजन, जो क्षणकी उमगमें तुम्हें त्यागकर चला गया, और जिसके कारण परित्यक्ता और पद-च्युता होनेका कलक सिरपर धरकर तुम्हे जीवनमें चलना पड रहा है ?"

"त्याग करनेकी स्पर्धा कौन कर सका है, जीजी ? कौन किसीको त्याग सका है, जवतक किसीको अपनानेकी सामर्थ्य हमारी नही है। यह त्याग तो केवल दभ है, आत्म-छल है। वह केवल अपने अहकी झूठी तृप्ति है। अपनाया है, इसीसे तो त्यागनेके अधिकारका उपयोग उन्होने किया है। कुछ दिन अपने मानको लेकर वे खेलना चाहते है तो खेल लें, इसके बाद जब मिलेंगे तो बीचमें कुछ आ नहीं सकेगा ! वे किसी असाधारण रास्तेसे मेरे पास आनेमें महत्ता अनुभव करते है तो इसकी उन्हे छुट्टी है। पर जीजी, वाधा पुरुषकी नही है, वाध्यता तो केवल प्रेमकी है। और उसी प्रेमकी परीक्षा भी है कि वह अपने प्रेयको प्राप्तकर अपनेको सत्य सिद्ध करे। वहा पुरुष गौण है, और विशिष्ट पुरुष तो अचिंतनीय भी हो सकता है। पर यदि प्रेम किसी विशिष्टपर ही अटका है तो उसमेंसे अपना द्वार वनाकर ही मुक्तिकी राह खुल सकेगी। इसमें लज्जा भी नही है और अपमान भी नही है। वह दासत्व नही है, वह अपनी ही सिद्धिके लिये सहन करना है। पुरुष, पुरुष है और वलवान है, और नारी कोमला है और सव कुछ सह सकती है, इसीलिये जव चाहे उसे त्यागनेका अधिकार पुरुषको है, यह मुझे मान्य नही है। नारीकी सर्व-ग्राही कोमलतामें एक दिन, दृप्त पुरुषका मिथ्याभिमान, निश्चित आकर गलित हो जायगा। स्त्रीके सर्वहारा प्रेमकी इस सामर्थ्यमें

मेरा अदम्य विश्वास है, जीजी। यदि कापुरुषको परम-पुरुष बना सकनेका आत्म-विश्वास हमारा टूटा नही है, तो किस पुरुषका अत्याचार है जो हमें तोड सकता है ? पर यह नही कह रही हू कि हमें पुरुषकी होड करनी है। हमें अपने प्रेमकी मर्यादा नही भूल जानी है। हमारा जो देय है वह हमे देते ही जाना है। पुरुष सदा नारीके निकट बालक है। भटका हुआ बालक अवश्य एक दिन लौट आयेगा। बालकपर तो दया ही की जा सकती है। उसकी हिंसाके विषको पीकर भी नारीने उसे सदा दूध पिलाया है। नारी होकर अपने इस दायित्वको हमें नही भूल जाना है। पर इसीलिये अबला होकर वह असत्यको सिर नहीं झुका सकेगी। वह अपने प्राणपर असत्यसे टक्कर लेगी और उसे चूर्ण कर देगी। उसका आत्मार्पण भी निष्क्रिय और अज्ञ नही है, वह ससज्ञ है। उसके मुक्ति-मार्गमें पुरुष उसकी बाधा बनकर नही आ सकता।"

"पर महादेवीने जो कहा है, उसका क्या होगा, बहन ?"

" उनका और तुम सब परिजनोका ऋण चुकानके लिये ही तो इस महलमे हू, जीजी। और उनकी कृतज्ञ हू कि परित्यक्ता वधूको उन्होने यह रत्नोका महल सौंप रखा है, और उसे वे इतना प्यार करती है, इतना आदर देती है। पर मेरा ही दुर्भाग्य है कि इस महलको मै अब रख नही सकूगी। उनकी इस कृपा और प्रेमके योग्य मै अपनेको नही पा रही हू। मै तो बहुत ही अकिंचन हू और बहुत ही असमर्थ हू यह सब झेलनेके लिये.

"इस राजमहलमें रहकर इसकी और इसके लोकाचारकी मर्यादाको मै नही लोपना चाहूगी। तब देखती हू कि इस घरमें अब मेरे लिये स्थान नही है। यह छोडकर मुझे चले जाना चाहिये। और कोई रास्ता मेरे लिये चुननेको नही है। इस महलमें रहना है, तो यहाकी मर्यादा तोडनेका अधिकार शायद मुझे नही है। पर मेरे निकट वह असत्य है और उसे मै शिरोधार्य नही कर सकूगी

"महादेवीके चरणोमे मेरे प्रणाम निवेदन करना और उनसे कह देना कि परित्यक्ता अजनाके इतने वर्षोंके गुरुतर अपराधको क्षमा कर दें। परित्यक्ता होना ही अपने आपमे क्या कम अपराध है? फिर मुझसे तो मर्यादाका लोप भी हुआ है! उसके लिये मनमे बहुत अनुताप है। अब मेरा यहा रहना सर्वथा अनुचित होगा, शायद वह पाप होगा, अपने लिये भी और उनके लिये भी। जितनी जल्दी हो सकेगा, शीघ्र ही मै यहासे चली जाऊगी, उस राहपर जो मेरे लिये सदा खुली है ।"

आसू भीतर ही झर रहे है—यह कठ-स्वर ऐसा लग रहा है, जैसे किसी गुफामे निर्झरका घोष हो। पर वसतकी आखोसे तो टप-टप आसू टपक रहे थे।

" छि जीजी, तुम रो रही हो ? अपनी अजनापर अभिमान नही कर सकती, तो क्या उसे प्यार भी नही कर सकती? इतनी अवशता क्यो? अजना अकिंचन है सही, पर उसे इतनी दयनीय मत मानो जीजी, उसके भाग्यपर और उसके कर्मपर अविश्वास न करो ?"

अजना चुप हो गई और मुह फेरकर सरोवरके जल-प्रसारपर दृष्टि फैला दी। थोडी देर बाद चुप-चाप दोनो बहनें उठकर वहासे साथ-साथ चल पडी। राहमे बराबर चल रही है, पर एक-दूसरेकी ओर देखनेका साहस उन्हें नही है।

[ १७ ]

पूर्वाह्नमें अपने रथपर, अकेला प्रहस्त, अजितजय प्रासादके मार्गपर अग्रसर है। चारो ओर शरदकी नीलमी श्री फैली है। प्रकृति प्रसन्न है, शीतल और सजल, तरुणी धूप मुस्करा रही है। इस निर्मलताकी आरसी-मे, प्रहस्तने पाया, कि उसकी सारी अतर्भूत व्यथाएँ झलमला उठी है।

हा, वह जब भी पवनजयमे मिलने आया है, उसका मन सह-वेदनसे बोझिल रहा है। वह हृदयका द्वार खोलकर पवनजयके समुख जाता, कि अवसर पाये तो उसे अपने भीतर ले ले। पर पवनजयके सामने पहुचते ही, उनकी तनी हुई गर्विणी भौहोपर जाकर सदा उसकी सह-वेदना विखर गई है। उसके मनसूवे चूर-चूर होकर व्यर्थ हो गये है॥ उसके हृदयके द्वारको जैसे कोई अवहेलनाकी ठोकरसे वद कर देता।

.और वह देखता कि देव पवनजय बोल रहे है। ज्ञानकी प्रत्यचा चढी हुई है। हृदय मानो पैरो तले दबा है, और शून्यमे सनसनाकर शब्दोंके तीर व्यर्थ हो रहे हैं। उनकी वाणीमें बुद्धिका गौरव है। वे तत्वकी भाषामें जीवनका विश्लेषण कर उसे फेंक दे रहे है। इनकार उनका जीवन-सूत्र है। परको इनकार उन्होने इसीलिये किया है, क्योकि उन्होने अपनेको ही इनकार कर दिया है। तव उनके निकट जीवन मात्र वस्तु है। व्यक्ति कुछ नही है, उसकी आत्म-चेतना कुछ नही है, उसकी आत्म-वेदना मिथ्या है।

प्रहस्तने सदा उनके समुख साधारण मानव होकर अपनेको रखना चाहा। अपनी वेदना और करुणाके स्वरको दवाया नही। पर उस वेदना और मानवताको सदा कुठित हो जाना पडा है। तव उसे अपने दायित्वका भी भान आया है। उसीने एक दिन किशोर पवनके सपनों और मनके कवित्वमें, एक भव्य तत्वज्ञानकी प्रतिष्ठा की थी। उसीने पवनकी अपार सौंदर्य-जिज्ञासाकी ऊर्ध्व दृष्टिको, एक प्रबुद्ध दर्शनका तुग वातायन प्रदान किया था। उसने देखा कि उस वातायनपर चढकर पवनजय अपने अह-दुर्गमें वदी हो गया। वह जीवनके साथ चौसर खेल गया। उसने आत्माकी अवमानना की। तव वह वोला इनकार और तिरस्कारकी गर्विणी वाणी।

प्रहस्त सदा वेदना लेकर गया है और विवाद लेकर लौटा है। लौटते हुए सदा उसे अपने ऊपर रोष आया है और आत्मग्लानि

हुई है। पवनके लिये मानो वह दयासे आर्द्र और कातर हो उठता है। क्यो उसने उसे यो जाकर आघात पहुचाया है ? उसकी विषम वेदनापर क्यो उसने व्यग किया है ? पर क्या इसमें उसीका दोष है ? जहा बुद्धि ही के शस्त्रोपर जीवनको परखा जा रहा हो, वहा व्यगके सिवाय और क्या निपजेगा ? इसीसे जब अपने दायित्वसे प्रेरित होकर पवनके भटके हुए दर्शनको सही मार्ग-निर्देश करनेकी चेष्टा उसमे होती है, तब उसके पीछे हृदयका सारा सद्भाव रहते हुए भी, वह व्यगसे कठिन और प्रखर हो गई है। पर पवनजय तो जैसे चोटको निमत्रण देता-सा ही मिलता है, मानो उसे प्रेम भी यदि किया जा सकता है तो चोट देकर ही । पर प्रहस्तको हार अपनी ही दीख रही है। उसे बार-बार यही बात खाती रही है कि पवनके प्रति अपना देय वह नही दे पाया है। यह उसीकी असामर्थ्य है कि वह पवनको अपने विश्वासकी छायामें न ले सका है।

जो भी पवनजयने साफ घोषित करके, प्रहस्तसे अपने आपको छीन लिया था, फिर भी क्या प्रहस्त रुष्ट हो सका है ? क्या उसका हृदय कुठित रह सका है ?—पवनजयके इनकारको झेलकर भी वह उसे अस्वीकार न कर सका है। उसने अपने आप ही समझौता करके राह निकाल ली थी। नियम उसका अचूक है कि दो-चार दिनमें बराबर वह यहा आ ही जाता है, पवनजय हो या न हो। यदि मिले तो कैफियत नही तलब करता, न अपनी हित-चिताकी घोषणा ही किया चाहता है। यदि हो सके तो पवनका सेवक होकर, उसके छोटे-मोटे कामोका सहयोगी हो जाना चाहता है।

प्रासादके नवम खडके कक्षोमें जहा लोकोकी रचनाएँ है, वही इन दिनो पवनजय अपने सपनोको रूप-रग देनेमे व्यस्त रहते है। वहा पहुँचकर प्रहस्त चुप-चाप उनके कामकी गति-विधिको समझ लेता है। अपने लायक कोई काम चुनकर मौन-मौन उसमें जुट जाता है। कभी उसे

पता लगता कि आज पवनजय छतके किसी मेरु-कक्षमें बद है, तो वह कभी ऊपर जानेकी चेष्टा न करता। बाहरसे ही लौटकर चुपचाप चला जाता। यदि उसके सामने ही पवनजय कभी बाहरसे लौटते और वह प्रतीक्षामें होता, तो वह यह कभी न पूछता कि 'कहासे आ रहे हो?' पवनजय कोई गभीर तत्वकी बात कहते, तो वह मुस्कराकर, उसे सहज स्वीकार कर चुप हो रहता!

उसे बात-बातमे एक दिन पवनजयसे यह भी पता लगा था कि विजयार्धकी मेखलामें कई विद्याधर नगरियोंके राज-कुमारोसे उसकी मित्रता हो गई है। उनसे उसे कुछ दुर्लभ विद्याए भी प्राप्त हुई है। और कभी-कभी एक प्रसन्न आत्म-तुष्टिका कटाक्ष करके वह आवेशमे कहता—"याद है न प्रहस्त, मैंने उस दिन मानसरोवरके तटपर तुमसे कहा था—कि वह दिन दूर नही है जब नाग-कन्याओ और गधर्व-कन्याओका लावण्य पवनजयकी चरण-धूलि बननेको तरस जायगा!. उस दिनके स्वागतके लिये तैयार हो जाओ, प्रहस्त। अब उसी यात्राके लिये महा-प्रस्थान होनेवाला हूँ।"

और आज प्रहस्त जब पवनजयसे मिलने जा रहा है तो एक राज-कर्तव्य लेकर जा रहा है।—जबूद्वीपके राज-घरानोमे यह बात अब छुपी नही थी कि आदित्यपुरके युवराज पवनंजयने, परिणयके ठीक बाद ही नवपरिणीता युवराज्ञी अजना का त्याग कर दिया था। कुछ दिनो प्रतीक्षा रही, पर देखा कि कुमारका मन फिरा नही है। तब अनेक दूर देशो और द्वीपातरोसे विवाहके सदेशे और भेंटें लेकर राजदूत आदित्य-पुरमे आने लगे। आये दिन आतिथ्य-शालामें एक-दो राजदूत इस प्रयो-जनके अतिथि अवश्य पाये जाते। लबे अतरालोसें जब कभी पवनजय माता-पिताके चरण छूने या उनसे मिलने आते, तो राजा और रानीने अकेलेमे और मिलकर, पवनके हृदयको पकडनेके हर प्रयत्न कर देखे हैं। पर वे सफल नहीं हो सके हैं। या तो पवनजय मौन रहते है, या

फिर कोई कौतुक करके, अथवा अन्योक्ति-दृष्टात देकर वात वदल देते हे। भाकी वातको तो वे विनोदमे ही उडाकर हँस भी देते है। मा इस गठीले वेटेको खुलकर हँसते देखकर ही मानो परितोप कर लेती है, और आगेका आग्रह-अनुरोध उसका मानो निर्वाक् हो जाता है।

तव आज प्रहस्तको महाराज और महादेवीकी आज्ञा हुई है कि वह इन आये हुए राजकुमारियोके चित्रोको लेकर पवनजयके पास जाये। उसे दिखाकर उसके हृदयका भेद पाये। और अपना सारा प्रयत्न लगाकर वह, पवनजयकी अनुमति, दूसरे विवाहके लिये ले आये। यह राज-कर्तव्य लेकर जा रहा है, पर वह अच्छी तरह जानता है कि वह हँसी कराने जा रहा है। पवनजयकी कविताको उसने कौनसा दर्शन दिया था, वह रहस्य कौन जानता है? महाराज और महादेवीको भी उन सवका क्या पता है? उनके निकट तो वह तारुण्यका हठीला अभिमान ही अधिक है, जिसे किसी अनहोने लावण्यकी खोज है, और उम्रके वीतते हुए निरर्थक वर्षोमें वह आप कही ढीला हो जायगा।

नवम-खडपर कोनेके उस अठकोने कक्षमें आज पवनजय काममें व्यस्त थे। वे कई दिनोसे यहा अपने ही स्वप्न-कल्पनाके अनुरूप ढाई-द्वीपकी रचनाको सागोपाग कर रहे हैं। सूचना पाकर पवनजयने प्रहस्तको ऊपर ही वुला लिया। प्रहस्त इस कमरेमें पहली ही वार आया है। देखा तो, देखकर दग रह गया। विशाल धातु-स्तवकोमे कई प्रकारकी गूघी हुई चिकनी मिट्टियाँ सजी है। चित्र-विचित्र पापाणो, मणियो और उपलोके ढेर चारो ओर फैले है। देश-देशकी रग-विरगी धूलि और वालुका विल्लौरके करडकोमें चमक रही है। शख और सीपोके वडे-वडे चपकोमे अनेक रगोकी राशिया फैली है। जो रचना हुई है उसमें अद्भुत रग-छटा और वारीक रेखाओमे, वडे ही कौशल और कारु-कार्यके साथ, प्रकृतिके विस्तारको, अवकाश और सौंदर्यको वाधनेका प्रयत्न अविराम चल रहा है। पृथ्वी, पर्वत, समुद्र और

आकाशोंकी सारी दुर्लंघ्यता कुमारकी तूली और उँगलियोंके बीच खेल रही है।

मानो कोई बडा रहस्य एक बारगी ही खोल दिया हो, ऐसे गौरवकी मुस्कराहटसे पवनजयने प्रहस्तका स्वागत किया। प्रहस्तके मनमें एकाएक प्रश्न उठा—यह महाशिल्प-व्यापार, यह कलोद्भावना किस लिये ? ग्रह-भोगमें बंदिनी होकर यह कला आखिर कहा ले जायगी ? ये रंग और रेखाएँ, मानो फैलकर जडित हो गई हैं—उनमें जीवनके प्रवाह-की सजीवता नही है। लोकका क्षेत्र-विस्तार इसमें बँध भी आये, पर क्या जीवनकी इयत्ताका मान इसमेंसे उपलब्ध हो सकेगा ? पर समय-समयपर आकर क्या उसने, इसी रचनाके वृहद् आयोजनमें मदद नही की है ?

प्रहस्त बोला कुछ नहीं, सोचा कि रास्ता कौतुकका ही ठीक है। उसने राजकन्याओंके वे चित्र-पट खोल-खोलकर, कमरेमें आस-पास आधारोंपर टँगे मान-चित्रोंके ऊपर फैलाकर टाँग दिये। अनायास एक कटाक्षसे पवनजयने देख लिया, फिर आखें तूलीकी गतिमें लीन हो गई। अपने बावजूद वे मुस्करा आये। प्रहस्तने मुह मलकाकर धीरेसे कहा—

"लोककी इस विराट रचनाके बीच अब तुम्हें हृदय स्थापित करना है, पवन ! इस सबके स्रष्टा और द्रष्टाको केंद्रमें अपना झरोखा बाधना है। चुनो. . ! जीवनके इन प्रवाही रूप-रंगोंकी धारामें अपनी तूलिका डुबा दो, और उस केंद्रका अंकन कर दो"

पवनजयकी वे तल्लीन आखें उठ न सकी। उसी तन्मयतामें ईषत् भ्रू उचकाकर वे बोले—

"स्रष्टा और द्रष्टा इस रचना में कहा नहीं है, जो किसी विशिष्ट बिंदुपर वह अपनेको स्थापित करे ? और अपनेको उद्घोषित करनेका यह आग्रह ही क्या अपनी असामर्थ्य और सीमाका प्रमाण नही है ? पर अपने संतोषके लिये तुम चाहो तो देखो, प्रहस्त, वह दक्षिण विजयार्धकी सर्वोच्च श्रेणीपर है—अजितजय कूट ! वह प्रासाद नही

है, प्रहस्त, और न वह वातायन है। वह कूट है, चारों ओरसे खुला, अरक्षित, प्रकृत! आकाशकी अनंत नीलिमा उसके पाद-मूलमें लहरों-सी आकर टकरा रही है। वही है द्रष्टाके ध्रुवासनका प्रतीक!"

प्रहस्तने देखा कि फिर विवादकी भूमिका समुन्न है। नहीं, अपनी बुद्धिपर आज वह धार नहीं आने देगा। वह तर्क नहीं करेगा। और हृदय ? नहीं, उसकी कुंजी उसके पास नहीं है। उसे कर्तव्यका सहारा है और वह उससे बँधा भी है। जो भी इस व्यावहारिकतामें वह औचित्य नहीं देखता, फिर भी बातको ठोस भूमिपर लाकर ही निस्तार है। पर कितना ज्वलंत और वेधक है वह यथार्थ। अपने बावजूद प्रहस्तके हृदयका उभाड फूट ही तो पड़ा—

"भैया पवन, अब और हमारे हृदयोंको मत कुचलो, अब और अपने आपको यों मत रौंदो। नहीं, यह बर्बर व्यापार अब मैं नहीं चलने दूंगा। अपने ऊपर और किसीपर तुम्हें करुणा नहीं हुई, पर अपनी माके हृदयको अपने इस मूक अत्याचारसे अब मत खींचो। वह दृश्य बहुत ही त्रास-दायक और असह्य हो गया है। और भैय्या, जीवनमें एकांत निश्चय-नयकी दृष्टि लेकर ही हम नहीं चल सकते। वह निश्चया-भास हो जायगा। तब तत्वके यथार्थ स्वभावकी ओटमें हम अपनी दुर्बलताओंको प्रश्रय देने लगेंगे। वह फिर एक आत्म-घातक छद्म-व्यापार हो जायगा। जीवनके तात्विक यथार्थको व्यवहारके सापेक्ष अर्थोंमें देखना होगा, और प्रसंगके अनुसार अपना देय देकर जीवनकी धाराको अविच्छिन्न रखना होगा।"

पवनंजयकी काममें लगी आँखें और भी विस्फारित हो गई हैं। उनके ओठोंकी मुस्कराहट और भी फैलकर अपने विस्तारमें प्रहस्तके कहेको शून्य-वत् कर देना चाहती है। वे बोले कुछ नहीं, अविचलित अपने काममें संलग्न रहे। प्रहस्तको लगा कि वह फिर अपनी दी हुई

राहमें जो भटकन आ गई है, उसे दुरुस्त करनेमें लग गया है। फिर उसने अपनेको रोका और सीधा प्रश्न किया—

"भैय्या पवन, तुम्हारी हँसी ही मेरे लिये बहुत है। हा, सुनो, मेरी तरफ देखो—कितने ही राजदूत आ-आकर लौट गये हैं, कितने ही अभी भी अतिथि-शालामें प्रतीक्षमाण हैं। मा और पिता तुम्हारे हृदयकी थाह न पा सके। तब वे क्या उत्तर देते ? इस बार उन्होने फिर मुझे ही भेजा है। यही विश्वास करके कि मैं तुम्हारे हृदयके निकटतम हूँ, मैं ही तुम्हें मानसरोवर पर विवाहके लिये राज़ी कर लौटा लाया था, और इस बार भी दूसरे विवाहके लिये तुम्हारी अनुमति मैं ही ला सकूगा। जो एक भूल मुझसे हुई है, उसका प्रायश्चित्त यह दूसरी भूल करके ही शायद मुझे करना होगा ? उनके विश्वासको मैं क्या कहकर झटका दू ? वह निर्दयता भी तो मुझसे नही हो रही है। अब मेरा दावा तुम्हारे ही समुख है, पवन, अब अपना हृदय मुझसे न छिपाओ। या तो मेरे इस अभागे हृदयको काटकर यही दो टूक करदो, या अपने मर्मकी व्यथा मुझसे कह दो।" पवनजयका अकातर चित्त, इस आवेदनसे हिल उठा। उनका सारा अंतकरण आर्द्र हो आया। पर इस आर्द्रताका उन्होने उपयोग कर लिया। खिडकीमेंसे दृष्टि आकाशपर थमी है, अपनी उगलियोपर तूलिकाको नचाते हुए पवनजय बोले—

"मेरे एकमात्र आत्मीय ! क्या तुम भी मेरे मनकी व्यथाको इतने दिनो तक अनदेखी ही करते रहे हो ? क्या तुम भी, प्रहस्त, उसे कोरा छल और खिलवाड ही समझते रहे हो ? जो चरम जिज्ञासाकी वेदना तुम्हीनें मेरे किशोर प्राणमें एक दिन सँजो दी थी, उसीको आज तुम अस्वीकार करोगे, प्रहस्त ? जानता हू, तुम्हे कितनी ही बार मैंने चोटें दी हैं, मैंने तुम्हें ठेला है, तिरस्कार और वेदना दी है, उसके पीछे क्या यही दावा और खोज नही थी, कि अरे तुम ! अपने ही दिये दुखको देकर भूल गये हो, और अब लोकाचारके रक्षक होकर उसे मिथ्या कहा चाहते

हो-? तो मुझे चुप हो जाना है, अपनी व्यथाको तुम्हें दिखानेका कोई नाटक मुझसे नही हो सकेगा, प्रहस्त !"

"जानता हू, पवन, मेरा अपराध अक्षम्य है—पर छोडो उसे। उसका प्रायश्चित्त औरोको दुख दिलवाकर तो मुझसे नही हो सकेगा। हा, तो महादेवीको तुम्हारा क्या मन्तव्य मुझे जाकर कहना है, वही तुमसे सुनना चाहता हू।"

"पर तुम्ही मेरी तकलीफको नही समझोगे ? तुम्ही उसकी उपेक्षा करके मुझसे उत्तर चाहोगे ? खैर, जैसी तुम्हारी इच्छा। मासे कहना, प्रहस्त, कि अपनी व्यथा मै अपनी मा तक नही पहुचा सका, उसके लिये मुझे पर्याप्त दुख है। पर मुक्तिके मार्गमें निर्मम होकर ही चला जा सकेगा। माता-पिताका मोह भी तव एक दिन त्याज्य ही हो सकता है। कहना कि अपने अभीष्टकी खोजमें जा रहा हू। वे दुखी न हो। उनका पुत्र उनके आशीर्वादको विफल नही करेगा, और उनकी कोखको नही लजायेगा। वे उसे हर्ष-पूर्वक सिद्धिकी खोजमें जानेकी आज्ञा दें। कल रात मैं उनसे मिलने गया था। जीमें आया कि अपनी वात उन्हें कह दू, पर कह न सका—उनका वह चेहरा देखकर. ।"

"अव कहा जाना शेष रह गया है, पवन ?"

"इस प्रश्नका क्या उत्तर दूं, प्रहस्त ? इसका उत्तर तो चले ही जाना है। और देख रहे हो इस रचनामें, वह है मानुपोत्तर पर्वत। ढाई द्वीपोको पारकर वहातक मनुष्यकी गति है। कालोदधि समुद्रकी जगतीको चारो ओर मडलाकार घेरे हुए वह पुष्कर-वर-द्वीप है, और उसके वीच पडा है वह मानुषोत्तर पर्वत। जानेकी वात क्या पूछ रहे हो, पृथ्वी तो उदयाचलसे लेकर अस्ताचलतक घूम आया हू, प्रहस्त ! पर, क्या अभीप्ट मिल गया है ? और उसके पहले विराम कहा ? अव समुद्रोका आमत्रण है, उन्हें भी पार करना होगा। इस आकर्षणमें ही

प्राप्ति छुपी है, प्रहस्त ! दिशाओमें मुक्ति स्वयं बाहें पसारकर मानो पुकार रही हैं। अब तीरपर कैसे रुका जा सकेगा ? अब मुहूर्त-क्षण आ पहुचा है। मुझे जाना ही चाहिए, जाना ही होगा ”

“पहले इधर देखो, पवन, तुम्हारी योजनाके मान-चित्रोके ऊपर होकर एक दूसरा ही लोक तुम्हारी राहमें आ गया है। उसे पार किये बिना क्या उन समुद्रोतक तुम पहुच सकोगे ?”

ओह, इन चित्रोकी रूपसियोकी कहते हो, प्रहस्त ? एक साथ सबको पाकर भी मेरा मन इनसे न भर सकेगा ! मेरी वासनाको इस रूप-सीमामें तृप्ति नही है, प्रहस्त ! नही, इन तटोमें अब और मै लगर न डाल सकूगा। शरीर-शरीरके बीच बाधा है, मायाकी चकाचौंध है, वचना है और तृष्णाकी आर्त्तता है, हाथ पडता है केवल एक विफल पीडन। जो इसमे है, वह उसमें नही है। हर रूपमें कही न कही ‘कुछ’ नही है। बस वह ‘कुछ’, जो विच्छिन्न हो गया है, उसीका एकाग्र और समग्र भोग मुझे एक समयमे ही चाहिये। मुझे अनत सौंदर्य चाहिये, प्रहस्त, मुझे अक्षय प्रेम चाहिये,—वह कि जिसमे फिर बिछुडन नही है ! शरीरकी तुच्छ तृप्तिके बादकी विफलता मुझे अपनानेको कहते हो ? जो क्षणिक तृप्ति, अनत अतृप्तिको जन्म देती है, वह हेय है। वह मेरी तृप्ति नही है, और वह मुझे नही चाहिये। इसीलिये जाना है, प्रहस्त, उसी परम तृप्तिकी ओर—उसीका यह आकर्षण है। उसकी अवज्ञा कैसे हो सकेगी ?”

“तो क्या वह यो किसी बाहरकी यात्रासे पाई जा सकेगी ? और क्या, तुम्हारी कोई निश्चित यात्रा-योजना भी बन चुकी है, पवन ? यदि है, तो क्या वह मै जान सकूगा ?”

हँसते हुए पवनजय उत्साहित हो आये—बोले—“उसीका आयोजन तो है यह रचना, पवन ! पर, हा तुम्हे नही पता था। वह देखो हिमवान पर्वतके मूलमें, वृषभाकार मणि-कूटके मुखमें होकर चद्रमा-सी धवल

गगाकी धारा गिर रही है। अनेक कूटो और सरोवरोके तोरण पार करती, अनेक भू-प्रदेशोको सौंदर्य-दान करती, विजयार्धके रजत-प्रदेशमें आकर जरा सकुचित होती हुई, विजयार्धके गुफा-द्वारमें वह भुजगिनी-सी प्रवेश कर गई है। रूपाचलकी गुफाके वज्र-द्वारमें प्रवेश करते समय, वह आठ योजन विस्तार पा जाती है। और देख रहे हो, वे गगा और सिंधु नदिया जहा जाकर लवणोदधि-समुद्रमें मिली है, उनके वे रत्न-तोरण और वे तट-वेदिया दीख रही है। भरत-क्षेत्र और जबु-द्वीपके सभी भू-प्रदेशोको प्रणाम करते हुए, उन तोरणोतक पहुच जाना है। और फिर है, लवण-समुद्रकी वे उत्ताल लहरें। उसमें कौस्तुभ-पर्वतको धारण किये हुए वह सूर्य-द्वीप है, और उससे भी परे चलकर वे मागध, वरतनु और प्रभास द्वीप है। देख रहे हो न प्रहस्त ?"

"हा, जो है वह तो नैसर्गिक है, पर वह है इसीलिये गम्य है और तुम्हारी तृप्तिका मार्ग उसीमे होकर है, यही नही समझ पाया हू ! पर पवन, देख रहे हो वह उत्तर भरत-क्षेत्रके बहु-मध्य भागमें वृषभ-गिरि पर्वत खडा है, जहा आकर चक्रवर्तीका मान भी भग हो जाया करता है। षट खड-विजयके उपरात, नियोगके अनुसार, जब चक्रवर्ती इस वृषभ-गिरि पर्वतकी शिलापर अपनी विजयके चिह्न-स्वरूप अपने हस्ताक्षर करने आता है, तो पाता है कि उस शिलापर नाम लिखनेकी जगह नही है ! उससे पहले ऐसे असख्य चक्रवर्ती इस पृथ्वीपर हो गये हैं और वे सभी उस शिलापर हस्ताक्षर कर गये है। तब यह नया चक्री भी अपनेसे पहलेके किसी विजेताका नाम मिटाकर वहा अपने हस्ताक्षर कर देता है, और यो अपनी विजयके बजाय अपने मानकी पराजयकी ही हस्त-लिपि लिखकर वह चुप-चाप वहासे लौट आता है। पर, खैर, वह तो तुम जानो। लेकिन, तुम्हारा मार्ग मेरी कल्पना की पकडमें नही आ रहा है। हा, तो महादेवीको जाकर मुझे क्या यही सब कहना है, पवन ?"

'हा, प्रहस्त, यदि मेरी वेदनाको तुम इनकार नही करते हो—और

मेरे सखा हो, तो मेरे मनकी इस कथाको मा तक पहुचा देना, और कहनेको कुछ शेष नही है . . "

कहकर तुरत पवनजय, बिना कुछ कहे चुप-चाप वहासे चल दिये। प्रहस्तने वे चित्रपट समेटे और म्लान-मुख अपने रथपर आकर बैठ गया! रास्तेमें वह सोच-सोच कर हार गया कि हाय, क्या कहकर वह माके हृदयको परितोष दे सकेगा ?

[ १८ ]

एक वर्ष बाद .

विजयार्धके पार्वत्य प्रवेश-तोरणपर युद्ध-प्रस्थानके दुदुभि-घोष गूज रहे है। आयुधशालाओसे दिशा-भेदी शखनाद रह-रहकर उठ रहे हैं। तुरही और भेरीके स्वर-सधानमें योद्धाओको रणका आमत्रण है

अपराह्नकी अलसता एकाएक विदीर्ण हो गई। अभी-अभी शय्या त्यागकर पवनजय उठ बैठे है। प्रासादके चतुर्थ खडमे, पूर्वीय वरामदेके रेलिंगपर आकर वे खडे हो गये। दीखा कि विजयार्धके अरिजय-कूटपर आदित्यपुरकी राज-पताका वेग-पूर्वक फहरा रही है। प्रस्थानोन्मुख रथोकी जो सरणिका दूरतक चली गई है, उनके मणि-शिखर और ध्वजाए म्लान पड़ती धूपमें दमक रही है। उठते हुए धूलके बगूलोमें अश्वारोहियोकी ध्वजाए दीख-दीखकर विलीन हो जाती है। कवच, शिरस्त्राण और शस्त्रोके फलोसे एक प्रकाड चका-चौध पैदा हो रही है। हस्तियोंकी चिघाड और अश्वोकी हिनहिनाहटसे पृथ्वी दहल रही है। भूगर्भमें कप है, और आकाश आतकित है।

तुरत एक प्रतिहारीको बुलाकर, कुमारने इस अप्रत्याशित युद्ध घोषणाका कारण पूछा। मालूम हुआ कि पाताल-द्वीपके राक्षस-वंशीय राजा रावणने अपने देवाधिष्ठित रत्नोंके गर्वमे मत्त होकर वरुण-द्वीपके

राजा वरुणपर आक्रमण किया है। शुरूमें जब वरुणकी सेनाएं रावणकी सेनाओंसे पराङ्मुख होने लगीं, तो वरुण स्वयं युद्ध-क्षेत्रमें उतर पड़ा। उसने रावणके देवाधिष्ठित रत्नोंकी अवहेलाकर उसके बाहुबलको ललकारा है। रावण स्वयं उसके सम्मुख लड़ रहे हैं। युद्ध बहुत भीषण हो उठा है। आदित्यपुर वर्षोंसे पातालाधिपतिकी मैत्रीके सूत्रमें बधा है। रावण-का राजदूत संदेश-पत्र लेकर आया है। आदित्यपुर और विजयार्धके अन्य कई विद्याधर राजा रावणके पक्षपर लड़नेके लिये आमन्त्रित किये गये हैं। उसी युद्धपर जानेके लिये आज आदित्यपुरके सीमांतर पर सैन्य सज रहा है। महाराज प्रह्लाद स्वयं कल सैन्यके साथ संग्रामको प्रस्थान करेंगे आदि-आदि। कुमार सुनकर आतुर हो आये। संकेत पाकर प्रतिहारी चली गई।

रण-वाद्योंका घोष चुनौती दे रहा है। शंखनाद और तूर्य-नादसे कुमारका वक्ष हिल्लोलित हो उठा। धमनियोंका जड़ित रक्त अदम्य वेगसे लहराने लगा। त्वरापूर्वक वे लंबे डग भरते हुए बरामदेमें टहलने लगे। शरीरकी शिरा-शिरासे गूंज उठा युद्ध युद्ध युद्ध। मांस-पेशियां कस-मसा उठीं। रक्त-ग्रंथियोंमें एक खिंचाव-सा हो रहा है। हृदयकी घुंडी तन रही है, मानो टूट जायेगी। ओह, वर्षोंके प्रमाद और मोहसे विजड़ित और विषाक्त हो गया है यह रक्त। इसे टूटना ही चाहिये, इसे बहना ही चाहिये

युद्धका प्रयोजन, उसका पक्ष, उसकी नैतिकता यह सब पवनंजयके लिये गौण है। प्रधान है युद्ध—युद्ध जो जीवनके संसरणकी मांग बनकर प्राणके द्वारपर टकरा रहा है। नहीं, इस संप्रवाहका अवरोध जीवनकी अवमानना है, वह पाप है, वह पराभव है। इससे बचकर भागा नहीं जा सकता, इससे मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। प्रगतिके शूल-पथपर वक्षका रक्त टपकाना होगा, उसीसे अभिसिंचितकर उसे पुष्पित करना होगा

. . . हा, उसने दिग्विजयी भ्रमण किया है। समस्त जबु-द्वीपकी पृथ्वी उसने लांघी है। गगा और सिंधुके प्रवाहोपर उसने उन्मुक्त सतरण किया है। लवणोदधिके प्रचड मगर-मच्छोको वश करते हुए उसकी उत्ताल तरगोपर उसने आरोहण किया है। सूर्य-द्वीपमे कौस्तुभ पर्वतकी चूडापर खडे होकर उसने वलयाकार जबु-वृक्षोकी श्रेणियोसे मडित जंबूद्वीपको प्रणाम किया है।

पर मनकी विकलता वढती ही गई है, वह और भी सघन और तीव्रतर होती गई है। मानो मिट जानेकी एक अनिवार और दुर्दाम लालसा प्राणोको अहर्निश वीध रही है। कौस्तुभ पर्वतके शिखरपर जब वह खडा था, तो एक वारगी ही उसके जीमें आया कि एक छलाग भरकर वह कूद पडे और लवणोदधिकी उन फेनोच्छ्वसित, भुजगाकार लहरोका आलिंगन कर ले। उद्भ्रात, दिङ्मूढ-सा वह शून्यमे हाथ पसारकर जड हो रहा। नही, उसे चाहिये प्रति-रोध, संघर्ष, विरोध . .। पर्वत, नदी, समुद्र, पृथ्वी और यह महाशून्य, कोई भी तो वह प्रतिरोध नही दे सका, जिससे टकराकर, सघर्षित होकर, हृदयकी यह दुर्दम्य पीडा शात हो लेती। प्रगतिका मार्ग सघर्षमें होकर है, विरोधमें होकर है। अवरोधसे टकराकर ही प्रक्रियाकी वह चिनगारी, मर्मकी इस चिर पीडामेंसे फूट निकलेगी। इस अध पीड़ाको निर्गति देनी होगी, उसीमें छिपा है विकासका रहस्य। उसे चाहिये आज कुछ ठोस, मासल, जीवित प्रतिरोध-विरोध, जहा वह अपने इस उद्वेगको मुक्ति देकर, प्रगतिका उल्लास वनायेगा।

. . और यह युद्ध समुख है. । आज आया है वह भैरव निमत्रण हा-हा, पाशवका भैरव निमत्रण। उसीको कुचलकर मानवत्व स्थापित और सिद्ध हो सकेगा। युद्ध हिंसा. रक्तपात, निष्काम और निर्मम रक्तपात . केवल नग्न शक्तियोका लोह-घर्षण ? माना कि अहिंसा है, पर क्या वह फूलोका पथ

है ? मौतके मुहमें, दुर्दांत हिंसाकी डाढमें, असि-धाराके पानीपर उस अहिंसाको सिद्ध होना पडेगा। शस्त्रोकी धारोको कुठितकर अहिंसाको अपनी अमोघताका परिचय देना होगा, अपनी सूक्ष्म आत्म-वेधकताको प्रमाणित करना होगा।      तव शस्त्रकी सीमा जान लेना ज़रूरी है। प्राण ले सकने और दे सकनेकी अपनी सामर्थ्यका स्वामी हमें पहले हो जाना है। तव हमें जीवनके मूल्यकी ठीक-ठीक प्रतीति हो सकेगी, और तभी हम उसके चरम-रक्षक भी हो सकेंगे। तब होगी अहिंसाकी प्रतिष्ठा, और तव शस्त्रोके फल हमारी देहमेंसे पानीकी तरह लहराकर, कतराकर निकल जायेंगे।

कर्म-चक्रको तोडनेके पहले वाह्य शक्तियोके विरोधी दुश्चक्रोको तोडना होगा। क्षत्रियकी बाहु वहुत दिनोसे अकर्मण्य पडी है, अव और भूलुठित वह नही पडी रहेगी। हथेलियोसे भुजाए ठपकारकर कुमारने फडकन अनुभव करनी चाही, पर पाया कि शून्य है, स्वाभाविक प्रस्फूर्तिकी कपन और फडकन वहा नही है। एक आत्म-नाशका हिल्लोल है, जो मथ रहा है—कुछ टूटना चाहता है, नष्ट होना चाहता है।      उन्नत वक्षपर योद्धाका हाथ गया, हृदयमें दीप्त, ज्वलत उल्लास नही है। है एक हूल, एक पके हुए फोडेकी पीडा। एक आसुरी उत्साह से, उद्वेगसे, कुमार भर आये      ओह, दु सह है यह, जाना ही होगा

"कौन है      ?"

पुकारा कुमारने। द्वारोसे दो-चार प्रतिहारिया आकर नत हो गई।

'तुरग वैजयतको युद्ध-सज्जासे सजाकर तुरत प्रस्तुत करो!"

आज्ञा पाकर प्रतिहारिया दौड गईं। आयुध-शालामे जाकर योद्धाने कवच और शस्त्रोसे अपना सिंगार किया।

और सध्याकी मद पडती धूपमें दूरपर दीखा—वैजयत तुरगपर शस्त्र-सज्जित कुमार उडे जा रहे थे। पिंगल-कोमल किरणोंसे शिरस्त्राणके हीरोमे स्फुलिंग उठ रहे थे।

दिनभरसे महाराज अपने मन्त्रियोके साथ मत्रणा-गृहमे बद थे। युद्ध-सचालनपर गभीर और अति गुप्त परामर्श चल रहा था। पवनजय घोडेसे उतरकर ज्योही द्वारकी ओर बढे, सेवक राजाज्ञाकी बाधा उनके समुख न रख सके। द्वार खुल गये।

अगले ही क्षण कुमार महाराजके समुख थे। देखकर राजा और मन्त्रीगण आश्चर्यसे स्तब्ध, मुग्ध और निर्वाक् हो रहे। एक पैर सिंहासनकी सीढ़ीपर रखकर पवनजयने पिताके चरणोमें अभिवादन किया, फिर कर-बद्ध आवेदन किया—

"आज्ञा दीजिये देव, रणागणमें जानेको सेवामें उपस्थित हू। पवनंजय इस युद्धमें सैन्यका सचालन करेगा। अपने पुत्रके भुजबलका निरादर न हो देव, उसके पुरुषार्थकी लोकमे अवमानना न हो, यह ध्यान रहे। उसे अवसर दीजिये कि वह अपनेको आपका कुलावतस सिद्ध कर सके, अपने क्षात्र-तेजपर वह समस्त जबुद्वीपके नरेंद्र-मडलका शौर्य परख सके! मेरे होते और आप रणागणमें जाये? वीरत्वके भालपर कालिख लग जायगी। वशका गौरव भू-लुठित हो जायगा। आज्ञा दीजिये देव, इसमे दुविधा नही होगी ..."

"साधु, साधु, साधु!" कहकर वृद्ध मन्त्रियोने गभीर सिर हिला दिये। भीतर-भीतर गूज उठा—'देव पवनजयका वचन टलता नही है।' महाराजकी आखोंमें हर्षके आसू छलक आये। स्नेहके अनुरोधमें, रुंधे कठकी अस्फुटित वाणी रुक न सकी—

"तुम्हारा अभी कुमार-काल है बेटा—और फिर तुम "

बीच ही में पवनजय बोल उठे—

"यह दुलारका क्षण नही है, देव, क्षत्रियके समुख कठोर कर्तव्य-विचार है, और सब अप्रस्तुत है। आशीर्वाद दीजिये कि पवनजयका शस्त्र अमोघ हो, वह अजेय हो मौतके समुख भी !"

और फिर झुककर पवनजयने पिताके पाद-स्पर्श किये। पुत्रके

सिरपर हाथ रखकर सुखसे विह्वल पिता केवल इतना ही कह सके—

"समूचे विश्वकी जय-लक्ष्मीका वरण करो, बेटा !"

और बूढी आखोके पानीमे अनुमति साकार हो गई ।

[ १६ ]

वसत ऋतुकी चादनी रात खिल उठी है । अभी-अभी चाद तमालकी वनालीपरसे उग आया है । पूर्णिमाका पूर्ण चद्र नही है, होगा शायद सप्तमीका खडित और वकिम चद्र ।

धूप-गधसे भरे अपने कक्षमे, इष्ट-देवके समुख जब अजना प्रार्थनासे उठी, तो झरोखे की जालीसे वह चाद उसे अचानक दीखा । नीचे था तमालोका गभीर तमसा-वन । अजना को लगा कि कौन गर्वीली, वकिम चितवन अतरमें बिजली-सी कौंध गई ।

वह उठी और बाहर छतपर आ गई । रात्रिके प्राण सुखसे ऊर्मिल है । रजनीगधा, माधवी और मौलश्रीके कुजोंसे फैलती सौरभमें जन्मातरकी वार्ता उच्छ्वसित हो रही है ।—नारिकेल-वनके अतरालोमे पुडरीक सरोवरकी लहरें वैसी ही लीला और लास्यमें लोल और चचल हैं । दुरत हैं वे—जल-कन्यायें । ऐसी कितनी ही वसत, शरद, और वर्षाकी रात्रिया उनमें होकर निकल गई हैं, पर वे लहरें तो हैं वैसी ही चिर कुमारिकाएँ ! कौन छीन सका है उनका वह बालापन ?

अजनाका मन, जो स्मृतियोकी एक घनीभूत ऊष्मासे घिरकर आहत हो रहा था, अप्रतिहत भावसे उठकर चला गया उन वयहीन जल-कन्याओंके देशमें । नही, वह भवकी विगत मोह-रात्रिमे नही भटकेगी—नही ढोयेगी वह स्मृतियोका बोझा । वह नही होगी अतीतसे

अभिभूत और आवृत। अमलिन, शुभ्र—वह तो वैसी ही रहेगी अवध और अनावरण, अपने ही आत्म-रमणमे लीलामयी-लास्यमयी।

कि एकाएक दृष्टि फिर चाद की ओर खिंच गई। कि उसी चितवनके माननें, उसी भगिमाके गौरवने अतरको वीध दिया। सौरभकी एक अतहीन श्वास प्राणमेंसे सर-सराती हुई चली गई ।

ओह, वाईस वर्ष वीत गये, तुमने सोये या जागते किसी आधी-रातमें भी द्वार नही खटखटाया। कभी खटका सुनकर मनकी हठको न टाल सकी हू तो आतुर पैरोसे आकर द्वार खोला है और पाया है कि बाहर हवायें खिल-खिला रही है और झाड हँसी कर रहे है। पर आज कौन हो तुम, जो इस एकात साम्राज्यके द्वारकी अर्गलासे मन-माना खिलवाड कर रहे हो ? पर सम्राज्ञी स्वय तुम्हारे इस ऐश्वर्य-साम्राज्यसे निर्वासित हो गई है। वह चली गई है परे, बहुत दूर, क्योकि तुम्हारी इस महिमा और प्रतापको झेलनेके लिये वह बहुत क्षुद्र थी—बहुत असमर्थ। इसीसे उसे चले जाना पडा—अव क्यो उसका पीछा कर रहे हो ?

चारो ओर प्रसरे चादनी-स्नात उद्यानमें अजनाकी दृष्टि दौड गई। वन-घटाओ और कुजोका पुजीभूत अधकार चादनीके उजालेमें अनेक रहस्योकी अलकें खोल रहा था। पेडो तले बिछे छाया-चादनीके रहस्य-लोकमें प्रतीक्षाकी एक कातर, व्यग्र दृष्टि भटक रही है। कोई आया चाहता है आनेवाला है । तभी कोई छायाकृति जाती हुई दीख पडती—केलिगृहके झरोखो और द्वारोमें होकर, क्रीडा-पर्वतके गुल्मोमे होकर, कृत्रिम सरोवरोके कमल-वनोमें होकर वह चला ही जा रहा है। श्वेत है उसका घोडा; भयानक वेगसे वह दौड़ता हुआ झलक पडता है। निर्मम पीठ किये, अचल है उसपर योद्धा ! पर उसका शिर-स्त्राण निश्चिह्न है . . ?

एक गहरी चितासे अजना व्याकुल हो उठी। . नही पकड़

पा रही है वह उसे। विजयार्धके कगूरोपर झपट रहा है वह श्वेत अश्वारोही। पर उसका शिरस्त्राण क्यो नही सूर्य-सा प्रभामय और दीप्त है? अजनाने अनजाने ही दोनो हाथोसे हृदयको दाब लिया ओह, क्यो नही चल रहा है उसका वश, कि इसे तोडकर एक चितामणि उस शिरस्त्राणमे टाक दे।

और जाने कब अजना भीतर आकर अपने तल्पपर लेट गई थी। तल्पकी पाषाणी शीतलतासे वह अपने दुखते हुए वक्षको दबाये ही जा रही है। मानो इसकी सारी स्वाभाविक शीतलता और कठोरताको या तो वह अपनेमे आत्मसात् कर लेगी, या आप उस पाषाणमें पर्यवसित हो जायगी!

"रूप ? कोई सागोपाग स्वरूप तुम्हारा नही देखा है, न जानती ही हू। पर देखी है तुम्हारी अजेय और उन्मुक्त गतिमयता, मानसरोवरकी उन विरुद्धगामिनी लहरोपर! लौटकर जिसने नही देखा, वह पुरुषार्थ! उस सतत प्रवहमानको पाकर ही मुकर गई हू रूपको—कि उस सौंदर्य और तेजको कालके हाथो क्षत होते नही देखूगी! आज भी देख रही हू कि तुम गतिमय हो। आ नही रहे हो, तुम तो चले ही जा रहे हो। बाईस वर्षतक तुम्हारी उपेक्षाकी पीठको सहन किया है, सो इसीके बलपर। अनेक नव-नवीन मनमाने रूपो और भगिमाओमे तुम्हें अपने अतरमें देखा है, पर वह एक और स्थिर कोई विशिष्ट रूप तुम्हारा नही जानती हू। आज मन नही मान रहा है। एक बार तुम्हारी गतिकी बाधा बनकर, तुम्हारे अश्वकी चापको इस वक्षपर झेलना चाहती हू—और जब अटक जाओगे, तभी उझककर एक बार वह रूप देख लूगी! फिर उसकी मिथ्या बाधा मेरे साथ छल नही खेल सकेगी। और टाक दूगी तुम्हारे शिरस्त्राणमे यह चितामणि

दिनभर युद्धके वाद्योंके घोष गूजते रहे है। युद्ध-वार्ता जानी और साझको सुना कि तुम जा रहे हो सेनानी बनकर ? पर इस

युद्धके प्रयोजनमें क्या तुम औचित्य देख रहे हो मेरे वीर ? निर्विवेक युद्ध क्षत्रियका कर्तव्य नहीं, वह उसकी लज्जा है, बर्बरता है। तुम असद्के पक्षमें, मदके पक्षमें लडने चढोगे ? ओह, केवल युद्धके लिये युद्ध ? .मानो कुछ काम नही है तो जीवित मनुष्योके मुडोसे ही क्षत्रियका प्रमत्त शस्त्र खिलवाड करेगा ! . तो पहले इस वक्षको भी रोदते जाओ, एक प्रहार इसे भी देते जाओ, यदि तुम्हारा प्यासा वीरत्व, अणुमात्र भी तृप्ति पा सके ।

. ओ मेरे गतिमान, गतिका अभिमान भी बधन ही है—वह मुक्ति नही है, वह पीछे किसी अतीतकी ध्रुव-मरीचिकासे हमे बाधे हुए है ।

और अतरतममें कसक उठा—'तुम्हे रोकनेवाली मैं कौन होती हू ? कितनी ही वार तुम्हारी दुर्गम और विकट यात्राओके वृत्त सुने, और सुनकर चुप हो गई। कौतुक सूझा और हँसी भी आई है, पर प्रश्न नही किया ! पर आज तुम युद्धमें जा रहे हो और तुम्हारी गतिकी यह वक्रता—यह दुर्दामता मनमें भय और सदेह जगा रही है। भयानक और प्रचड हो तुम ! तुम्हे एक वार पहचान लेना चाहती हू—ओ स्वरूपमय—कि जाने कितने जन्मोंका यह विछोह है, और कही तुम्हें भूल न जाऊं सिर्फ एक वार, एक झलक

× × ×

फूटती हुई ऊषाके पाद-प्रातमें दुदुभियोके घोष और भी प्रमत्त हो उठे हैं। मानो प्रलयकालकी बहिया किसी पर्वतमें धँसनेके लिये पछाडे खा रही है। दूर-दूर चले जाते प्रस्थानके वाद्योमें दुर्निवार है गतिका आवाहन। शख-नादोमें चडीकी रुद्र हुकृति, त्रिशूल-सी उठ-उठकर हृदयको हूल रही है।

और उदय होते हुए सूर्य के संमुख स्वर्ण-रत्नोसे अलकृत धवल

वैजयत तुरगपर चले आ रहे है, कुमार पवनजय। माने अभी-अभी तिलककर उनकी कटिपर कृपाण बाधी है, तथा श्रीफल और आशीर्वाद देकर उन्हें युद्धके लिये बिदा किया है। वीर-सज्जामें कसे हुए योद्धाके अग जहासे ज़रा भी खुले है, वहासे रक्ताभा फूट रही है। कवचपर वे केशरिया उत्तरीय धारण किये है, रत्न-हारोकी कातिको ढाँकती हुई शुभ्र फूलोकी अनेक पुष्ट मालाएँ देहपर झूल रही है। कलशाकार शिरस्त्राण और मकराकृति कुडलोके हीरोमें प्रभाकी एक मरीचिका खेल रही है।

युद्धारूढ कुमार अत पुरका प्रासाद-प्रागण पार कर रहे है। झरोखोंसे फूलोकी राशिया बरस रही है। प्रागणमें दोनो ओर कतार बाधे हुए प्रतिहारिया चवर ढोल रही है। सौ-सौ स्वर्ण-कलश और आरतिया लेकर कुल-कन्यायें कुमारके वारने (वलैया) ले रही है। गमनकी दिशामें एक श्रेणिमें उद्ग्रीव होकर कुमारिकाएँ मगलके शख वजा रही है। चारो ओर रमणी-कठोंसे उठते हुए जय-गीतोकी सुरावलियोसे वातावरण आकुल-चचल है।

रत्नकूट-प्रासादके सामनेसे निकलते हुए कुमारके भ्रू-भग अनजाने ही धनुषकी तरह तन आये। जितना ही पीछे खिंच सके, खिंचकर तीरने अपना आखिरी बल साधना चाहा। वह गर्व अपने तनावमें पूर्ण वृत्ताकार होता हुआ, आखिर अपने ध्रुवपर अवश जा ठहरा!

देखा पवनजयने, प्रासादके द्वारपक्षमें एक खबेके सहारे टिकी अजना खडी है! दोनो हाथोमे थमा है मगलका पूर्ण कलश, जिसके मुखपर अशोकके अरुण पल्लव वधे है। सुहागिनीकी शृगार-सज्जा उस दूजकी विधु-लेखा-सी तरल-तनु देहमें लीन हो रही है। अकलक गल रही हिमकी उस शुभ्र सजलतामें विषादकी एक गहरी रेखा वह रही है, घुल रही है और फिर ऊपर आ जाती है। अजनाकी उस स्थिर सजल दृष्टिमें कुमारने निमिष भर झाका विश्वकी अथाह करुणाका

तल उन आंखोंमें झलक गया ! पर ओठोंपर है वही आनदकी, मंगलकी अमद मुस्कराहट !

नही, वह नही रुकेगा वह नहीं देखेगा .ओह, अशुभ-मुखी ! , कुमारने झटकेके साथ कुहनी पीछे खीचकर वल्गा खीची, घोडेको एक सवेग ठोकरसे एड दी। हाथका श्रीफल झुझलाहटमें हाथसे गिरते-गिरते बचा। खड्ग-यष्टिमेंसे खिचकर तलवार उनके हाथोमें लप-लपा उठी। एक दीर्घ सिसकीके साथ आये हुए उच्छ्वासमें तीव्र किंतु स्फुट स्वर निकला—

"दुरीक्षणे छि !"

शब्दकी अनुध्वनि अपने लक्ष्यपर जा विखरी। अजनाकी मुस्कराहट और भी दीप्त होकर फैल गई। उसके अतरमें अनायास स्वरित हो उठा—

"आह, आज आया है प्रथम बार वह क्षण, जब तुमने मेरी ओर देखा . . तुम मुझसे बोल गये ! हतभागिनी कृतार्थ हो गई, जाओ अब चिंता नही है। अमरत्वका लाभ करो ! देश और कालकी सीमाओंपर हो तुम्हारी विजय ! पर मेरे वीर, क्षत्रियका व्रत है त्राण, उसे न भूल जाना। तुम हो रक्षक, अनाथके नाथ ! . जाओ, शत्रुहीना पृथ्वी तुम्हारा वरण करे !"

और अगले ही क्षण वह मूर्छित होकर गिर पडी। कि नही रहेगी, वह शेष ! और आसू अविराम और नीरव, उन बंद नेत्र-पक्ष्मोमेंसे झर रहे थे।

रास्तेमें पवनजयके हृदयकी घृणा तीव्रतम होकर मानो रुद्ध हो गई और देखते-देखते वह छिन्न-विच्छिन्न हो गई। युद्ध-सज्जाकी सारी कसावटोंके बावजूद स्नायु-बंध ढीले पड गये। अनायास एक असह्य, निगूढ, अननुभूत, अतल वेदना देहके रोयें-रोयेंमे बज उठी। आस-पाससे उठ रही मगल-ध्वनिया, सैन्य-प्रवाहकी जय-जय-कारे, वाद्योंके तुमुल घोष,

सभी मानो दूरसे आते हुए एक अरण्य-रोदनसे गुंजार व्याप्त हो रहे थे। और उस सबके बीच अकेले कुमार, अपने ही आपसे पराजित, भयभीत, हतबुद्ध, कातर, वितृष्ण चले जा रहे थे।

[ ३० ]

योगायोग सैन्यने मानसरोवरके तटपर जाकर ही पहला विश्राम किया। कटकके कोलाहलसे तटकी निर्जनता मुखरित हो गई। दूर-दूर तक सैन्यका शिविर फैल गया। —भोजन-पानसे निवृत्त होकर श्रान्त और क्लान्त सैनिक-जन अपने-अपने डेरोंमें विश्राम लेने लगे। हाथी, घोडे और बैल बधनोंसे छूटकर, तलहटीकी हरियाली घासमें चरनेको मुक्त हो गये।

पवनजय अपने डेरेमे विश्राम नहीं पा सके। मार्गका श्रमक्लेश मानो उन्हें छू भी नहीं सका है। करवट बदल-बदलकर उन्होंने निद्रस्थ हो जाना चाहा है, कि मन और शरीर शात और स्वस्थ हो लें। यह निरर्थक उलझनोंकी उधेड-बुन मिट जाय, और सवेरे युद्ध ही हो उनका एक मात्र काम्य और उद्दिष्ट। पर अग अनायास सचालित है— सिमट-सिकुडकर अपने भीतर ही मानो लुप्त हो रहना चाहते हैं। लेकिन इस भीति और त्राससे जैसे रक्षा भीतर नही है। एक अवचेतन हिल्लोल-के वेगसे पैर चालित और चचल हैं।

अकेले ही वे घूमने निकल पड़े, निष्प्रयोजन और निर्लक्ष्य। वे कितनी दूर और कहा निकल आये हैं, इसका उन्हें भान नही है।

वसतके कोमल आतपमें पर्वतोकी हिमानी सजल हो उठी है, स्फटिक और नीलम मानो पिघलकर वह रहे हैं। उपत्यकाओ और घाटियोमें वन्य-सरिताए और सरसिया प्रसन्न और स्वच्छ हैं। किनारे उनके मोतिया, कासनी, गुलावी, आसमानी आदि हल्के रगोंके कुसुम-वन सजल आभामें

च्छिन्नित है। स्निग्ध किशलयों और पल्लवोसे अकुरित पार्वत्य पृथ्वी किशोरी-सी नवीन और मुग्धा लग रही है, मानो आमन्त्रणसे भरी है। पर्वत-ढालोपर सरल, साल और सल्लकीके छत्र-मडलसे तनोवाले उत्तुग वृक्षोकी मालाए फैली है। बीच-बीचमें पग-डडिया जगली हाथियोके दातोंसे टूटी हुई मैनसिलकी धूलमे धूसर है। पाषाण-भेद वृक्षोकी नजरियोंसे शिलातल आच्छादित है। पर्वतके पाषाण-स्तरोंमें अनेक प्रकारके मद, रस और धातु-राग पिघल-पिघलकर दिन-रात बह रहे है.

. . .पवनजयने अनुभव किया कि जैसे उनके भीतरकी कठिन ग्रथियोंकी घुडिया अनायास खुल पडी है। अरे यहा तो सभी कुछ द्रवीभूत है, नम्र है, परस्पर समर्पित-है, सभी कुछ सरल, सुषम और प्रसन्न है।

अकुठित औत्सुक्य और जिज्ञासासे वे आगे बढते ही गये। पर्वतके अत प्रदेशोमे जहातक मार्ग जाता है, वे चले जाते है, और छोरपर जाकर किसी निभृत एकातमें वे पाते है—सुरपुन्नागके अधियारे वन-तलमे झरी हुई पराग बिछी है, स्वर्णकी रज-सी दीप्त। किस विजनवतीने, किस अनागत प्रवासीके लिये यह परागकी सौरभ-शय्या जाने कबसे बिछा रखी है? क्या वह प्रवासी कभी न आया और कभी न आयेगा? और क्या यह अभिसार अनत कालतक यो ही निरर्थक चलता रहेगा? वनके अधियारे विवरोमे कुमार धँसते ही चले जा रहे है, मानो द्वारके बाद द्वार पार कर रहे है। ऐसे अनेक नैसर्गिक पुष्प-कुजोके तले पराग और कुसुमोकी ऊष्म और शीतल शय्याएँ बिछी हैं। इस निभृतकी वह चिर प्रतीक्षमाणा बाला किस निगूढ पर्वत-गुफामे एकात-वास कर रही है? अनेक वसत-रात्रियोके सुरभित उच्छ्वास वहा शून्य और विफल हो गये हैं। कहा छिपा है इस चिर दिनकी विच्छेद-कथाका रहस्य?

उपत्यकाके दोनो ओर आकाश-भेदी पर्वत-प्राचीरें खडी है। बीचके सकीर्ण पथमेंसे पवनजय चले जा रहे है, कि अचानक ऊपरके खुले आकाशको देखनेके लिए उन्होने गर्दन उठाई। उन्होने देखा—एक ओरके पर्वत-शृगकी एक चट्टान जरा आगेको झुक आई है—और उसपर खडा है एक श्वेत प्रस्तरका छोटा-सा मदिर। आस-पास उसके घास और सकुल झाडिया उगी है। द्वार उसका रुद्ध है, और वहातक जानेके लिये राह कही नही है। मदिरके श्वेत गुवद्पर साध्य सूर्यकी एक रक्तिम किरण ठहरी है। अरे, कौन है वह अभागा देवता, जो इस अरण्यकी सुन-सान और भयानक गुजानतामें कपाट रुद्धकर समाधिस्थ हो गया है ? क्यो उस उत्कट ऊचाईपर जाकर वह अपने ही आत्म-सक्लेशमें बदी हो गया है ? उस अज्ञात देवताकी विषम पीडा, पवनजयके वक्षमें जैसे कसमसा उठी। और उसे लगा कि ये दोनो ओरकी पर्वत-प्राचीरें अभी-अभी मिल जायेंगी, और वह अभी एक अतलात अधकारकी तहमें सदाके लिये विसर्जित हो जायगा।

पवनजय द्रुतगतिसे झपटते हुए बढ चले। जल-तरगोसे आर्द्र पवनका स्पर्श पाकर वे आश्वस्त हो गये। थोडी ही देरमें वे मान-सरोवरके एक विजन तटपर आ निकले। उन्हे लगा कि एक पूरी परिक्रमा ही कर आये हैं। झीलके सुदूर पूर्व तटपर दीख रहा है वह सैन्यका शिविर। यह तट सर्वथा अपरिचित और एकात है। सामने झीलके पश्चिमी किनारेपर जो गुफाओकी श्रेणी है, उनमेसे विपुल अधकार झाक रहा है। उनके शीर्षपरकी झाडियोमे अस्तगामी सूर्यकी लाल किरणे झर रही है। जल-तरगोके नीलमी कुहासेमें दीख रहा है वह गुफाओका राशि-राशि अधकार। और उसके समुख फैली है यह जल-विस्तारकी प्रशात विजनता। कौन योगी मौन और आत्म-विस्मृत होकर सहस्रावधि वर्षोसे इस अधकारकी शृखलाओमें बँधा, इन गुफाओके पाषाणोमें जडीभूत हो गया है ? किस जन्म-जन्मके दुरभिशापसे वह शापित है ? किस

अविजानित अतरायसे वह वाधित है ? क्या है उसके तरुण मनकी चाह ? क्या है उसकी चिता और उसका स्वप्न ? उस अंधेरेकी चिर उन्निद्र अचेतनतामेंसे एक गभीर पीडाका वाष्प आकर मानो पवनके हृदयमे विधने लगा। वह मुक्त करेगा उस योगीको, तभी जा सकेगा। ... वह पार करेगा झील और भेदेगा गुफाओकी उस तमसाको .. !

तभी उसकी दृष्टि उन गुफाओसे परे, मानसरोवरके सुदूर पश्चिमी जल-क्षितिजपर गई। विरल देवदारु वृक्षोके अतरालमें सूर्यका किरण-शून्य चपक विंव डूव रहा है। कोई गहरी नीली लहरी उसपर उभककर ढुलक जाती है। उसपर होते हुए हसो और सारसोके युगल रह-रहकर आर-पार उड जाते हैं। कुमारको लगा कोई तरुण योगी जल-समाधि ले रहा है। समस्त तेज उसका पर्यवसित हो गया है, उन उभकती लहरोमें, और उनके तरल शीतल आलिंगनमें हो गया है वह निरे शिशु-सा कोमल और निरीह .

तभी एकाएक पैरोके पास पवनजयको किसी पक्षीका आर्त्त स्वर सुनाई पडा। ज्यो ही उनकी दृष्टि वहा पडी तो उन्होने देखा कि तटके कमल-वनमें तरग-सीकरोसे आर्द्र एक कमल-पत्रपर एक अकेली चकवी छट-पटा रही है। इस जलमय पत्रकी मृदु शीतलता भी मानो उसे शूल हो गई है ! वह त्रस्त नयनोसे डूवते हुए सूर्यकी ओर देखती है, और आकुल होकर, पख फैलाकर लोटने लगती है। वह झुककर जलमें अपना प्रतिविंव देखती है और उसे लगता है कि वही है . वही है उसका प्रीतम चकवा, इस जलके तलमें। वह करुण स्वरमें उसे पुकारती है, पर वह प्रीतम नही सुनता है, नही आता है। वह उन लहरोमे चोच डुवो-डुवोकर उसे खीच लेना चाहती है, पर वह खो जाता है ! हारकर वह चकवी श्लथ पखोसे तटके वृक्षोपर जा वैठती है। सूनी आखोको फाड-फाडकर वह दसो दिशाओको ताकती है। दूर कटकसे आ रहे कोलाहलके विचित्र स्वर उसे भ्रमित कर देते

है। वह हारकर, खीककर, वियोगके आक्रन्दनसे विह्वल हो भूमिपर आ गिरती है। पख हिला-हिलाकर, कमलोकी जो सुरभित-कोमल रज लग गई है, उसे वह दूर कर देना चाहती है। डूबते हुए सूरजकी कोरपर चकवीका प्राण अटका है। कि लो वह सूरज डूब गया, और चकवा अब नही आयेगा! और विरहकी यह रात्रि समुख है आसन्न? निष्प्राण होकर चकवी भूमिपर पड गई!

. और आत्माके अशेष अतरालोको चीरकर दूरसे आती हुई जैसे एक 'आह' कुमारको सुनाई पडी। मूक और निस्पद पडी है यह चकवी, फिर किसकी है यह करुण पुकार?

कालका अभेद्य अतराल जैसे एकाएक विच्छिन्न हो गया।

वर्षो पहलेकी एक सध्यामे, सरोवरके इसी प्रदेशमें, लहरोकी गोदमें लीलाका वह मुक्त क्षण! और वहा सामने बना था वह उजला महल। दिगतमें वह 'आह' गूज उठी थी, और उसीकी उसे खोज थी। पर हाय भूल गया था वह अभागा, उसी पुकारको, जिसे अनजानमें खोजते ही ये सारे वर्ष विफल हो गये है। उस दिन पुरुषार्थके अभिमानने उसे लौटकर नही देखने दिया था। पर आज ? आज वह खडा है इस शून्यमें आखें पसारकर बेबस? .पर नही है वह महल नही है वह अटा नही है उस मृदु मुखकी केश लटें नही है वह उडता हुआ नीलाबर! केवल एक पुकार दिगतोके अतरालमें बिछुडती ही चली जा रही है !

सामनेके उस तटमें बनी थी, लहरोसे बिचुबित वह परिणयकी वेदी। जलकी नीलाभापर वे होमकी सुगधित अग्नि-शिखायें। धुएके नील आवरणमें उस प्रवाही लावण्यकी ऊर्मिल आभा झलक जाती। पर मनकी उस क्षणकी वह प्रतारणा, वह आत्मद्रोह! वह नही देख सका था उसे, वह नही सह सका था सौदर्यकी वह दिव्य श्री। ओ अभागे, किस जन्मकी विषम और दीर्घ अतराय लेकर जन्मे थे? कैसा दुर्बंध था

यह अभिशाप ? कितने वर्ष बीत गये है गिनती नही है शायद दस-बीस .. बाईस वर्ष .. मैने मुड़कर नही देखा

यह तिर्यक् चकवी एक रातके प्रियके विरहमें हतप्राणा हो गई है। पर उस मानवीने उस रत्नमहलकी वैभव-कारामें बाईस वर्ष बिता दिये बाईस वर्ष ! कोई अभियोग नही, कोई अनुयोग नही, कोई उपालभ नही ? एक व्याधकी तरह मानसरोवरकी उस हंसीको मैंने सोनेके पिंजड़ेमें ले जाकर बद कर दिया और फिर लौटकर नही देखा कि वह जी रही है या मर गई है ! देखना दूर, उसकी बात सोचना भी मुझे पाप हो गया था।

अकस्मात् एक सघन विषादके आवरणको चीरती हुई दीखी वह पूर्ण मगल-कलश लिये, महलके द्वार-पक्षमें खडी अजना। एक अवश आक्रदनसे पवनजयका सारा मन-प्राण विह्वल हो उठा. !' . अरे तुम्ही हो तुम ! विच्छेदकी सहस्रो रातोमें वेदनाकी अखड दीप-शिखा-सी तुम बलती रही हो ? और उस दिन चुप-चाप मुस्कराकर, मुझ पापीका पथ उजाल रही थी ! क्या था तुम्हारा ऐसा अक्षम्य अपराध, कि मैंने तुम्हारा मुहतक नही देखा, और डकेकी चोट तुम्हें त्याग दिया ? मैने त्याग दिया था, क्योकि मै पुरुष था, पर तुम ? क्या तुम मुझे नही त्याग सकती थी ? तुम भी तो दीक्षा लेकर अपने आत्म-कल्याणके पथपर जा सकती थी ?. .पर तुम न गईं ! . क्यो कि मेरे युद्ध-प्रस्थानकी वेलामें, वह मगलका कलश जो तुम्हे सँजोना-था !

. एक और आत्म-मोहका आवरण मानो सामनेसे हट गया। उसे दीखी एक मुग्धा किशोरी ! उसकी वह समर्पणसे आनत भगिमा, जो अपने प्रियकी स्तुति सुनकर सुखमें विभोर हो गई है। आखें उसकी निगूढ लाजसे मुँद गई हैं। माथा झुका है, और ओठोंपर हैं एक सुधीर गोपन आनदकी मुस्कराहट। एकरस और अजस्र है वह प्रवाह। स्पर्शन,

दर्शन, वचनका विकल्प वहा नही है। स्वीकारकी अपेक्षा नही है, कामना की आतुरता और व्यग्रता भी नही है। केवल है अपना ही विवश और विस्मृत निवेदन। वचन वहा व्यर्थ है, फिर कौनसी तिरस्कार, निंदा या गर्हाकी वाणी है, जो आनदकी उस मुस्कराहटको भग कर सकती है ? और कौनसा अपराध है जो इस मुग्धाको आज उससे छीन सकेगा ?

तभी अचानक तद्रा टूट गई। पवनजयने पाया कि उस विजन तीरपर, वह स्वय परित्यक्त और अकेला है, वह स्वय मूर्तिमान, नग्न अपराधके प्रेत-सा खडा है। झीलपर झलमलाती इस चादनीमें उसकी एक दीर्घ, दानवाकार छाया पड रही है। वह अपने आपसे ही भयभीत होकर काप-काप उठा। वह बिल-बिला आया और दोनो हाथोसे मुह ढापकर धरतीपर बैठ गया। राह भूला हुआ कोई बालक, दिनभर भटकनेके बाद, रातमें राह असूझ हो जानेपर कही कटे पेड-सा आ गिरा है।

एक आर्त कराहके साथ चकवी फिर तडप उठी। पवनजयने चिहुक-कर देखा। वे व्यथासे व्याकुल हो आये। वे क्या कर सकते है उसके लिये ? क्या देकर उसे धीरज दे सकते है ? परितापसे उफनाता हुआ यह अपराधी हृदय ? ओह, वह उसमें झुलस जायगी। वह कमल-पत्रका गीला स्पर्श भी उसे असह्य हो गया था। और उनकी आखोमें झिर-झिर-झिर आसू बह आये—उत्तप्त—मानो पिघलता हुआ लोहा हो, पाषाणोके प्रकृत काठिन्यको बीधकर जैसे निर्झरिणी फूट पडी हो।..

× × × ×

डेरेके एकातमें प्रहस्त और पवनजय आमने-सामने बैठे है। अभी-अभी कुमार मनका सारा रहस्य खोलकर चुप हो गये है। सुनकर प्रहस्त आश्चर्यसे दिग्मूढ हो गया—हाय-हाय री मानव मनकी दुर्बलता, मानव भाग्यकी पराजय! अहकी इस जरा-सी फासमें इतना बडा अनर्थ घट

गया। गोपनके इस नगण्यसे लगनेवाले पापमें दुखकी एक सृष्टि ही वस गई, अनेको जीवन निरर्थक हो गये । कितने न ऐसे रहस्य आत्माके अतरालमे लेकर यह संसारी मानव जन्म-मरणके चक्रोमें आदिकालसे भटक रहा है ? बोले प्रहस्त—

"...तुम उस मुग्धा वालाको न पहचान सके, पवन ? ऐसे घिरे थे आत्म-व्यामोहमे ! तुम तो देश-कालावाधित सौदर्यकी खोजमें गये थे न ?..पर, कव पुरुषने नारीके अतरगको पहचाना है ? कव उसकी आत्माके स्वातत्र्यका उसने आदर किया है ? अपने स्वमानके मूल्यपर ही सदा वर्वर पुरुषने उसे परखा है। और एक दिन जव उसका वही मान घायल होता है, तव वही देती है अपने क्रोडमें उसे शरण ! उस प्रमत्ततामें पुरुष अपने परायेका विवेक भी खो देता है। हृदयके समस्त प्यारकी कीमतपर भी, तुम यह भेद मुझसे छुपाये रहे। तुमने मुझे भी त्याग दिया। प्यारका द्वार ही तुम्हारे लिये रुद्ध हो गया। अपने ही हाथो अपने हृदयके टुकडेकर, अपने पैरोके नीचे तुमने उसे कुचल डालना चाहा—उसे मिटा देना चाहा, पर क्या वह मिट सका..?"

अनुतापसे विगलित स्वरमे पवनजय बोले—

"नही मिटा सका प्रहस्त, स्वय मौतके हाथो अपनेको सौंपकर भी नही मिटा सका। अपने उसी अज्ञानका दंड पानेके लिये मरकर भी मै प्रेतकी तरह जीवित रहा।..पर प्रहस्त, अव प्राण मुक्तिके लिए छटपटा रहे हैं ! साफ देख रहा हू भैय्या, रक्षा और कही नही है। उसी आचलके तले नव जन्म पा सकूगा। यह घड़ी अनिवार्य है, मेरे जन्म और मरणका निर्णायक है यह क्षण, प्रहस्त ! मुझे मृत्युसे जीवनके लोकमें ले चलो। जल्दी करो प्रहस्त, नही तो देर हो जायेगी।....युद्ध मुझे नही चाहिये प्रहस्त, वह धोखा है, वह आत्म-छलना है। मै अपने ही आपसे आख-मिचौनी खेल रहा था। युद्ध मुझसे न लड़ा जायगा।

देखो न प्रहस्त, मेरी भुजाएँ काप रही है, पैर लड-खडा रहे है, छाती उफना रही है—जीवन चाहिए प्रहस्त, मुझे जिलाओ। पापकी ये ज्वालाएँ मुझे भस्म किये दे रही है, मुझे ले चलो उस जल-धाराके नीचे, उस अमृतके लोकमें ”

“पर पवन, युद्धको पीठ देकर क्षत्रियको लौटना नही है। कर्तव्यसे पराङ्मुख होकर उसे जीवनकी गोदमे भी त्राण नही मिलेगा। कर्तव्य यदि अकर्तव्य भी है तो उसे सुलटना होगा, पर लौटना सभव नही है—।”

“पर इस क्षण ये प्राण मेरे हाथमें नही है, प्रहस्त! तुमसे जीवन-दान माग रहा हू, ओरे मेरे चिर दिनके आत्मीय, जीवनकी मेरी अँधेरी रातोके निस्पृह दीपस्तभ! तुम भी, युगोके बाद, बिछुडकर आज मिले हो। पर अपराधकी यह ज्वाला लेकर गति कहा है ?”

“तो एक ही रास्ता है, पवन, अभी-अभी आकाश-मार्गसे चलकर चुपचाप रत्नकूट प्रासादकी छतपर जा उतरना होगा। गुप्त रूपसे वहा रात बिताकर दिन उगनेके पहले ही यहा लौट आना है। और फिर सवेरे ही सैन्यके साथ युद्धपर चल देना होगा।”

पवनजयने कुछ भी उत्तर नही दिया × × ×

थोडी ही देरमे, दोनो मित्र विमानपर चढे, चादनीमे फेनाविल दिशाओके आचलमें खोये जा रहे थे।

## [ २१ ]

तारोकी अनत आखें खोलकर आकाश टक-टकी लगाये है। ग्रह-नक्षत्रोकी गतिया, इस क्षणकी धुरीपर अटक गई है

रत्नकूट प्रासादकी चादनी-धौत छतपर यान उतरा। पवनजय उतरकर कोनेके एक गवाक्षके रेलिंगपर जा खडे हुए। दोनो हाथोसे खबे पकडकर वे देखते रह गये । अपूर्व खिली है यह रात, सौरभ

और सुषमामें मूर्छित !' कालका सहस्र-दल कमल विगत, आगत और अनागतके सारे सौंदर्य-दलोंको खोलकर मानो एक साथ खिल आया है। नया ही है यह देश ! अपनी महायात्राने अद्भुत और अगम्य प्रदेशोंमें वह गया है। सौंदर्यका विराटतम रूप उसने देखा है। अभेद्य रहस्योंको उसने भेदा है। पर अलौकिक है यह लोक ! आस-पास सब कुछ तरल है और तैर रहा है। आलोककी बाहोंमें अंधकार और अंधकारके हृदयमें आलोक। सब कुछ एक दिव्य नवीनतामें नहाकर अमर हो उठा है। क्या वह सपना देख रहा है ?

प्रहस्त अपने कर्तव्यमें संलग्न थे। उन्होंने कक्षके द्वारपर खड़े रहकर स्थितिका अध्ययन किया। देखा, सब शांत है; निद्राके श्वासका ही धीमा रव है। द्वारके पास ही, उन्होंने पहचाना कि, वसंतमाला सोई है। धीमे परंतु निश्चित आवाजमें पुकारा—

"देवी—देवी वसंतमाला !"

नींद अभी लगी ही थी। चौंककर वसंत उठी। द्वारमें देखा, कुछ दूरपर चांदनीके उजालेमें कोई खड़ा है। उसने प्रहस्तको पहचाना ! वह सहमकर खड़ी हो गई। विस्मित पर आश्वस्त वह बाहर चली आई। पास आकर बहुत धीमे कण्ठसे पूछा—

"आप ? इस समय यहां कैसे ?"

"देव पवनंजय आये हैं ! इसी क्षण देवीसे मिला चाहते हैं। उस ओरके कोण-वातायनपर प्रतीक्षामें खड़े हैं "

"देव पवनंजय .? क्या कहते हैं आप ? .वे .. यहां ... इस समय कैसे ?"

वसंतके विस्मयका पार न था। मति मूढ़ हो गई और प्रश्न बौखला गया।

"हां, देव पवनंजय ! कटकको राहमें छोड़ गुप्त यानसे आये हैं। अभी-अभी युवराज्ञीसे मिला चाहते हैं। विलंब और प्रश्नका अवसर नहीं है।

देवीको जगाकर सूचित करो और तुरत उनका आदेश मुझे आकर कहो !"

वसतकी मति गुम थी। यत्रवत् जाकर उसने अजनाको जगाया।

"कौन, जीजी—क्यो ?"

"उठो अजन, एक आवश्यक काम है। लो, पहले मुह धोओ, फिर कहती हू"

कहते हुए उसने पास ही तिपाईपर पडी झारी उठाकर सामने की। अजना सहज 'अर्हंत' कहकर उठ बैठी और मुह धोते हुए पूछा—

"ऐसी क्या बात है, जीजी ?"

वसत क्षणभर चुप रही। अजनाके मुह धो लेनेपर धीरेसे कहा—

"देव पवनजय आये है। वे अभी-अभी तुमसे मिलना चाहते है। उस ओरके कोण-वातायनपर प्रतीक्षा कर रहे हैं। वाहर प्रहस्त खडे है, वे तुरत तुम्हारा आदेश सुनना चाहते हैं !"

अजना सुनकर नीरव और निस्पद खडी रह गई। कुछ क्षण एक गहरी स्तब्धता व्याप गई।

"वे आये है ? जीजी, यह क्या हो गया है तुम्हे ...?"

"मुझे कुछ नही हो गया अजन, प्रहस्त स्वय वाहर खडे है। उन्होने अभी-अभी आकर मुझे जगाया है। कहा है कि कटकको राहमे छोड देव पवनजय गुप्त यानसे आये है—केवल तुम्हें मिलने ! अवसरकी गभीरता-को समझो, वोलो उन्हें क्या कहू ?"

"वे आये हैं......युद्धकी राहसे लौटकर मुझे मिलने ?"

और मानो नियतिपर भी उसे दया आ गई हो ऐसी हँसी हँसकर वह वोली—

"भाग्य देवता को कौतुक सूझा है—कि नीदसे जगाकर वे अभागिनी अंजनाके वर्षोंके सोये दुखका मजाक किया चाहते है ! . समझी अव समझी, जीजी, ..क्या तुम्हें ऐसे ही सपने सताते रहते है, मेरे कारण ?"

द्वारपर प्रकट होकर सुनाई पड़ी प्रहस्तकी विनम्र वाणी—

"स्वप्न नही है, देवी, और न यह विनोद है। प्रहस्तका अभिवादन स्वीकृत हो! देव पवनजय उस ओर प्रतीक्षामे खडे है। वे देवीसे मिलने आये है और उनकी आज्ञा चाहते है!"

सदेहकी गुजायश नही रही। फिर एक गहरा मौन व्याप गया।

"मुझसे मिलने आये है वे?..और मेरी आज्ञा चाहते है? पर मेरे पास कहा है वह, वह तो उन्हीके पास है। वे आप जानें।... सारी आज्ञाओके स्वामी है वे समर्थ पुरुष! .अकिंचना अजनाका, यदि विनोद करनेमे ही उन्हें खुशी है, तो वह अपनेको धन्य मानती है!"

और कोई पाच ही मिनट वाद दीखा, चादनीके उजालेमे वह पूर्णकाय युवा राजपुरुष! सिरकी अवहेलित अलकोमे मणि-वध चमक रहा है। देहपर युद्धकी सज्जा नही है, है केवल एक धवल उत्तरीय। द्वारकी देहलीपर आकर वे ठिठक गये। .फिर सहज माथा झुकाकर भीतर प्रवेश किया। कक्षमे कुछ दूर जाकर फिर वे ठिठक गये। आगे वढनेका साहस नही है। सामने दृष्टि पडी—तल्पके पायतानें वह कौन खडी है? सिरसे पैर तक पवनजय काप-काप आये। सारे शरीरमे एक सन-सनी-सी दौड गई—मानो किसी दैवी अस्त्रका फल रोये-रोयेको वीध गया। अपना ही भार सम्हालनेका वल पैरोमें नही रह गया है। घुटने टूट गये है, कमर टूट गई है। दृष्टि जो ढुलक पड़ी है तो ठहरनेको स्थान नही पा रही है। वीरका अग-अग पत्तोसा थर-थरा रहा है। अभी-अभी मानो भागकर लौट जाना चाहते है। पर पैर न भाग पाते है, न खडे रह पाते है और न आगे ही वढ पाते है।

नीची दृष्टि किये ही अपने वावजूद वे गुन रहे है। नही है यह विलासका कक्ष। नही विछी है यहा सुहागकी कुसुम-सज्जा। सामने वह पाषाणका तल्प विछा है और उसपर विछी है वह सीतलपाटी।

सिरहानेकी जगह कोई उपधान नही है, तब शायद सोनेवालीका हाथ ही है उसका सिरहाना। पास ही तिपाईपर पानीकी दो-तीन छोटी-बडी झारिया रक्खी है। और पायतानेकी ओर जो वह खटी है . क्या उसीकी है यह शय्या ? कोनेमे स्फटिकके दीपाधारमे एक मद दीप जल रहा है। निष्कप है उसकी शिखा। आस-पास दीवारोके सहारे, कोनोमे वैभव स्वय अपने आवरणोमे सिमटकर, परित्यक्त हो पडा है ! छतके मणि-दीप आवेष्टनोसे ढके है—निरर्थक और अनावश्यक।

और जाने कब अजनाने आकर कुमारके उन कापते, असहाय पैरोको अपनी भुजाओमें थाम लिया। पुरुषकी नसोमे जड और शीतल हो गया रक्त उस ऊष्मासे फिर चैतन्य हो गया। विच्छिन्न हो गई जीवनकी धाराको आयतन मिल गया, वह फिरसे वह उठी। पवनजयने चौककर पैरोकी ओर देखा, और परसकी उस अगाध और अनिर्वचनीय कोमलतामें उतराते ही चले गये। गरम-गरम आसुओसे भीगे पलकोका वह गीलापन, ऊष्म श्वासोकी वह सघनता, प्राणकी वह सारभूत, चिर-परिचित, सजीवनी गध । पवनजयका रोया-रोया अनत अनुतापके आसुओसे भर आया। पैरोमे पडी उस विपुल केश-राशिमें अस्तित्व विसर्जित हो गया।

आसुओमें टूटते कठसे पवनजय बोले—

"जन्म-जन्मके अपराधीको और अपराधी न बनाओ ! . उसके अपराधको मुक्ति दो, उसके अभिशापका मोचन करो . "

फिर बोल रुँध गया। क्षणैक ठहरकर कठका परिष्कार कर फिर बोले—

"कई जन्म धारण करके भी, इस एक पापका प्रायश्चित्त शायद ही कर सकू ! ऐसा निदारुण पापी, यदि हिम्मत करके शरण आ गया है तो क्या उसपर दया न कर सकोगी ?"

एकाएक अंजना पैर छोड़कर उठ खड़ी हुई, और विना सिर उठाये ही एक हाथकी हथेलीसे पवनजयके बोलते ओठोको दवा दिया। और अनायास वे मृदुल उंगुलियां उस चेहरेके आसू पोछने लगी।

"मत रोको इन्हे..मत पोछो ..वह जाने दो जन्मोके सञ्चित दुरभिमानके इस कलुपको चुक जाने दो आह, मुझे मिट जाने दो "

कहते-कहते पवनजय फूट पडे और वेतहाशा वे अजनाके पैरोमें आ गिरे! अंजना धप्‌से नीचे बैठ गई और दोनो हाथो से पकडकर उसने पवनजयको उठाना चाहा। पर वह सिर उसके दोनो पैरोके बीच मानो गडा ही जा रहा है—धँसा ही जा रहा है। और उसके हाथोने अनुभव किया, पुरुषकी बलशालिनी भुजाओ और वक्षमें भीतर ही भीतर घुमड रहा वह गंभीर रुदन!

भर्राये और गंभीर कठसे अंजना बोली—

"अपने पैरोकी रजको यो अपमानित न करो देव! उसका एक मात्र बल उससे छीनकर, उसे निरी अवला न बना दो!.. सब कुछ सह लिया है, पर यह नही सह सकूगी....उठो, देव. .!"

और भी प्रगाढतासे पुरुषकी वे सवल भुजाए उन मृदु चरणोको वाघ रही है। पर वह कोमलता मानो वध्य नही है,—वह फैलती ही जाती है। उसमे कुमारकी वह विशाल देह मानो सिमटकर एक क्षुद्र धूलिकण हो जानेको विह्वल है। पर वह कोमलता तो अपने अंदर समाती ही जाती है—अवरोध नही देती। वज्र-सी काया टूटे तो कैसे टूटे, विखरे तो कैसे विखरे?

अंजनाने उठानेके सारे प्रयत्न जब निष्फल पाये, तो एक गहरी निश्वास छोड, मानो हारकर बैठ गई। दोनो हाथोकी हथेलियोसे पवनजयके दोनो गालोको उसने दवा लिया। उनकी आखोसे अजस्र वह रहे आसुओके प्रवाहको जैसे सीमा बनकर बाध लेना चाहा—थाम लेना चाहा। फिर अंतरके मृदुतम स्वरमे बोली—

"   .मेरी सौगध है   क्या मुझे नही रहने दोगे .?
.  उठो देव,  . मेरे जीकी सौगध है तुम्हें .  उठो  !"

पवनजय उठे और घुटनोके बल बैठे रह गये। आसुओके बहनेका भान नही है। वे प्रलब बाहें और सशक्त कलाइया धरतीपर सहारा लेती-सी थमी हैं। एक बार झरती आखोसे सामने देखा। खडे घुटने किये हारी-सी बैठी है अजना। अरे ऐसी है इस हारकी गरिमा! विश्वकी सारी विजयोका गौरव क्षण मात्रमें ही जैसे मलिन पड गया। अपार वात्सल्यके मुक्त द्वार-सी खुली है वे आखें—अपलक, उज्ज्वल, सजल। उस—पारदर्शिनी सरलतामें मनके सारे द्वद्व, द्वैत सहज विलय हो गये! अपने बावजूद पवनजय, मानो अज्ञात प्रेरणाका बल पाकर अपनेको निवेदन कर उठे—

"   जानता हू कि धरित्री हो, और चिरकालसे अबतक हमें धारण ही करती आई हो!  पर ओ मेरी धरणी, दुर्लभ सौभाग्यका यह क्षण पा गया हू, कि तुम्हें अपने दुर्बल मस्तकपर धारण करनेकी स्पर्धा कर बैठा हू  ! इस दु साहसके लिये मुझे क्षमा न कर सकोगी ?"

फिर एक बार आखे उठाकर उन्होने अजनाकी ओर देखा। उठे हुए जानू एक दूसरेसे सटकर धरतीपर ढुलक गये थे। उन दोनो जुडे हुए जघनोके बीच दीखी—मानव-पुत्रकी वही चिर-परिचित गोद! उसका वह अशेष आश्वासन!

"हाय, फिर भूल बैठा! सदाका छोटा हू न, इसीसे अपने छोटे हृदयसे तुम्हें माप बैठा। सदासे धारणकर सदा क्षमा ही तो करती आई हो। और अभी-अभी इस जघन्यतम अपराधीको शरण दी है। फिर भी उस साक्षात् क्षमाके समुख खडा हो क्षमा मागनेकी धृष्टता कर रहा हू ?   तुम्हें नही जान पा रहा हू   नही पहचान पा रहा हू
मै फिर चूक रहा हू   तुम जानो   अपनी थाह मुझे दो  ."

कहते-कहते निरवलव होकर उन्होने दोनो हाथोमें अपना मुह डाल दिया ।

अजनाने झुककर एक बाहसे उस विवश चेहरेको धीरेसे पास खीच लिया और वक्षसे लगा लिया । मुकुलित गोद सहज ही फैल गई . . । भयभीत खरगोश-से उस वीरकी वह विशाल काया, उस छोटी-सी गोदमें आकर मानो दुबक गई, सहज आश्वस्त हो गई । पर वह गोद क्या छोटी पड सकी है ? वह तो भव्यतर ही होती गई है ! उस अव्यावाघ मार्दवमे चारो ओरसे घिरकर उसने पाया कि उसका प्राण अब अवध्य है, वह अघात्य है । उस अशोककी छायामें वह अभय है ।

अजनाके उस जल-से शुभ्र आचलके भीतर, उस गभीर, उदार और महिम वक्ष-युगलके बीचकी गहराईमे डूबा था पवनजयका मुख । चिर दिनका आहत और आत्महारा पछी इस नीडमे विश्राम पाकर मानो शातिकी गहरी सुख-निद्रामें सो गया है । नीदमें शिशुकी तरह रह-रहकर वह पुराने आघातोकी स्मृतिसे सिसक उठता है । प्राणकी एक अतल-स्पर्शी आदिम गध उसकी आत्माको छू-छू जाती है । और जैसे वह सपना देख रहा है . . आस-पास उसके खुल पडा है दूधका एक अपूर्व समुद्र ! दिगतोको आप्लावित करता वह लहरा रहा है । मधुर विश्वास-की अपरिसीम चादनी उसपर फैली है । अभय वह उसके प्रसारपर उड रहा है, और साथ ही वह अपने नीडमें आश्वस्त है ! भीतर और बाहर सब उसका ही राज्य है । सब एक हो गया है । विकलता नहीं है, विराम ही विराम है । .

. और उसीपर एक दूसरा सपना फूट आया—वह सारी ससागरा पृथ्वी उस नीडके चारों ओर फैली पडी है—जिसे वह लाघ आया था ! उस सारे महाप्रसारको पारकर भी क्या वह उसे पा सका था ? क्या वह उसे अपना सका था ? क्या उसे लब्धि मिल सकी थी ? क्या उसमें अपना घर खोजकर वह आत्मस्थ हो सका था ? नही . . !

पर, आज, इस क्षण ? सारी दूरिया, सारे विच्छेद सिमटकर इस केंद्रमें अपसारित हो गए हैं। और इस नीडके आस-पास सर्वथा और सर्वकाल सुलभ और सुप्राप्त पडी है यह ससागरा पृथ्वी—अपनी तुग और अलघ्य गिरिमालाओ सहित। अपने आश्रित खिलौनेकी तरह छोटी-सी वह लग रही है। जानी-मानी और सदाकी अपनी ही तो है वह।
और देखते-देखते अनेक लोकातरोके द्वार पवनजयकी आखोके सामने खुलने लगे । अनेक कालातरालोकी जैसे यवनिकाए उठने लगी । इन सबमें होकर विश्वस्त, निश्चित, निर्विघ्न और अभय चला गया है उसका राजमार्ग। कोई उसे रोकनेवाला नही। सिद्धि ही स्वय रक्षिका बनकर साथ है। माथेपर अनुभव हो रहा है—सुरक्षाका वह परस।

पवनजयको एकाएक जब चेत आया तो अनजाने ही उन्होने सिर उठाया। पाया कि वे बदी है उन कोमल बाहोमें । पुचकारकर, दबाकर फिर शिशुको सहज सुला दिया गया। वहीसे आखें उठाकर पवनजयने ऊपरकी ओर देखा। उस सुगोल और स्नेहल चिबुकके नीचे, कधो और वक्षपर चारो ओरसे घिर आये सघन केशोके बीच खुली है वह उज्ज्वल ग्रीवा। उसपर पडी है तीन वलयित रेखाए। अभी-अभी देखे वे सपने मानो उन्ही रेखाओमें आकर लीन हो गये हैं। उस भव्य-सौंदर्य-गरिमाको उन्होने जैसे उझककर चूम लेना चाहा। पर ओह, क्यो है इतनी जल्दी ? यही आश्वासन क्या परम तृप्ति नही है कि वहा लिखा है—'मैं तुम्हारी ही हू!'। फिर एक बार उस सुखकी मूर्छामे वह उसी नीडमें झाक उठा।

पसीनेमें भीग आई पवनजयकी भुजाओको सहलाते हुए अजना बोली—

"उठो, बाहर हवामें चलें, गरमी बहुत हो रही है!"

कहकर पवनजयका हाथ पकड वह आगे हो ली। बाहर आकर

छतके पूर्वीय झरोखेमें, रेलिंगके खंबोंके सहारे वे आमने-सामने बैठ गये। परिमल और परागसे भीनी चादनीमें उपवन नहा रहा है। आकाश-गगामे जल-क्रीड़ा करती तारक कन्यायें खिल-खिलाकर हस पडी। सामने जा रहा पूर्ण युवा चाद, चलते-चलते रुक गया। चादके विवमे आखें स्थिर कर पवनंजय विस्मृतसे बैठे रह गये। पहली ही वार जैसे पूर्ण सौंदर्यकी झलक पा गये है। उसी ओर देखते हुए बोले—

"हा, बाईस वर्ष पूर्व, ऐसी ही तो वह रात थी मानसरोवरके तटपर। चाद भी ऐसा ही था और ऐसी ही थी चादनी। और लगता है कि तुम भी वैसी ही तो हो; कही भी तो आयुका क्षत नही लगा है! पर उन दिन क्या तुम्हें पहचान सका था? उसी दिन तो भूल हो गई थी। चेतन और ज्ञानपर गहरे अतरायका आवरण जो पडा था। इसीसे तो ऐसा आत्म-घात कर बैठा। समुख आये हुए प्यारके स्वर्गको अपने ही अहकी ठोकरसे मिट्टीमे मिला दिया। .और आज? ...आज भी क्या तुम्हे पहचान पा रहा हू? फिर-फिर भूल जाता हू.. नही पा रहा हू तुम्हें.. ."

अजना चादमे खोई पवनजयकी स्थिर और पगली दृष्टिपर आखें थमाये चुप बैठी है। उसे कुछ कहना नही है, कुछ पूछना नही है। कोई अभियोग नही है। कुमारको वह मौन असह्य हो उठा। दृष्टि फिराकर उन्होने अजनाकी ओर देखा—आवेदनकी आखोसे। अजनाकी दृष्टि झुक गई। वह वैसी ही चुप थी। पवनजय भीतर ही सिसकी दबाकर बोले—

"हुअ.. तो तुम्हें मुझसे कुछ भी पूछना नही है? समझा, तुम्हारा अभियुक्त होनेका पात्र भी मै नही हू?.. नही, तुम्हारे इस मूक और निरपेक्ष स्वीकारको सहनेकी शक्ति अव मुझमे नही है! उस दिन भी तो मेरी क्षुद्रता, इसी स्थलपर चूक गई थी। और आज फिर वैसी ही कठोर परीक्षा लोगी?"

फिर एक चुप्पी व्याप गई। जिसे प्यार किया है उसका न्याय-विचार अजनाके निकट अप्रस्तुत है। और कही कोई प्रश्न उस वियोगके निमित्त-को लेकर मनमें होगा भी, तो इस क्षण वह उसके लिये अकल्पनीय है। वह वैसी ही गर्दन झुकाये प्रतिमा-सी बैठी है। पवनजय व्यथित हो उठे। अधीर होकर तीव्र स्वरसे बोले—

"मेरे अपराधको मुक्ति दो, अजन ? नही तो यह ज्वाला मुझे भस्म कर देगी। मेरे इस मर्मको वीध दो—तोड दो अपनी इन मृदुल पगतलियोसे । जन्म-जन्मके इस पापको अपने चरणोमें विसर्जित कर लो, रानी !"

कहते-कहते पवनजय फिर भर आये और सामने बैठी अजनाके पैरोमें फिर सिर डाल दिया।

" पूछो एक वार तो मुह खोलकर पूछो .. अपने इस पापाणके पतिदेवसे कि ऐसा क्या था तुम्हारा अपराध . जिसके लिये ऐसा कडा दड उसने तुम्हें दिया है ?"

अजनाने पवनजयके सिरको एक ओरकी गोदपर खीच लिया। आचलसे उनकी आखें और चेहरा पोछती हुई बोली—

"ऐसी बातें मनमें लाकर, अब और दूर न ठेलो, देव। मैं तो अज्ञानिनी हू इतना ही जानती हू, कि तुम्हारी हू आदिकालसे तुम्हारी ही हू ! इसीसे तो उस दिन उन लहरोके बीच भी तुम्हें पहचान लिया था। कितने ही भवोमें, कितनी ही बार वियोग और सयोग हुआ है उसकी कथा तो अतर्यामी जाने ! दु ख और अतरायकी रात बीत गई—उसका सोच कैसा ? खोकर इसी जीवनमें फिर तुम्हें पा गई हू, यही क्या कम बात है ? दोप किसीका नही है। आत्माके ज्ञान-दर्शनपर मोहनीका आवरण जबतक पडा है, तबतक तो यह आवा-गमन और सयोग-वियोग चलना ही है। पर मिलनका यह दुर्लभ क्षण यदि आ ही गया है, तो इसे हम खो न बैठें। विगत दुख-रागोको, क्या इस

क्षण भी हम नही भूल सकेंगे? . .और कलका किसे पता है ? आज अपने बीच उस आवरणको मत आने दो ! आज जो मुहूर्त आ गया है, उसीमें क्यो न ऐसे मिल जायें—ऐसे कि फिर बिछुड़ना न पडे ."

कहते-कहते अजना झुककर पवनजयपर छा गई—

"पर अपराध तो मेरा ही है न, अजन ! इसीसे तो वह मेरे आड़े आ रहा है। और तुमतक वह मुझे नही पहुचने दे रहा है। तुम चाहे जितना ही मुझे पास क्यो न खीचो, पर मेरे पैरोमे जो बेड़िया पड़ी है ! पहले उन्हे खोलो रानी, तभी तुम्हारे पास मै पहुच सकूगा। उसके विना छुटकारा नही है "

"स्वार्थिनी हू, अपनी ही वात कहे जा रही हू। वोलो, अपने जीकी व्यथा मुझसे कहो"

अजनाके दोनो हाथोको अपनी हथेलियोसे अपने हृदयपर दावकर, एक सासमे पवनजय उस अभागी रातकी कथा सुना गये। आत्म-निवेदनके शेषमें वे बोले—

" .मानसरोवरकी लहरोपरसे, उस महल-अटापर तुम्हारी पहली झलक देखी, और मै कालातीत सौदर्यका अनुमान पा गया। वही अनुमान अभिमान वन वैठा ! मै आपेसे घिर गया। उस अहकारमे उस सौदर्यकी सदेश-वाहिकाको भी भूल वैठा। उसे ही मै न पहचान सका। तुलनामे विद्युत्प्रभ था या और कोई पुरुष होता, उसके प्रति कोई रोष मनमें नही जागा। रोष तो तुमपर था—तुमपर !—इसलिये कि तुम्हे जो अपनी मान बैठा था, सर्वस्व जो हार वैठा था। तुमपर ही जव सदेह कर बैठा, तो अपना ही विश्वास नही रहा। फिर माता-पिता, मित्र-सगी, किसीमें भी आश्वासन कैसे खोजता ? केवल अपने पुरुषार्थका अभिमान मेरे पास था। सामने था केवल अथाह शून्य—मृत्यु—और उसीमे भटकते ये सारे वर्ष विता दिये .."

कहकर पवनजयने एक गहरी नि श्वास छोडी। अजना बात सुनते-सुनते तल्लीन होकर वर्षो पारकी उस रातमे पहुच गई थी। वह घटना उसकी स्मृतिमे पूर्ण सजल हो उठी। सुनकर उसके आश्चर्यकी सीमा न थी। मानव-भाग्यकी इस बेबसीपर, जीवके इस अज्ञानपर उसका सारा अत करण एक सर्व-व्यापिनी करुणासे भर आया। गभीर स्वरमे बोली—

"अपना ही प्यार जब शत्रु बन बैठा, तो वह मेरे ही तो कर्मका दोष था। मै अपने ही सुखमें ऐसी बेसुध हो रही कि अपने ही सामने होनेवाले तुम्हारे ऐसे घोर अपमानका भानतक मुझे नही रहा। वह मेरे ही प्रेमकी अपूर्णता तो थी। घटना तो वह निमित्त मात्र थी, पर आवरण तो भीतर जाने किस भवका पडा था। आज भाग्य जागा, कि तुम आये, तुमने पर्दा उठा दिया! नारी हू—इसीलिये सदाकी अपूर्ण हू न आओ मेरे पूर्ण पुरुष, मुझे पूर्ण करो! कल्प-कल्पकी बिछुडी अपनी इस आत्माको छोडकर अब चले मत जाना "

अजनाने अपना एक गाल पवनजयकी लिलारपर रख दिया। सुखसे विह्वल होकर पवनजय बोल उठे—

"नारी होकर तुम अपूर्ण हो, तो पुरुष रहकर मै भी क्या पूर्ण हो सकूगा? पुरुष और नारीका योनि-भेद तोडकर ही तो एक दिन हम पूर्ण और एकाकार हो सकेंगे!"

राज-द्वारपर दूसरे पहरका मगल-वाद्य बज उठा!

इस बीच जाने कब चतुर बसतने कक्षमे आकर, वहाकी सारी व्यवस्थाको रूपातरित कर दिया। वर्षोका ढका वैभव आज फिर निरा-वरण होकर अपनी पूर्ण दीप्तिसे खिल उठा! मणिदीपोकी जग-मगने रगोका माया-लोक रच दिया। इस क्षुद्र, जड वैभवकी ऐसी स्पर्धा कि वह इस मिलनका क्रोड बननेको उद्यत हो पडा है? सब सरजाम अपनी जगहपर ठीक है।

पद्म-राग-मणिके पर्यंककी वह कुदोज्वल, उभारवती शय्या आज सूनी नही है। उपधानपर कोहनीके सहारे कुमार पवनजय अध-लेटे हैं। पास ही चौकीपर स्तवकोंमें रजनी-गधा, जूही और शिरीषके फूलोंके ढेर पडे है। शैय्यापर कामिनी कुसुमके जूमखे विखरे है। महकसे वाता-वरण व्याप्त है। पर्यंकके पायतानेकी ओर, पैर सिकोडकर अजना वैठी है। एक हथेलीपर मुख उसका ढुलका है। आखें उसकी झुकी है—अँतरके सहज सकोचसे नम्र, वह एक विंदुभर रह गई है। राग नही है, सिंगार नही है, आभरण भी नही है। चारो ओर लहराती घनी और निर्वंध केश-घटाके भीतरसे झांकती वह तपक्षीण, कल्प-लता-सी गौर देह निवेदित है। हिमानीसे शुभ्र दुकूलमेंसे तरल होकर, भींतरकी जाने किस गगोत्रीसे गगाकी पहली धारा फूट पड़ी है। कुमारिकाका हिम-वक्ष पिवल उठा है—उफना उठा है। देखते-देखते पवनंजयकी आखें मुद गई। नही देख सकेगा वह, नहीं सह सकेगा—इस हिमानी के भीतर छुपी उस अग्निका तेज। इन कलुपित आखो की दृष्टि उसे छुआ चाहती है? ओह, कापुरुप, तस्कर, लुटेरा—अत्याचारी! तेरा यह साहस? भस्म हो जायगा अभागे? एक मर्मातिक आत्म-भर्त्सनासे पवनजयका सारा प्राण त्रस्त हो उठा—

पर वह छवि जो उसके सारे कल्मपको दवाकर उसके ऊपर आ वैठी है—और मुस्करा रही है! वही है इस क्षणकी स्वामिनी, उसीका है निर्णय! पवनजयका कर्तृत्व इस क्षण मानो कुछ नहीं है।

मुंदी आखोंके भीतर फिर उसने देखी वही निरंजना तन्वगी। कलाइयोंपर एक-एक मृणालका वलय है, और सतीके प्रशस्त भालपर शोभित है सौभाग्यका अमर तिलक . जैसे अखंड जोत जल रही है। ढुलकी पलकोंकी लवी-लवी फैली वरौनियोमे भीतरका सरल अतस्तल साफ लिख आया है। अरे कौनसा है वह पुरुपार्थ, जो इसका वरण कर

सकेगा ? कौन सा वह सक्षम हाथ है, जो इसे छू सकेगा . ? पवनजयने मुह अपना उपधानमें डुबा दिया।

पर गगाकी धारा, जो चिर दिनकी रुद्धता तोडकर फूट पडी है, उसे तो वहना ही है।

पवनजयने अनुभव किया—पगतलियोपर एक विस्मरणकारी, मधुर दवाव ! रक्तमें एक सूक्ष्म सिहरन-सी दौड गई। मुह उठाकर उन्होंने सामने देखा। मुस्कुराती हुई अजनाकी वह घनश्याम पक्ष्मोमें पूर्ण खिली स्नेहकी विशाल दृष्टि !—अचचल वह उनकी ओर देख रही है। पहली ही वार आया है शुभ-दृष्टिका यह क्षण। हाथ उसके चल रहे हैं—एक गोदपर पवनजयकी एक पगतली लेकर वह दाव रही है। पवनजय सहम आये। शिराओमें एक गहरा सकोच-सा हुआ। पर पैर खीच ले, यह उनके वसका नही है। अजना मजरियो-सी हँस आई—धीमे-से वोली—

"डरो मत, मैं ही हू ! युद्धकी राहसे लौटकर आये हो न, और जाने कितनी-कितनी दूरकी यात्राए कर आये हो ! सोचा थक गये होगे तुम नही वेचारे ये पैर .।"

एक मार्मिक दृष्टिसे पवनजयकी ओर देख अजना खिल-खिला-कर हँस पडी। पवनजय गहरी लज्जा और आत्मोपहाससे मर मिटे। पर आघात कहा था ? अगले ही क्षण एक अप्रतिहत आनदकी धारामें वे डूब गये। वाल-सुलभ चचलतासे वोल पडे—

"हा हा—सव समझ गया ! अपनी सारी मूर्खताओपर अभी भी मैंने पर्दा ही डाल रक्खा है। पर तुम्हारे सामने कौनसी मेरी माया टिक सकेगी ? तुमसे क्या छिपा रह सका है ? यहा वैठकर भी अनुक्षण, मेरे पीछे छायाकी तरह जो रही हो। मेरे सारे छिद्रोपर स्वयम् जो पर्दा वनकर पडी हो। जानती हो, उन यात्राओमे मुझे किसकी खोज थी ?"

"हम अंत पुरकी वासिनिया, तुम्हारी खोजका लक्ष्य क्या जानें ? आप पुरुष हैं—और समर्थ हैं। वडे लोग है न, बड़े हैं आपके मनसूबे, आपके सकल्प और लक्ष्य ! आप लोगोके परे जाकर हमारी गति ही कहा है, जो आपके रहस्योकी थाह हम पा सके। अनुगामिनिया जो ठहरी. ." .

पवनजय सुनते-सुनते हँसी न रोक सके। अतरमें उलझी-दबी सारी पीड़ाओको, यह सरल लडकी, इन स्नेहल आखोसे, हँस-हँसकर, कैसी सहज सुलझाये दे रही है ! अशेष दुलारका ज़ोर पाकर पवनजय अल्हड़ हो पडे और बोले—

"हा, सच ही तो कह रही हो, तुम्हारी खोज तो अवश्य ही नही थी ! यो ना कहकर, सोचती हो, कि मुझे ठगकर मेरा लक्ष्य वननेका गौरव ले लोगी, सो नही होने दूगा ! . हा, तो लो सुनो, अच्छी तरह तैयार हो जाओ और कान खोलकर सुनो, वताता हू, मुझे किसकी खोज थी।"

फिर एक मार्मिक दृष्टिसे, अपनी ही ओर भरपूर खुली अजनाकी आखोमें गहरे देखते हुए खिल-खिलाकर हँस पड़े और बोले—

"मुझे मुक्तिकी खोज थी . ! आदि प्रभु ऋषभदेवकी निर्वाण-भूमिपर जाकर भी मनको विराम नही था। मुझे चाहिये था निर्वाण ! लहरोंके मरण-भवरोपर मैं वेसुध खेल रहा था। इसी बीच पीछेसे तुमने पुकारा। तुमने फेंका वह लावण्यका पाश। मैं देश-कालातीत सौंदर्य-की कल्पनासे भर उठा। तुम्हीने दिया था वह अभिमान। मैं प्रमत्त हो उठा। तुम्हें जब भूल वैठा, जिसने दी थी वह कामना, तो फिर कहा ठिकाना था ? ओ कामनाओकी देवी ! कामना दी है, तो सिद्धि भी दो ! अपने वाधे वधन तुम्ही खोलो, रानी ! मेरे निर्वाणका पथ प्रका-शित करो !... तुम्हीने जो पुकारा था उस दिन... !"

"मुक्तिकी राह मैं क्या जानूं ? मै तो नारी हू, आप ही जो वधन

हू और सदा बधन ही तो देती आई हू ।—मुक्ति-मार्गके दावेदार और विधाता है पुरुष ! वे आप अपनी जानें "

अगाध विसर्जन और सुखातिरेकसे भर आये पवनजय इस क्षण अपने स्वामी नही थे । एकाएक वे उठ बैठे और उन पैर दाबते दोनो मृदुल हाथोको अपनी ओर खीचते हुए गद्गद् कठसे बोले—

"नही चाहिये मुक्ति—मुझे बधन ही दो, रानी ! ओ मेरे बधन और मुक्तिकी स्वामिनी !" × × ×

भाषाकी सीमा अतीत हो गई । ढलती रातके अलस पवनमें बासती फूलोकी गध और भी गहरे और मधुर मर्मका सदेशा दे रही थी । आत्माके अतरतम गोपन-कक्ष आलोकित हो उठे । अनाहत मौनमें सब कुछ गतिमय था ! ग्रह-नक्षत्र, जल, स्थल, आकाश और हवायें, सभी कुछ इस एक ही सत्यकी धुरीपर एक तान और एक-सुर होकर नृत्यमय है । कहा है इस अनत आलिंगनके सिंसुका कूल ? इंद्रियोकी बाधा निमज्जित हो गई । देहके सीमात पिघल चले । पर आत्माओको कहा है विराम ? नग्न और मुक्त, वे जो एक-दूसरेमें पर्यवसित हो जानेको विकल है ।

पुरुषकी वे दिग्विजयकी अभिमानिनी भुजाए नही बाध पा रही है उस तनु, सूक्ष्म कल्प-लताको । जितना ही वे हारती है, आकुलता उतनी ही बढती जाती है । अखड और अपराजिता है यह लौ, जितना ही वह बाधना चाहता है, वह उतनी ही ऊपर उठ रही है, वह हाथ नही आ रही है ! अपरिसीम हो उठा है पुरुषका अपराध—और उसका अनुताप । पर वह नारी देनेमें चूक नही रही है । दान-दाक्षिण्यका स्रोत अक्षत धारासे वह रहा है । पुरुषने हारकर पाया कि व्यर्थ और विफल है इसे बाधनेकी उत्कठा, इस प्रवाहके भीतर तो वह जाना है, स्वय ही विसर्जित हो जाना है । निर्वाण आप ही कही राहमें मिल जायगा ! अतीत है वह इन सारी कामनाओसे । पुरुषने छोड दिया अपनेको, उस बहावकी मर्जीपर

× × × चौथे पहरका मगल-वाद्य राज-द्वारपर वज उठा !

अजनाकी नीद खुली। अकल्पनीय तृप्तिकी गहरी और मधुर नीदमे पवनजय सो रहे थे। पर अजना जानती है अपना कर्तव्य। इस क्षण उन्हें रुकना नही है। उन्हे लौटाना ही होगा—दिन झाकनेके पहले। हां, उन्हें जगाना होगा। वह धीमे-धीमे पगतलिया सहलाने लगी। पवनके स्पर्शमे जागरणका सदेश है। अजनाने पाया कि वह भर उठी है, एक मर्म-मधुर भारसे वह दवी जा रही है । शेप रात्रिकी शीर्ण चादनी झरोखेकी राह कक्षमें आकर पड रही है।

पवनजयकी नीद खुल गई।

"उठो देव!"

पायतानेकी ओर सुनाई पडा वह मृदु स्वर।

अँगडाई भरते हुए, सहज इष्ट-देवका नामोच्चार करते पवनजय उठ वैठे। सामने था वही मुस्कराता हुआ सतीका अनिंद्य उज्ज्वल मुख। दोनो एक-दूमरेकी आखोमेंसे एक-दूसरेके पार देख उठे...।

"दिन उगनेको है—जानेकी तैयारी करो, अव देर नही है!"

स्नेहके उन्मेपमें अजनाकी चिवुक पकडकर वोले पवनजय—

"जानेको कहोगी तुम्ही, और उसकी भी इतनी जल्दी हो पडी है तुम्हें ...?"

"अपनी विवशता जानती हू न। तुम्हें कव-कव रोक सकी हू? नही रोक सकी हू, इसीसे तो कह रही हू! . .पर .. हा, मेरी एक वात मानोगे ..?"

अजनाने दोनो हथेलियोसे विखरी अलकोवाले उस चेहरेको दवा लिया। फिर पवनजयके दोनो कधोपर हाथ डालकर भरपूर उनकी ओर देखती हुई वोली—

"मेरी शपथ खाकर जाओ कि अनीति और अन्यायके पक्षमें—मद

और मानके पक्षमे तुम्हारा शस्त्र नही उठेगा । क्षत्रियका रक्षा-व्रत, विजयके गौरव और राज-सिंहासनसे बडी चीज़ है ।"

क्षणभर खामोशी व्याप गई । युद्धका नाम सुनकर पवनजय बौखला आये—

"अ अजन, वह सब कुछ मुझे नही मालूम है कुछ करके मुझे रोक लो न ? मुझे नही चाहिये युद्ध, वह थी केवल मरीचिका, मान कषायकी वही मोहनी, जिसके वश मे इतने वर्षों भटकता रहा । उसीकी चरम परिणति है यह युद्ध । इससे मेरी रक्षा करो, अजन ।"

निपट हत-बुद्ध, अज्ञानी बालकी तरह वे विनती कर उठे ।

"नही, रोक नही सकूगी । लौटकर तुम्हें जाना ही होगा । तुम्हारा ही पक्ष यदि अन्यायका है तो उसके विरुद्ध भी तुम्हें लडना होगा । पर इस क्षण रुकना नही है, मेरे वीर ।"

पवनजयकी शिरा-शिरा एक तेजस्वी वीर्यसे ओत-प्रोत हो उठी । कधोपर पडे अजनाके दोनो हाथोको हाथमें लेकर चूम लिया और बोले—

"मुझे शपथ है इन हाथोकी, और इन हाथोका आशीर्वाद ही सदा मेरी रक्षा भी करेगा ।"

उल्लसित होकर पवनजय उठ बैठे और प्रयाणकी तैयारी करने लगे । इतने ही में बाहर प्रहस्तका उच्च स्वर सुनाई पडा ।

अजनाके भीतर एक नामहीन, निराकार-सा सदेह जाग उठा । भीतर एक धुक-धुकी-सी हो रही है । क्या कहे, कैसे कहे, वह स्वय जो नही जान रही है । पलगके पायताने सोच और सकोचमें डूबी वह खडी है ।

"देवी, दिन उगनेको है, विदा दो ।"

अजनाको चेत आया । बिना दृष्टि उठाये ही, पवनजयके पैरोमें सिर रखकर वह प्रणत हो गई । पवनजयने झुककर, बाहुए पकड

उसे उठा दिया। दृष्टि उसकी अब भी झुकी ही है। पतिके एक हाथको धीरेसे अपने हाथमे लेकर बोली—

"सुनो, मेरी विवशताकी कथा भी सुनते जाओ।....दुनियाकी आखोकी ओट तुम कब मेरे पास आये और कब चले गये, यह सब तो कोई नही जानता और नही जानेगा! तब पीछेसे किसी दिन कुछ हुआ . तो परित्यक्ता अजनापर कौन विश्वास करेगा....?"

कहते-कहते अजनाका कठ अतरके आसुओसे काप आया।

पवनंजयके भीतर असीम उल्लासका वेग था। पुरुषको अपनी तृप्ति और अपना जीतव्य मिल चुका था। अपने सुखके इस चाचल्य और उतावलीमें नारीकी इस विवशताको समझनेमे वह असमर्थ था। तुरत भुजापरसे वलय, और उगलीसे एक मुद्रिका निकालकर अजनाके हाथोमें देते हुए पवनजय बोले—

"पगली हुई है अंजन, मुझे लौटनेमे क्या देर लगनेवाली है? चुटकी बजातेमें सब ठीक करके, तुरत ही लौटूगा। तेरी दी शपथ जो साथ है। फिर भी अपने मनके विश्वासके लिये चाहे तो यह रख ले!"

वलय और मुद्रिका हाथमें लेकर फिर अजनाने पैर छू लिये। और उठकर बोली—

"निश्चिन्त होकर जाओ, मनमें कोई खटका मत रखना.. !"

आसू भीतर झर गये। ओठोपर मगलकी मुस्कराहट थी!

प्रहस्त द्वारपर खडे थे। दूरसे ही उन्होंने झुककर देवीको प्रणाम किया। पवनजय उनके साथ हो लिये।

पौ फटते-फटते यान दृष्टिसे ओझल हो चला। अजना और वसत छतपर खड़ी एकटक देखती रहीं, जबतक वह बिंदु बनकर शून्यमें लय न हो गया।

प्रवासियोंके मुह अस्पष्ट और अनिश्चित खबरें आदित्यपुरमें आती रहती हैं।

... अजनाके शरीरमे गर्भके चिह्न प्रकट हो चले। नवीन मजरियोसे लदे रसाल-सी अजनाकी सारी देह पाडुर हो चली है। मुखपर फूटते दिनकी स्वर्णाभा दीपित हो उठी है।—दिन-दिन उन्नत और उदार होते स्तनोंके भारसे वह नम्रीभूत हो चली है। अगोमें विपुलताका एक उभार और निखार है। भीतरके गहन और सघन आनद-भारसे एक मधुर गांभीर्यका प्रकाश बाहर चारो ओर फूट पडा है। श्री, काति, रस और समृद्धिसे आनत अंजना जब चलती है, तो गजोंकी भव्य गति विनिंदित होती है—पैरो तलेकी धरती गर्वसे डोल-डोल उठती है। प्रकाशपर कौनसा आवरण डालकर उसे छुपाया जा सकता है? वह तो फैलता ही है, क्योंकि वही उसका निसर्ग धर्म है। लोक-दृष्टिने देखा और अनेक चर्चाए अदर ही अंदर चलने लगी।

भीतर जो भी अजनाका मन दिन-रात चिंता और भयसे सत्रस्त है, पर उस सबपर पडा है जाने किस अदृष्ट भावी विश्वासका बल-शाली हाथ, कि एक अमद आनदकी धारामें वह अहर्निश आप्लावित रहती है।

इसीसे कभी-कमी जब अकेलेमें चिंतामें डूबी वह उदास हो जाती तो वसत मौन-मौन उसके हृदयकी व्यथाको आखोंसे पी लेती। उसे छातीसे लगाकर मूक सान्त्वना देती। अजना एकाएक हँस पडती। चेहरेकी वेदना उस हँसीसे और भी मोहक हो उठती। अजना कहती—

"तुम चुप रहती हो, जीजी, पर मै क्या नही समझ रही हू? पर विधाताके कौतुकपर अब तो हँसी ही हँसी आ रही है। देव-दर्शनके लिये तुम मुझे मदिरतक नहीं जाने देती। ऐसे डरकर कै दिन चल सकूगी? मुझे भय भी नही है और लज्जा भी नही है। क्या मुझे इतना हीन होनेको कहती हो, जीजी, कि उनकी दी हुई थातीकी अवज्ञा करू? उनके दिये

हुए पुण्यको पाप बनाकर दुराती फिरू, यह मुझसे नही हो सकेगा . . !"

"पर अजन, लोक-दुनिया तो यह सब नही जानती ।"

"हा, दुनिया यह नही जानती है कि किस रात वे अभागिनी अजनाके महलमें आये और कब चले गये। पर उन्हें मुझतक आनेके लिये, या मुझे उनके पास जानेके लिये क्या हर बार, लोक-जनोकी आज्ञा लेनी होगी?"

"पर अजना, दुनिया तो इतना ही जानती है न, कि कुमार पवनजयने अजनाको कभी नही अपनाया। उसकी दृष्टिमें तुम पहले ही दिनकी परित्यक्ता हो। तुम्हारे और उनके बीचकी राह सदाके लिये जो बद हो गई थी—इसके परेकी बात दुनिया क्या जाने?"

अजनाके चेहरेपर फिर एक अम्लान हँसी झर पडी—

"कैसी भोली बातें करती हो, जीजी! इस सबका उपाय ही क्या है? मुझे या तुम्हें घूम-घूमकर क्या इसका विज्ञापन करना होगा? और करोगी भी तो क्या दुनिया उसे सच मान लेगी? सच बात तो यह है, जीजी, कि अधी लोक-दृष्टि यदि मेरे और उनके बीचकी राहको देख पाती, तो दुनियामें इतने अनर्थ ही न होते!—पाप और दुराचारोकी सृष्टि ही न होती। विधिका विधान ही कुछ और होता। मै कहू, फिर विधिका विधान होता ही नही, मनुष्यका अपना ही मागलिक विधान होता। पर स्थूल लोक-दृष्टिपर राग-द्वेषोके आवरण जो पडे है। इसीसे तो मानव-मनमें अशेष दुख-क्लेशोकी वार्ताए चिरकालसे चल रही है। दिन-रात आत्मा-आत्माके बीच सघर्ष है। यह सब इसीलिये है कि एक-दूसरेको ठीक-ठीक समझने जाननेकी शक्ति हममें नही है।"

"पर अजन, मनुष्यकी जो विवशता है, उसकी अपेक्षा ही तो जगतका वाह्य व्यवहार चल सकेगा।"

"भीतर और वाहरके वीच तो पहले ही खाई है—इस खाईको और वढाये कैसे चलेगा, जीजी? भीतरके सत्यपर विश्वास कर, वाहरकी दुनियामे उसके लिये सहना भी होगा। उस सत्यकी प्रतिष्ठा करनेके

लिये, अचल रहकर सम-भावसे, लोकमे प्रचलित मिथ्याको प्रतिरोध देना होगा, खपना होगा। अपनेको चुकाकर भी उस सत्यको प्रकाशित करना होगा!"

"पर उस सत्यका आधार ही यदि छिन जाय, तो उसे प्रकाशित कैसे कर सकोगी?"

"सत्यका अतिम आधार सदा कोई स्थूल, ठोस चीज़ तो नही होती जीजी! प्रेम और आत्मा कोई रग-रूपवाली मणि तो नही होती है कि चट निकालकर दिखा दें। 'उन'पर और अपने ऊपर विश्वास यदि अचल है, तो बाहरका कौनसा भय और प्रहार है जो मेरा घात कर सकेगा? जो धन वे सौंप गये है, उसकी रक्षा करनेका बल भी वे आप मुझे दे गये है। केवल एक ही चिंता मनको दिन-रात बीध रही है—कि वे किसी दुश्चक्रमें न पड गये हो। जाते-जाते उनका मन युद्धसे विमुख हो गया था। उनकी इच्छाके विरुद्ध, मैंने ही उन्हें भेजा है। शपथ दी है मैंने कि वे अन्यायके पक्षमें नही लडेंगे, चाहे वह अपना ही पक्ष क्यों न हो। इसीसे रह-रहकर चिंता होती है—कि किसी गहरे दुश्चक्रमें न पड गये हो? मेरी बातको वे कुछका कुछ न समझ बैठे"

कहते-कहते अजनाकी आखें भर आईं। वसतने उसे फिर पास खीचकर पुचकार लिया और छातीसे लगाकर सान्त्वना देने लगी।

× × × कानोकान बात सारे अतपुरमे फैल गई—। राज-परिकरमें भी दबे-छुपे चर्चाए होने लगी। महादेवीने सुना और सुनकर दोनो कानोमें उगलिया दे ली। आखें जैसे कपालसे बाहर निकल पडती थी। उनके क्रोध और सतापकी सीमा नही थी। 'ऐसी आई है कुलक्षिणी कि पहले तो मुझसे पुत्र छीना, उसके जीवनको नष्ट कर दिया, और उसकी पीठ पीछे कुलकी उज्जवल कीर्तिमे ऐसे भीषण कलककी कालिख लगा दी!' स्वय जाकर बहूसे मिलने या उसे बुलवाकर पूछ-पाछ करनेका धैर्य राज-मातामें नही था। जाने या

बुलानेकी तो बात दूर, इस कल्पनासे ही शायद वे सिहर उठतीं। अपनी विश्वस्त गुप्त-चरियोंको भेजकर ही उन्होंने सारा पता लगा लिया था। दूसरे इधर कुछ दिनोंसे अजना भी निःशंक होकर आन-साथ, देव-मदिरमें दर्शन करने जाने लगी थी। तब सभीके सम्मुख वह प्रकट थी। अजनाके इस दुःसाहसपर देखनेवालोंको भीतर-भीतर अचरज जरूर था, पर बातकी गहराईमें जाना किसीने भी उचित नहीं समझा। स्वय महादेवीने भी एक दिन छुपकर उसे देख लिया। सदेहका कोई कारण नही रह गया! पापी यदि निर्लज्ज होकर हाटमें घूम रहा है तो क्या कुलीन और सज्जन भी अपनी मर्यादा त्यागकर उसका सामना करे? पापके स्थूल लक्षण जब प्रकट ही है तो उसमें जानना क्या रह गया है? पतित तो समाजके निकट घृणा, उपेक्षा और दडका ही पात्र है—उसके साथ सहानुभूति कैसी, स्पर्श कैसा? यही रही है अबतक कुलीनोंकी परपरा! अपनी मर्यादाकी लीक लाघकर दुराचारीके निकट जाकर उससे बात करना, यह सज्जन और कुलीनकी प्रतिष्ठा के योग्य बात नही है। पर क्या है इन कुलवानों और सज्जनोंके चरित्र और शीलकी कसौटी, जिसपर इनका न्यायाधिकरण अधिष्ठित है? पाखड, स्वार्थ, शोषण—सबलके द्वारा अबलका निरतर पीडन और दलन। यही पार्थिव सामर्थ्य है उनका सबसे बडा चरित्र-बल—जिसकी ओट उनका बडासे बडा पाप स्वर्ण और रत्नोंकी शय्यामें प्रमत्त और नग्न लोट रहा है—वह लोकमे ऐश्वर्य और पुण्य कहकर पूजा जा रहा है!

महादेवी केतुमतीने महाराजको बुलाकर सब वृत्तात कहा। पछाड खाकर वे धरतीपर औंधी गिर पडी और विलाप करने लगी। महाराजकी मतिको काठ मार गया। उनकी आखोके आसू रुक नही सके। एक अवश क्रोधसे उनके ओठ फड-फडाने लगे। पुत्र विमुख था, फिर भी उसके प्रति अविश्वास उन्हे नही था। इधर वह जबसे युद्धपर गया है, उनके मनमें एक नई आशा बलवती हो रही थी। शायद अब

उसका मन फिर जाये। पर भाग्यने यह दूसरा ही खेल रच दिया। विचित्र है कर्मोकी लीला—! उनके सतोगुणी मनमें, अस्पष्ट, जड नियतिपर ही क्रोध है;—मनुष्य और उसकी दुर्बलतापर क्रोध उनके वसका नही है।

रानी रुदन करती-करती उच्च स्वरमें राजाकी ओर नागिन-सी फूत्कार कर बोली—

"देख ली अपनी गुणियल बहूको? बडे गुण गा-गाकर लाये थे! कुलघातिनी कुलटा, उसके दुष्कृत्योका अत नही है!"

राजा पत्थरकी तरह अचल है, पर भीतर उनके क्रदन मचा है। कानोमे उनके गूज रही है, लोक-निंदाकी वेधक किलकारिया। सत्य उनकी कल्पनासे परे था। लाख कुछ हो, पर पुत्र क्या मा-वापसे छुपा है? और फिर पवनजय जो कर बैठा है, वह क्या कभी टला है? फिर, वाईस वर्ष वीत गये, कभी कोई वात नही हुई। आज उसके पीठ फेरते ही यह सव कैसे घट गया? सत्यकी जाच करनेको क्या रह जाता है?

रानीने अनेक विलाप-प्रलापकर राजाकी स्वीकृति ले ली कि पापिनको महलसे निकालकर राज्यकी सीमासे वाहर कर दें, उसे अपने वापके घर महेंद्रपुर भेज दिया जाय। उसके और उसके पितृ-कुलके लिये इससे अच्छा दड और क्या होगा? उस पुत्र-घातिनी और कुल-घातिनीको एक क्षण भी अव इस राज-घरानेके आगनमें नही रक्खा जा सकेगा। नही तो पापका यह वोझ वशको रसातलमे ही पहुचा देगा।

अगले दिन सवेरे ही रानीने रथ लेकर अक्रूर नामा सारथीको वुला भेजा। स्वय रथपर चढकर फुकारती हुई रत्न-कूट प्रासादपर जा पहुची।

अजना और वसतमाला तव स्वाध्याय करती हुई, तत्व-चर्चामे तल्लीन थी। भीषण आधी-सी जव राज-माता एकाएक प्रकट हुई, तो अजना और वसत किंकर्तव्य-विमूढ देखती रह गई! रानी अगारो-सी लाल हो रही है, और क्रोधसे थर-थरा रही है। पहले तो दोनो वहनें

भयभीत हो सकपका आई। फिर अजना साहस कर पैर छूनेको आगे बढी . .

. कि बिजलीकी तरह एक प्रचड पदाघात उसकी छातीमें आकर लगा। वह तीन हाथ दूर जा पडी।

"राक्षसी कलकिनी ओ पापन, तूने दोनो कुलोके भालपर कालिख पोत दी! तूने वशकी जडोमें कुठाराघात किया है . और अब सती बनकर बैठी है शास्त्र पढने!. किससे जाकर किया है यह दुष्कर्म किससे जाकर फोडा है सिर ?"

कहते-कहते रानी फिर झपटी, और कसकर एक-दो लातें अजनाके सिर और पीठमें मार दी। वसत बीचमें रोकनेको आई तो उसकी पसलीमें एक घूसा देकर, बिना बोले ही उसे दूर ठेल दिया। वसत उस मर्मांतिक आघातसे घप्‌से धरतीपर बैठ गई।

"सच बता डायन, सच बता, छ महीने हुए वह युद्धपर गया है, और उसके पीठ फेरते ही तुझे सूझा यह खेल ? पर कबकी जान रही हू तेरे कृत्य, तभी तो जाती थी मृग-वन, अरुणाचलकी पहाडी! गाव-बस्तियो और जगलमें जो भटकती फिरती थी! भाग्य तो तभी फूट गया था, पर किससे कहती? पति तो धर्मात्मा और उदासीन ठहरे और पुत्र अपना ही नही रहा।"

अजना औधी पडी है, अकप, मेरु-अचल!

"हतभागिनी पत्थर होकर पडी है—कुछ भी नही लगता है! धरती भी तो पापका भार ढो रही है—जो फटकर इस दुष्टाको नही निगल जाती! हमारे ही भाग्यका तो दोष"

क्रोधसे पागल रानीकी छाती फूल रही है—नथुने फडक रहे हैं। हापते-हापते ज़रा दम लेकर फिर बोली—

"अरी ओ भ्रष्टे, चल उठ यहासे जा अपने बापके घर जा! एक क्षणको भी देर हुई तो अनर्थ घट जायगा। दुनिया

कुलके मुखपर लाछनका कीचड फेकेगी। अरे नरककी वहिया खुल पडेगी . उठ शखिनी ..उठ, देर हो रही है ।"

कहते हुए राजमाताने पास जा अजनाको झकझोरकर उठाना चाहा। अजनाने उनके पैरोमें गिरकर उनपर अपना सिर डाल देना चाहा। तव पैर खीचकर, एक ओर ठोकरसे उसे दूर ठेलती हुई महादेवी वोली—

"दूर हट. ..पापिन, दूर हट.. अग छू लेगी तो कोढ निकल आयेगी....!"

अजनाके दोनो खाली हाथोंके वीच विखरे केशोमें ढका माथा पडा है। रुदन छाती तोडकर फूट ही तो पडता था, पर आज उसकी छाती ही जैसे वज्र की हो गई है। पहले अजनाके मनमे आया कि अपनी वात कहे। पर परिस्थितिका ऐसा अध और विषम रूप देखकर, वह स्तब्ध रह गई। उसका समस्त मन-प्राण विद्रोहसे भर आया। नही, वह नही देगी कैफियत। सुनने और देखनेको जिनके पास आखें और कान नही है, क्षण भरका भी धैर्य जिन्हें नही हैं, सिरसे पैर तक जो अपने ही मान-मदमे डूबे है, और सत्यकी जिनमें जिज्ञासा नही है, निष्ठा नही है, असत्यपर ही खड़ी है जिनकी सारी नीतिया और मर्यादाए।—वे करेंगे 'उनके' और मेरे वीचका न्याय-विचार ? वे किन कानो सुन सकेंगे उस रातकी कथा, जिनके हृदय और आत्मा ही मर चुके है। नहीं, उसे कुछ भी कहना नही है—चाहे उसे यही गाड दिया जाये। 'उनके और मेरे वीच नही है मृत्युकी वाधा !'—और फिर एक अपार वलसे वह भर उठी। ध्यानमें 'उन' चरणोको ही पकड वह आत्मस्थ और चुप पड़ी रह गई।

वसतने राज-माताके पैर पकड लिये। उन्हे शपथे दिला-दिलाकर उसने उस रातकी कथा कह सुनाई। प्रमाण-स्वरूप अजनाके हाथमेंसे वलय और मुद्रिका निकालकर दिखाये। परिणाम और भी उल्टा

हुआ । पुत्र मासे विमुख है, और इस कुलटाके पास वह आया होगा ? युद्धसे लौटकर, क्षत्रियकी मर्यादा लोपकर वह आया होगा इसके पास ? एक मर्मातिक ईर्ष्या और क्रोधमे रानी फिर पागल हो गई। कषायमें प्रमत्त सुलगती आखे, अंधी हो रही थी। वलय और मुद्रिकाको पहचानकर भी अनदेखा कर दिया। प्रेम और सद्भाव ही जब हृदयसे निर्मूल हो चुका था, मिथ्यात्वका ही जब एक आवरण चारो ओर पडा था, मनुष्यको मनुष्यका ही आदर और विश्वास जब नही रहा, तो निर्जीव वलय और मुद्रिकाकी क्या सामर्थ्य कि वे सत्यको प्रमाणित करते। राज-माताने व्यगका अट्टहास करते हुए वसतपर प्रहार किया—

"छि कुटिनी, तू ही माया न रचेगी तो और कौन रचेगा ? ऐसे दुष्कृत्य कर, अब भी झूठ बोलते और शील बखानते, जबान नही कट पडती ? बडी आई है सतवती, सती बहनके गुण गाने ! दुःशीलाओ, जाने कितने पापका विष तुमने इस महलमें अबतक फैलाया होगा। पूर्वजोकी पुण्यभूमिमें नरक जगाया है तुम दोनोने मिलकर ! जाओ, इसी क्षण जाओ, निकलो मेरे महलसे ! हटो आखोके सामनेसे, अब तुम्हें देख नही सकूगी "

कहकर रानीने द्वारकी ओर देखा और साथ आई हुई विश्वस्त अनुचरियोको पुकारा। उन्हें सक्षिप्त आज्ञा दी—

"इन दोनोको ले जाकर नीचे खडे रथमे बिठाओ !"

फिर झपटती हुई राजमाता बाहर निकली। सारथीको बुलाकर आज्ञा दी—

"सुनो अक्रूर, महेद्रपुरकी सीमापर इन दोनोको छोडकर शीघ्र आओ, और मुझे आकर सूचित करो !"

इधर दासिया उठायें, उसके पहले ही वसतने उठाकर अजनाको अपनी गोदपर ले लिया। प्रगाढ मुंदी आखोके आसुओसे सारा मुख

घुल गया है। पर अब सूख गये हैं वे आसू। देह जैसे विदेह हो गई है। झकझोरकर एक-दो बार वसतने कहा—

"अजन—ओ अजन!"

एक विस्मृत प्रसन्नताकी अर्ध-स्मितमे अजनाके ओठ खुले। चेहरेकी सारी वेदनामें एक तेज झल-मला उठा। केवल इतना ही निकला उन ओठोंसे—

"उनकी आज्ञा मिल गई है, जीजी! चलो वे बुला रहे है, देर मत करो!"

वसंत अपने हाथोंके सहारे अजनाको लेकर सीढिया उतर रही थीं। तब फिर एक बार महादेवी गरज उठी—

"जा पापिन, अपने बापके घर जाकर अपने कियेका प्रायश्चित कर। तुझे और तेरे पितृ-कुलको यही दड काफी है!"

.देखते-देखते रथ, अत पुरके गुप्त मार्गसे, राज-प्रागणके बाहर हो गया।

[ २३ ]

हवासे वाते करता हुआ रथ महेंद्रपुरके मार्गपर अग्रसर था। प्रभात-पवनके शीतल स्पर्शसे सचेत होकर अजनाने वसतकी गोदमें आखें खोली। पथके दोनो ओर स्निग्ध, श्यामल, घटादार वृक्ष सवेरेकी कोमल धूपमें दमक रहे है। कही दूरकी अमराइयोसे रह-रहकर कोयलकी टेर सुनाई पडती है। आस-पास खेतोमें सरसो फूली है। तिस्सीके नीले फूलोमें शोभाकी लहरें पड़ रही हैं। दूर-दूर खेतोके किनारे इक्षुके कुज है। कही घने पेडोके झुरमुट हैं। उनके अतरालसे गाव झांक रहे हैं। आकाशके छोरपर कही श्वेत बादलोके शिशु किलक रहे है। अजनाकी स्थिर आखें उसी ओर लगी है। ..भीतरके मुकुलित सौंदर्यका आभास-सा पाकर वह सिहर आई। अधरोपर और कपोल-पालीमें स्मितकी भवर-सी

पड गई। वेदना आखोके किनारे अजन-सी अजी रह गई है, और पुतलिया भावीके एक उज्ज्वल प्रकाशसे भरकर दूरतक देख उठी—जैसे क्षितिजके पार देख रही हो

अपने गालपर फिरती हुई वसतकी उगलियोको हथेलीसे दवाती हुई अजना वोली—

"क्या सोच रही हो, जीजी ?"

"सो क्या पूछनेकी वात है, वहन ?"

"सो तो समझती हू, जीजी, मुझ अभागिनीके कारण तुमको वार-वार अपमान और लाछना झेलनी पड रही है। और आज तो पराकाष्ठा ही हो गई। इसीकी ग्लानि मनमें सबसे वडी है। मेरी राहमें यदि विधिने काटे ही विछाये है, तो तुम्हें उनपर क्यो घसीटू। नही वहन, यह सव अव मै और नही चलने दूगी। मुझे मेरी राहपर अकेली ही जाने दो। देखती हू कि इस राहका अत अभी निकट नही है। अव तक जिस तरह चली हू और आज भी जो हुआ है, उसे देखते अव मेरी यात्रा सुगम नही है। तुम्हें लौट ही जाना चाहिये, जीजी! तुम अपने घर जाओ, तुम्हें मेरी शपथ है! जाकर अपने वच्चो और पतिकी सुध लो। विश्वास रखना, तुम्हे अन्यथा नही समझूगी। सुख-दुख और जन्म-मरणमें तुम्हारा आशीर्वाद सदा मेरे साथ रहेगा!"

"पत्थरकी नही हू अजन, तेरी वेदनाको समझ रही हू। जानती हू कि तेरी होड़ मै नही कर सकूगी। तेरी राहकी सगिनी हो सकू, ऐसी सामर्थ्य मेरी नही है। पर मेरी ही तो मति गुम हो गई थी, और उसीका परिणाम है कि यह सकटकी घडी आई है। क्यो मैने तुझे स्वच्छद होने दिया, क्यो जाने दिया मृगवन, क्यो उस दिन कुमारको रोका नही—कि वीरको यो गुप्त राह आना और चले जाना शोभा नही देता। स्वार्थी पुरुषने सदा यही तो किया है! और स्वार्थ पूरा होनेके वाद कव उसने पीछे फिरकर देखा है ? पर मोहके वश ये सारी भूलें

मुझीसे तो हुई है। तेरे साथ रहकर इनका प्रायश्चित्त किये बिना, किस जन्ममें इनसे छूट सकूंगी?"

"तुम्हे छोड़ा नहीं जा रही हूं, जीजी! दूर रहकर भी क्या क्षण भर भी जीवनके पथमें तुम मुझसे विलग रही हो? मेरी कांटोंकी राहमें, अपना हृदय बिछाकर तुमने सदा उसे सुखद बनाया।—तुम्हींने दिखाया था उन्हें, मानसरोवरकी लहरोंपर, पहली बार! रूठकर वे गये, तो तुम्हीं उस रात उन्हें लौटा लाईं, और जगाकर मुझे सौंप दिया। —और आज इस क्षण भी तुम्हारे ही सहारे यहां तक चली आई हूं। अपने पथपर निःशंक तुमने मुझे जाने दिया। इसलिए कि तुम्हारे मनमें उनके लिए आदर था।—और माना कि वे गुप्त रास्ते आये, वीरकी तरह वे नहीं आये। पर जो वेदना वे लेकर आये थे, वह क्या तुमसे छिपी है, जीजी? वे तो मुझे कृतार्थ करने आये थे! उस क्षण उन्हें मेरी जरूरत थी। और मैं थी ही किस दिनके लिए? तुम्हीं कहो, क्या उस क्षण उन्हें ठुकरा देती?—तुमसे जो हुआ है, वह कल्याण ही हुआ है, जीजी। पर देखती हूं कि तुमसे लेती ही आई हूं, देनेको मुझ कंगालिनीके पास क्या है?.. और आज यदि दिया है तो कलंक! यही सब अब नहीं सहा जाता है, जीजी। इसीसे कहती हूं कि अब यह भार मुझपर मत डालो—मैं तुच्छ दबी जा रही हूं इसके नीचे—।"

"तेरी बात कुछ समझ नहीं पा रही हूं, अंजन! क्या है तेरा निर्णय, जरा सुनूं!"

अंजनाकी वे पारदर्शिनी आंखें, फिर किसी दूर अगम्यमें जा अटकी थीं। कुछ देर मौन रहा, फिर एक दबी निःश्वास छोड़कर वह धीरे-से बोली—

" मेरा क्या निर्णय है, जीजी, पथकी रेखा तो वे आप ही खींच गये हैं। देख नहीं पाती हूं, फिर भी अनुभव करती हूं कि उसीपर चल रही हूं। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हूं, राह खुलती जाती है।—

माना कि सामने साप बिछे हैं और भालू झपट रहे हैं, खदक और खाइया भी है—¹ पर हँस-हँसकर वे पास बुला रहे हैं, तो रुक कैसे सकूगी ? उनके इगितपर, नरककी आगमें भी चलना पडेगा, तो हँसती हुई चली चलूगी। क्योकि जानती हू कि वे गिरने नही देंगे—हाथ जो झाले हुए है।—जाने ही वाली थी, कि उस रात वे आकर खडे हो गये और राह रोक ली ! क्या वह सब झूठ था, जीजी, क्या वह मात्र अभिनय था ? अपनाया तो है ही, पर और भी परीक्षा लिया चाहते है, तो क्या मुकर जाऊगी ?"

वसतने देखा कि कैसी अबोध है यह लडकी ! बाहरकी यह ठोस दुनिया इसके समुख है ही नही। भीतरका जो रास्ता है, वही इसके लिए एकमेव सत्य है। परिस्थिति इसके लिए सहज उपेक्षणीय है। नि शक उसे तोडती हुई यह चली जा रही है—निर्द्वंद्व और अकेली।

"अपने बाहरकी दुनियाके प्रति, अपने सभी इष्ट-जनोके प्रति, इतनी निर्मम हो जाओगी, बहन ? अपने आत्मीयोपर, अपने जन्म देनेवाले जनक और जनेतापर भी, क्या तुम्हारा विश्वास और प्रेम नही रहा ? अपनी सासकी दुष्टताके लिये, अपने सभी स्नेहियोंको ऐसा कठोर दड मत दो। सारी दुनियाको इतनी निष्ठुर मत समझो, अजना। अपनी जन्मभूमि महेंद्रपुरको छोडकर तुम और मैं कही जा नही सकेंगे।"

"बाहरकी दुनियाकी अवज्ञा करू, ऐसा भाव रच मात्र भी नही है मनमें। और कौनसी शक्ति है, जो ऐसा कर सकी है ? मिथ्या है वह अभिमान। लोक है, इसीसे तो उसका ज्ञाता-द्रष्टा ईश्वर भी है। लोकसे क्या वह अलग है ? फिर लोकसे द्रोह करके, उससे विमुख होकर, मेरे होनेका क्या मूल्य है ? और तब क्या मै रह भी सकूगी ? लोक और माता-पिता, सबकी कृतज्ञ हू कि उन्हीके कारण तो मै हू। और सास-ससुरका और किसीका भी दोष इसमें नही है। दोष तो अपने ही पूर्व सचित कर्मोंका है, और उसका फल अकेले ही भोगना होगा। अपने किये

पापोका फल बाटती फिरू, यह मुझसे नही हो सकेगा। पुण्य फलता तो बांटकर ही कृतार्थ हो लेती। अपने कियेका दड उन्हें नही देना चाहती, इसीसे तो वहा जानेकी इच्छा नही है। उपेक्षाका भाव किसीके भी प्रति नही है। किसीके भी प्रति कोई आक्रोश या आरोप भी मनमें जरा नहीं है। पर सबको देनेको मेरे पास दुख ही दुख है, और वैसा करनेका अधिकार मुझे नही है। जन्म-भूमिके प्रति, आत्मीयोके प्रति, और लोकके प्रति शत-शत बार मेरी दूरसे ही वदना है! —हो सके तो उन सबसे कहना कि अजनाको वे अन्यथा न समझें।"

"तुम भूलती हो अजन! तुम मनुष्य और उसके प्रेम मे ही अविश्वास कर रही हो। यदि दुखमें ही मनुष्य, मनुष्यका नही है, तो फिर आत्मा-आत्माके बीचका अटूट सबध ही मिथ्या है। सकटकी इस घडीमें ही तो उस प्रेमकी परीक्षा है।"

"प्रेम कहा नही है, जीजी? उसपर अविश्वास किये कैसे बनेगा? प्रेम है कि हम सब जी रहे हैं। सत्ताका विस्तार ही प्रेमके कारण है। पर मनुष्य मात्रकी अपनी विवशताए भी तो है। वे भी तो अनेक मिथ्यात्वों और कर्म-परपराओमे बँधे हैं। इसीसे भीतर बह रही प्रेमकी सर्व-व्यापिनी धारा व्यक्ति-व्यक्तिके बीच रह-रहकर टूट जाती है, कहे कि लोप हो जाती है। तब जागते हैं, पारस्परिक सघर्ष, कषाय और विग्रह। उस धाराको जोड सकनेकी शक्ति जिस दिन पा जाऊगी, उसी दिन उनके बीच आऊगी! अपनी ही अपूर्णता और विषमता लेकर आऊगी, तो उनके जीवन-व्यवहारको शायद और भी जटिल बना दूगी . ।"

"ठीक-ठीक तेरा अभिप्राय नही समझी हू, अजन? कैसे तू भागनेकी तर्क-युक्ति सोच रही है। समझती हू कि तुझे पकड़कर रखनेकी शक्ति मुझमें नही है। फिर भी स्पष्ट जानना चाहूगी, तू क्यो अपने स्वजनोके पास नही जाया चाहती? वे तो तुझे प्राणाधिक प्यार करते हैं। कितनी ही बार वे तुझे लेने आये, तेरे पैरतक पकड लिये, पर तू न गई! आज

भी इस आपद्कालमें वे तो तुझपर विश्वास ही करेंगे। उनकी गोद तेरे लिये सदा खुली है। क्या तू सोचती है कि वे भी तुझपर सदेह करेंगे?"

अजना कुछ देर चुप रही, फिर बाहरकी ओर देखती हुई ईषत् मुस्कराकर बोली—

" वैसा भी हो जाये तो कोई बडी बात नही है, जीजी! विश्वास न भी कर सकें तो क्या इसमें उनका कोई दोष है?—कर्मावरण तो सब जगह एकसे ही पडे है, न? उनके और मेरे बीच भी तो वे आडे आ ही सकते है। इसके उदाहरण लोकमें कम नही हैं। उन्हें ही कौनसा प्रत्यक्ष प्रमाण देनेको है मेरे पास?—सिवा इसके जो छिपाये छिप नही सकता! और लोक-दृष्टिमें यही तो है पापका साक्षात् रूप! उन स्वजनोकी भी अपनी परिस्थिति है। वे भी तो एक लोक-समाजके अग हैं। उनकी भी तो अपनी कुल-प्रतिष्ठा, लोक-मर्यादा और सदाचारके नीति-नियम है। अज्ञात कालसे चली आई उन्ही परम्पराओसे वे भी तो बँधे है। उन सस्कारोको तोड देना, उनसे ऊपर उठकर देख सकना, उनके लिये भी सहज सभव नही है। पहले मै परित्यक्ता थी, फिर मुझसे मर्यादा टूटी, और अब तो गुप्त व्यभिचारके कलकका टीका भी मेरे भालपर लगा है! इस सबको लेकर वहा जाऊगी, तो वहा भी उन सबके विक्षोभ और क्लेशका कारण ही बनूगी। वहाके लोक-समाजकी मर्यादाको भी धक्का लगेगा। उसे तोडकर वे मुझे अपनायेंगे, तो परिणामहीन हिंसा और कषाय लोकमें फैलेगा। वह इष्ट नही है, जीजी! कल्याण उसमें न उनका है न मेरा, और सत्यकी राह ऐसे नही खुलेगी। उल्टे सघर्ष ही बढेगा।"

"लोक-समाज यदि अज्ञानके अधेरेमें पडा है, तो उसे यो छोडकर चले जानेमें, निरा स्वार्थ और भीरुता ही नही है? अपना ही बचाव यदि यो सब करने लगेंगे, तो लोकाचारका मागलिक राज-पथ कौन प्रशस्त करेगा?"

"पर लोकको पथ दिखानेकी स्पर्धा करू, ऐमी सामर्थ्य मेरी नही है, जीजी ! आप अपने पथपर चली चलू, अपने सत्यपर अटल और अच्युत रह सकू, वही मेरे लिये वहुत होगा। और तव किसी दिन यदि उस सत्यका सपूर्ण वल पा गई, कुछ लोकको अर्पित करने योग्य जुटा सकी, तो उस दिन वापस आऊगी, और लोकके प्रति अपना देय देकर उसका ऋण चुकाऊगी। मेरे सत्यको सिद्ध होनेमें अभी देर है, जीजी। जव वह प्रकट होगा तो अपना काम आप करेगा, फिर चाहे कितनी ही दूर और कही भी क्यो न रहू। तव किसीके भी मनमे मेरे लिये दुराग्रह और कषाय नही जाग सकेगा, प्रेम ही जागेगा। तव मेरी सामर्थ्य होगी, और मुझे अधिकार भी होगा, कि मै सवके वीच आकर सवकी हो सकू और सवको अपना सकू। उसी दिन आऊगी, जीजी।—आज तो मै सवकी अपराधिनी ही हू, और सवके दुखका कारण ही हो सकूगी। —देनेको है मेरे पास केवल कलककी कथा ।"

"तुझे पाकर यह जीवन धन्य हुआ है, अजनी! तुझे छोडकर मै कही जा नही सकूगी, यह तू निश्चय जानना।—पर अपनी जीजीकी एक वात तुझे माननी ही होगी। तू नगरकी सीमापर ही रहना और मै एक वार महाराजके पास जाऊगी। सत्य उनपर प्रकट करूगी, देखू वे क्या कहते है। उसके वाद तेरा ही निर्णय मुझे मान्य होगा। तुझे छोडकर मै इस लोकालयमें रह सकू, यह इस जन्ममें और जीतेजी मुझसे नही हो सकेगा। मेरे गलेपर हाथ रखकर कह दे, तू मेरी यह अन्तिम विनती अस्वीकार नही करेगी"

कहते-कहते वसतने अजनाका हाथ लेकर अपने गलेपर रख लिया। अजनाकी आखोमें आसू छल-छला आये। उसने लेटे-लेटे ही एक वार आंखे उठाकर वसतके मुखकी ओर देखा और वोली—

"तुम्हें अपने ही लिये नही भेज रही हू, जीजी, पर तुम्हारे पतिदेवने और उन वालकोने क्या अपराध किया है, जो उन सवसे विछुडाकर

तुम्हें छीने जा रही हू । पूर्व भवमें जाने किसको विछोह दिया था, सो तो इस भवमें झेल रही हू, और अव तुम्हे विछुडाकर कहा छूटूगी, यही देख लेना, जीजी ! और मैं कुछ न कहूगी "

अजनाकी आखोमें आसू उफनते ही आये। वसतने अपने आचलसे उन्हें पोछते हुए कहा—

"तेरे दुखसे अपने दुखको अलग नही देख पा रही हू, अजन ! विवश हो गई हू । जो कर रही हू, उसमें दायित्व मेरा ही है। तेरा सकल्प वह नही है, जो कर्म तुझे वाधेगा । घर जाकर सव ठीक कर आऊगी । निर्णय हो चुका है, अजन, दुविधा अव नही है ।"

एक दूसरेके हाथ अपनेको सौंपकर दोनो वहनें मानो निश्चित हो गई । ऐसा अद्वैत भीतर सध गया है, कि जैसे वचनका विकल्प अव दोनोके बीच सभव ही नही है। चुप और वद होकर अपने आपमे वे एकीभूत हो रही है । और ऐसे ही जाने कव दोनोकी आख लग गई । योजनोकी दूरी लाघता हुआ रथ चला जा रहा था, पर वे दोनो लडकिया उस सघर्ष और सकटकी अनिश्चित घडीमें भी विलकुल अविचल भावसे निद्रामें मग्न थी । ऐसा लगता था जैसे कुछ हुआ ही नही है ।

ढलते हुए अपराह्नमें दोनोकी नीद जाने कव खुल गई। दूरपर दति-पर्वतकी नील शृग-रेखा दीखने लगी थी । देखा और अजनाका हृदय एक मार्मिक वेदनासे हिल उठा । रोए-रोएमे सौ-सौ जन्म मानो एक साथ जाग उठे हो । दति-पर्वतके शिखरपर वैठकर वीणा वजानेवाली वह मुक्त-कुतला, निर्दोप वालिका फिर उसकी आखोमे सजल हो उठी । आह, कितनी दूर, किस कालातीत लोकमें चली गई है वह ! क्या वह उसे कभी न पा सकेगी ? और उसे पानेके लिये एकवारगी ही अजनाका सारा अत करण विकल और पागल हो उठा । खूव प्रगाढतासे आखें मूदकर व्यथासे भर आये अपने अतरको वह सयत करने लगी।

"अजन !"

आखें खोलकर अजनाने वसतकी ओर देखा। दोनोने एक-दूसरेको देखकर एक वेदना भरी मुस्कराहट वदल ली। साझके सूर्यकी म्लान किरणोमें दूरपर, महेद्रपुरकी उन्नत प्रासाद-परपराए और भवन दीख रहे है। देव-मदिरोके भव्य स्वर्ण गुवज, देवत्वकी महानताको घोषित कर रहे है। शिखरोपर उडती हुई ध्वजाए मगलका सदेश दे रही है। आस-पासके उपवनो और उद्यानोमे ताल झाक रहे है। खेतोंके किनारे ग्राम-रमणिया जलकी कलसिया भरकर जाती हुई दीख पडती हैं। कोई-कोई विरल पुर-जन या पुर-नारी भी इधर आते दीख पडते है।

अजनाकी आखोके आसू न थम सके। वाईस वर्ष वाद आज फिर आई है वह अपनी जन्म-भूमिमें—पिताके द्वारपर शरणकी भिखारिणी वनकर—कलकिनी होकर! क्या वे देंगे प्रश्रय? और देगी प्रश्रय यह जन्म-भूमि? पर, प्रश्नको जैसे उसने दवा देना चाहा, और मन ही मन वार-वार केवल प्रणाम ही करती रही।

महेंद्रपुरके सीमास्तभके पास आकर रथ रुका। राहमें उतर पडनेकी वात अजनाकी कल्पनामे भी नही आ सकी थी। क्योकि सारथी-का कर्तव्य वह जानती थी। और सास-माताके दिये दडको जहातक निभा सके निभा देनेसे भी उसे इनकार नही था। अजना और वसत रथमे नीचे उतरी।—धरतीपर पैर जैसे अजनाके ठहर नही रहे है। थर-थर उसका सारा शरीर काप रहा है, जैसे अभी गिर जायगी। सडकके एक ओरके वृक्ष-तले वसतमाला उसे सम्हालकर ले गई। सारथी रथसे उतरकर विदा मागने आया।—मूक पशुवत् वह अजनाकी ओर देख रहा था। आखोमें उसके आसुओकी झडी लगी थी। दूर ही भूमिपर पडकर उसने वार-वार प्रणाम किये। अपने कठोर कर्तव्य-पालनके लिये क्षमा मागनेको शब्द उसके पास नही थे। घोर ग्लानि, अनुताप, और करुणामे ओठ उसके खुले रह गये थे—और फटी आखोके आसुओमें उसकी मूक वेवसी विलख रही थी।

अजना बडी कठिनाईसे अपनेको ही सम्हाल पा रही थी। पर सारथीकी उस सहज मानवीय सवेदनाको देख वह अपना दुख भूल गई। अक्रूरके भूमिपर पडे सिरपर हाथ फेरकर बोली—

"भैय्या अक्रूर, तुम्हारा कोई दोष नही है।—जाओ अपने कर्तव्यका पालन करो! प्रभु तुम्हारे साथ हो—"

तीरके वेगसे रथ आदित्यपुर जानेवाले मार्गपर लौट रहा था।

[ २४ ]

सामने ही पेडोकी वीथिमें होकर एक वन-पथ गया है। उससे कुछ ही दूर जाकर नील-पर्णा नदी मिलती है। उस नदीके एकात और शात तटपर एक तपोवन है। अभय, निरापद और पावन है वह भूमि। निर्ग्रंथ, वीतराग तपस्वियोका वह विहारस्थल है। वात्सल्यका ही वहा साम्राज्य है। जीवमात्रको वहा प्रश्रय है, और सकल चराचर वहा निर्भय है। किसीसे कोई पूछ-ताछ या रोक-टोक नही है। विधि-निषेध वहा नही है। प्रकृत जीवनकी ओर जानेकी साधना ही वहा मौन-मौन अनाहत चल रही है। इसीसे वहा जीव मात्रका अपना शासन है। किसीका गुण-दोष या छिद्र देखनेका वहा किसीको अवकाश नही है। केवल निर्वसन श्रमण, या भिक्षुणिया अतिथियोकी तरह वहा आते-जाते है। कभी-कभी कोई विरल जिज्ञासु जन भी इधर आ निकलते है। मनुष्य, मनुष्यका वहा सहज मिलन है, बीचमें सदेह नही है, प्रश्न नहीं है। लोक-जनोका उधर विशेष आवागमन नही है।

वसत अजनाको उसी तपोवनके एक भिक्षुणी-आवासमें ले गई। आवास सूना पडा था, आश्रयार्थिनी वहा कोई न थी। बालको-से नग्न साधु-जन नदीके उस पार विचरते दीख पडे। कोई योगी किसी शिल-तल पर समाधिमें मग्न है। तो कोई मुनि किसी दूरके टीलेपर अचल खडे

कायोत्सर्गमें तल्लीन हैं। डूबते सूर्यकी अंतिम आभामें उनके मुखकी तप पूत श्री और भी दिव्य हो उठी है। देखकर अजना भक्ति-भावसे गद्गद् हो उठी हैं। रोया-रोया एक अकारण सुखके आसुओसे भर आया। युग-युगकी बिछुडनके बाद जैसे किसी परम आत्मीयका मिलन हुआ हो। नदी-तटपर जहा खडी थी, वही आचल पसारकर अजना साप्टाग प्रणिपातमें नत हो गई। एक गहरी आत्म-निष्ठासे वह भर उठी है—कि यहा है वह आश्रय जिसे कोई नही छीन सकेगा।

आवासके दालानमे खूटीपर एक मोर-पिच्छिका पडी है। वही लेकर वसतने थोडी-सी जगह बुहार ली। ताकपर पडे दो-एक डाभके आसन जोडकर बिछा दिये। उसपर अजनाको सुखासीन कर दिया। वही आलेमें पडा एक कमडलु उठाकर वसत नदी-तटपर चली गई। कमडलुमें पडे छन्नेसे छानकर जल भर लाई। उसने और अजनाने मुह-हाथ धोकर जल पिया। भोजनका प्रश्न इस समय उनके निकट बहुत गौण हो गया है—सो उस ओर ध्यान ही नही गया है। अजना जब स्वस्थ होकर बैठी थी, तभी वसतने कहा—

"जाती हू, बहन, छोडकर जाते जी टूट रहा है। पर और उपाय ही क्या है। लेकिन यहा कैसा भय ? केवल मनका मोह ही तो है न। ....प्रभुसे विनती करना अजनी, कि मनुष्यको वह विवेक दे, और मैं सफल होकर उसका प्रसाद लेकर लौटू।"

"प्रभु तुम्हारे साथ है, बहन—पर वे कहा नही है ? घट-घटमें वे बसे है। पर हमी उन्हें पहचाननेमे चूक जाएँ तो क्या उनपर अविश्वास कर सकेंगे ? मनमें फिकर मत रखना, मैं यहा बहुत सुखी हू। . जाओ बहन .।"

और जैसे कुछ कहते-कहते अंजना रुक गई। वाष्पसे कुछ धुधली हो आई, निगूढ आखोसे वह वसतकी ओर देखती रह गई .

"चुप क्यो रह गई अजन .. ?"

नदीकी धाराकी ओर देखती हुई अजना धीरेसे बोली—

"   कुछ नही, जीजी, यही कह रही थी कि स्नेहके वश होकर अधीर मत हो जाना। तुममें होकर अजना ही याचनाका आचल पसारकर, पिताके समुख जा रही है—इसे भूल मत जाना, बहन! प्रहार आये, तो उन्हे भी अपनी भिक्षा ही समझकर इस आचलमें समेट लाना। उनकी अवज्ञा मत होने देना। मा-बापकी दी हुई वह मधुकरी जीवनके पथमें पाथेय ही बनेगी! रोष करने योग्य वह नही है   "

कहते-कहते वह एकाएक चुप रह गई। फिर जैसे एक आसूका घूट-सा उतार गई और बोली—

"   क्या इतना ही कहना काफी न होगा, जीजी—कि अजना कलकिनी होकर श्वसुर-गृहसे निकाल दी गई है—क्या पिताके चरणोमें उसे आश्रय है? अपना सतीत्व सिद्ध करनेके लिये उस रातकी कथा कहती फिरू, यह अब नही रुचता, जीजी! लगता है कि द्वार-द्वारपर जाकर उनका अपमान कराती फिर रही हू! उनके लिये मुझे किसकी साक्षी खोजनी होगी? क्या ऐसे असमर्थ है वे, कि उन्हें 'मेरे' होनेके लिये प्रमाणोंसे सिद्ध होना पडेगा? वे तो आप ही अपनेको एक दिन प्रकट करेंगे।   चाहो तो भले ही इतना कह देना कि—मै उन्हीकी हू—और उनके और मेरे बीचकी बात जगत जो जानता है— वही अतिम सच नही है .   !"

कुछ देर चुप रहकर फिर अजना बोली—

"हा, तो जीजी, यही कह रही थी कि प्रश्रय और दयाकी भीख तो कलकिनी अजनाको चाहिये। सतीको उसकी जरूरत नही है। रक्षाकी जरूरत तो पापिनीको ही है। यदि उसे शरण नही मिली, तो फिर उसे वचितकर, सती बनकर भीख मागनेकी विडबना मुझसे नही होगी।—इतना ही ध्यानमें रखना, जीजी, और कुछ न कहूगी   ।"

एक-टक वसत अजनाके उस तेजो-दीप्त चेहरेको देखती रह गई। फिर धीरेसे बोली—

"भगवान् देख रहे हैं, तेरी बहन हो सकने योग्य होनेका भरसक प्रयास करूगी। आगे तो मेरी ही मति काम आयेगी। जल्दी ही लौटूगी बहन।"

कहकर वसंतमाला धीरे-धीरे चली गई।

सामने नदी किनारेके झाउओमें अवसन्न सध्याकी छायाए घनी हो रही थी। कही-कही नदीकी सतहपर, मलिन स्वर्णाभामे वैभव बुझ रहा था। मानो पार्थिव ऐश्वर्य अपने गलित मान और नश्वरताका सकरुण आत्म-निवेदन कर रहा हो। कोई-कोई जल-पछी विचित्र स्वर करते हुए जलपर छाया डालते निकल जाते। नही छोडा है कही उन्होने अपना पद-चिह्न।

नदीके पार, सध्याके शात आलोकमें, स्थान-स्थानपर मुनि-जन कायोत्सर्गमें लीन हो गये हैं। फिर एक बार झुककर अजनाने उन्हें प्रणिपात किया और आप भी अपने आसनपर ही सामायिकमें मग्न हो गई।

. . आवेदनके वेदनसे सारा प्राण गभीर हो गया। प्रतिक्रमण आरभ हुआ। आत्मालोचनकी विनम्र वाणी भीतर नीरव गूज उठी—

"ज्ञानमे और अज्ञानमे होनेवाले मेरे पापोका अत नही है। इसीसे तो भव-सागरमें गोते खा रही हू। कितने ही जन्म यो निर्लक्ष्य भटकते बीत गये हैं। बार-बार मैं प्रमाद और मोहके आँचलमें अचेत हो जाती हूं—सज्ञा खो बैठती हू। अपने सुख-दुख, जन्म-मरणकी स्वामिनी मैं आप हू?—पर मै कहा हू, तुम ही तो हो! तुम्हें नही देख पा रही हू, नही रख पा रही हू अपने पास। इसीसे तो बार-बार ये सारी भूलें हो जाती हैं।

" . .यही बल दो प्रभो, कि अपने दु खोसे अधीर होकर उनका दायित्व औरोपर न डालू। अपना ही कर्म-फल जान अपने ही

एकातमे धैर्य-पूर्वक उसे सह लू। और सर्वके कल्याण और मगलकी भावना ही निरतर भा सकू। वे जो इस दुखके निमित्त बने हैं, चाहे वे सास-माता हो, श्वसुर-पिता हो या और कोई हो, वे भी तो जड कर्मके ही वश ऐसा कर रहे हैं। वे उसके वाहक निमित्त मात्र हैं। क्या वे चाहकर ऐसा कर सकते हैं? और मुझे दुख देकर वे आप भी क्या कम दुखी होंगे? क्या आप ही कोई अपने जाने, अपनेको दुख देना चाहेगा? पर वे अज्ञान और लाचारीमें ही यह सब कर रहे हैं। ससार-चक्र चलानेवाली दुर्धर्ष कर्म-शक्ति उनसे ऐसा करा रही है। इसमें उनका कोई दोष नही है। उनके प्रति कोई अभियोग या अनुयोग मनमे न हो, क्रोध-रोष न हो, ग्लानि और घृणा भी न हो। कर सकू तो उन्हें प्रेम ही करू, ऐसा बल दो नाथ!—अजनीको छोड गये हो तो जहा हो, वहींसे उसकी बात सोलहो आने रख लेना, इतनी ही विनती है। हर्ष-शोक, सुख-दुख, लाभ-अलाभ, मणि-तृण, महल-स्मशान, सबमें सम-भाव धारण कर सकू। भूत मात्र सब अपने बाधव है—चारो ओर सब अपने ही तो हैं! अरे क्या है पराया? परायापन इसलिये है कि अपनानेकी शक्ति जो अपने ही में नही है ।"

अजनाने जब आखे खोली तो रात पड चुकी थी। अधेरा चारो ओर घना हो गया था। नदीका मद कल-कल और शून्यमें झिल्लियोकी झनकार ही सुनाई पडती थी। पेड अनेक भयानक आकृतियोमें खडे भविष्यकी दुर्दृश्य छाया-लिपि लिख रहे थे।

उधर जब वसत महेंद्रपुरमें पहुची तो सायाह्न निविड हो रहा था। राज-प्रागणमे पिछले गुप्त रास्तेसे प्रवेश पानेमें उसे बडी कठिनाई पडी। उसे मालूम हुआ कि महाराज इस समय अपने निज महलके विहार-काननमें वायु-सेवनको निकले हैं। समस्या और भी कठिन हो गई। उसने पाया कि यहा अब वह निरी परदेशिनी ही हो गई है। इधर कुछ ही वर्षोमें यहा बहुत बडा परिवर्तन हो गया है। सारा राज-परिकर ही अपरिचित-

सा लगता है। बडी युक्तियो और कठिनाइयोसे उसने अनेक राज-द्वार पार किये। तब मिल गया उसे एक बहुत पुरातन, परिचित और विश्वासु भृत्य। किसी तरह विहार-काननमे पहुच ही तो गई। मर्मरके पच्ची-कारीवाले हंस-नौकाकार सिंहासनपर महाराज महेंद्र विराजे हैं। एक ओरकी ऊची चौकीपर उनके प्रियतम सामत महोत्साह बैठे हैं। दूसरी ओर एक छोटे सिंहासनपर ज्येष्ठ राज-पुत्र प्रसन्नकीर्ति बैठे हैं। कापते पैरो साहसपूर्वक वसत महाराजके समुख जा उपस्थित हुई। देखकर तीनो जन आश्चर्यसे स्तब्ध हो गये। असमय और विना सूचनाके, महा-राजके सर्वथा निजी इस विहारमें यह स्त्री कैसे प्रवेश पा गई है? बात कुछ असाधारण है।

"आर्य जय-घोषकी पुत्री वसमाला देव-चरणोमें अभिवादन करती है!"

कहती हुई वसत सिंहासनके पाद-प्रातमे प्रणत हो गई। नाम सुनकर तीनोने वसतको पहचाना। वसत माथा झुकाये, गलेमे आचल डाले, नमित दृष्टिसे खडी रह गई। महाराजने पूछा—

"कुशल तो है न शुभे! अजनीका कुशल-सवाद कहो .।"

वसतने फिर सारा साहस वटोरकर कहा—

"प्रगल्भता क्षमा हो देव, अकेलेमें कुछ निवेदन किया चाहती हू!"

महाराजका सकेत पाकर कुमार प्रसन्नकीर्ति और सामत महोत्साह उठकर कुछ दूर निकल गये।—वसत पास जाकर पाद-पीठके पास घुटनोके वल वैठ गई। आचलमें गाठ देते हुए और वार-वार क्षमाका आवेदन करते हुए उसने वात कहना आरभ किया—

"देव, समझो कि अजनी ही आचल पसारकर पिताके समुख आई हूं। चाहो तो अपनी पुत्रीको अपने ही पैरो तले कुचल देना।—पर उसे निर्मम दुनियाकी ठोकरोमे मत फेंक देना—।"

कहकर उसने अधिकसे अधिक नम्र और करुण भावसे अंजनाका आत्म-निवेदन महाराजके समक्ष रखा। जहाँतक उससे बन सका अपने मनकी भारी रुलाईको दबाकर भी उसने अंजनाकी कठोर मर्यादाकी रक्षा की।

महाराजने सुना तो लगा कि निरभ्र आकाशसे वज्र टूटा हो। संज्ञा-शून्य होकर उन्होंने दोनों हाथोंमें मुँह ढाल दिया। बड़ी देरतक ऐसे ही जड़-वत् वे बैठे रह गये। भीतर-भीतर एक दुर्धर ज्वाला-मुखी दहक रहा था। वे एकाएक भिनते स्वरमें फूट पड़े—

"हाय आकाश, फट पड़ो! पृथ्वी, विदीर्ण हो जाओ!— यह सुननेको एक क्षण भी मैं जी नहीं सकूँगा ... नहीं ... नहीं. नहीं देख सकूँगा ... इन आँखोंसे . नहीं सुन सकूँगा इन कानोंसे ..."

कहते-कहते वे सिहर-सिहर आये। दोनों हाथोंसे कभी आँखें मींचने लगे तो कभी कान मींचने लगे। कुछ देर रहकर फिर उत्तेजित रुदनके स्वरमें बोले—

" ... आह, अंजन, दोनों कुलोंको डुबा दिया तूने! . ... धिक्कार है मेरा वीर्य ... धिक्कार है यह मनुष्य-जन्म. ... मिथ्या है यह विक्रम और प्रताप . धूल है यह वैभव और अभिमान. ."

कहकर कपालपर उन्होंने हाथ मार लिया। अपने ही आपमें धीरे-धीरे रुदनके स्वरमें गुन-गुनाये—

"सौ पुत्रोंके बीच . एक प्राण-पालिता लाड़िली बेटी ...! आह. .अपने ही वीर्यने भयंकर नागिन बन, छातीपर चढ़कर. डस लिया ...!"

कहते-कहते दोनों हाथोंसे जैसे वे अपने उन्नत वक्षको मसोसने लगे। फिर बोले—

" ... किस भवका वैर लिया है तूने? ... बेटी बनकर ऐसा

विश्वास-घात किया?....इस बुढ़ापेमें मा-बापको पत्थरकी नावपर फेंक दिया तूने। डूबकर किस नरकमें स्थान मिलेगा ।"

....और लोक-निंदाकी तप्त शलाकाएं जैसे राजाके समस्त शरीरमें बिंधने लगीं।

"दूर हट निर्लज्जे, सामनेसे जा ...! तुरत तुम दोनो जाकर कहीं डूब मरो! . मेरी पुत्री यदि है तो उसे कहना कि अपना कलंकित मुंह दुनियाको न दिखाती फिरे।. . पर, आह, नहीं है वह मेरे उज्ज्वल कुलका वीर्य!... अनार्या है वह .. कोई प्रेतिनी कौतुक करनेके लिये मेरे घर जन्मी है।

".. जा निर्लज्जे.. परे हट .. अनर्थ न हो जाय . क्षत्रियका शस्त्र स्त्रीघातका अपराधी न बन बैठे ..नहीं तो तुम दोनोको ओफ ."

कहते-कहते राजा सिंहासनकी मसनदपर लुढ़क पड़े। वसंतने सत्यको प्रकट करनेमें कुछ भी उठा न रक्खा था। उसे लगा कि मनुष्यकी वाणीमें इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। शायद अंजनाकी इच्छासे भी परे वह सभी कुछ कह गई है। उसे स्वयं ही जो भान नहीं रहा था। पर राजाके पास वह सब सुननेके लिये कान नहीं थे। वसंत चुपचाप वहांसे उठकर चली गई। रास्तेमें एक बार उसके जीमें आया कि माका हृदय ही पुत्रीकी इस बेबसीको समझ सकेगा। क्यों न वह राज-माताके पास जावे। पर उसने सोचा कि मांका हृदय तो अपराधिनी बेटीके लिये भी पसीजेगा ही, पर उसका क्या बस है? पुरुष-शासनके पाषाणी-कपाट जो इस हृदयपर लगे हैं—राजाका जो रूप उसने देखा है—उसके आगे मा क्या बोल सकेगी? साथ ही उसे यह भी लगा कि यह सब करके शायद वह अंजनाके साथ विश्वास-घात भी कर रही है। शायद परोक्षमें उसका अपमान कराती फिर रही है। रथमें जिस अंजनाकी बात करते उसने सुना था—उसे ऐसी दयनीय बना देना उसे सह्य नहीं है।

कुछ ही देरमें सामन्त महोत्साह और कुमार प्रसन्नकीर्तिने आकर पाया कि राजा सिंहासनकी पीठिकापर अर्द्ध-मूर्च्छित-से पड़े हैं। आँखोंसे उनके आँसू बह रहे हैं। पहले तो दोनों जन विस्मयसे स्तब्ध हो रहे। फिर महोत्साह अपने उत्तरीयसे हवाकर राजाको होशमें लाये। राजाको इन दोनोंसे कोई दुराव नहीं था। संक्षेपमें उन्होंने सब कहा। साथ ही उनपर अपना कठोर निर्णय सुनाकर वे चुप हो गये।

कुमार प्रसन्नकीर्तिका मन सुनकर हाय-हाय कर उठा। पिताका वज्र-कठोर निर्णय सुनते-सुनते उनके जीमें आया कि वे उनका मुँह बद कर दें—पर राजाकी यह भीषण मूर्ति देखकर उनकी हिम्मत न हुई। भीतर-भीतर उनका जी बहुत हुआ कि वे सहसा पक्ष-प्रतिपादन करें—पर क्या है आधार? और वस्तु-स्थिति जैसी भी उसमें कौनसी विषमता सभव नही थी? पर महोत्साहसे न रहा गया। वे साहस बटोरकर बोले—

"राजन्, आदित्यपुरकी रानी केतुमतीकी दुष्टता तो जगत-प्रसिद्ध है। वह अधर्मिणी है—और नास्तिक-सूत्रपर चलनेवाली वह लोकमें विख्यात है। स्वभावकी वह बहुत ही कर्कशा है। पर अजनाके त्याग और तपस्याके जीवनकी कथा तो लोकमें प्रसिद्ध है। उसे लोग कहते हैं सती! देवी वसतमालासे बातका ठीक-ठीक पता लगाना चाहिये। नही तो उतावलीमें अनर्थ हो जायगा। आपसे धीर-धुरधर वीरका ऐसे मामलोंमें अधीर होना उचित नही—। देव, अन्याय न हो—"

"नही महोत्साह, सब खत्म हो चुका, सुननेको अब कुछ नही रहा है। वसतमालाने कहनेमे कुछ भी बाकी नही रक्खा है। बालपनसे वे दोनों अभिन्न रही हैं, फिर वसत सत्यको कैसे प्रकट करेगी? कितनी बार अजनाको हम सब लिवा लाने गये—पर अकारण ही वह मुकर गई—। अवश्य ही कोई खोट उसके मनमे थी। और फिर सतीका सत् छुपा नही रहता है। सती होती तो सास-ससुरको ही न जीत लेती!

वे ही क्यो उसे निकालते ?—पाप चाहे सतानका ही रूप लेकर क्यो न आये, वह त्याज्य ही है, महोत्साह ! फिर लोक-मर्यादाको यदि राजा ही तोडेगा, तो कौन उसकी रक्षा करेगा ? लोकसे वडा कौन है ? रक्षकके चोलेमें यदि भक्षक वन जाऊगा, तो जन्म-जन्म नरक पाऊगा। जाओ मेरे अभागे वेटे, उस पापिनसे जाकर कहो कि वह जीवित रहकर दोनो कुलोको लोकमें लजाती न फिरे—!"

× × × कुछ दूरके रास्तोमे घूम-फिरकर फिर वसत कही झाड़ीकी आडमें आ खडी हुई थी। उसने यह सारा वार्तालाप सुन लिया। उसे लगा कि पैरोके नीचेकी पृथ्वी धँसी जा रही है। सामनेका यह सारा अवकाश ही लीलनेको चला आ रहा है।—झूठा है ससार, झूठी है उसकी ममता-माया और प्रीति। झूठे है मा-वाप, पुत्र और पति, कुटुंव और आत्मीय। सव स्वार्थके सगे और साथी हैं। दुखके समय नही है कोई रखनेवाला। आप ही अपनेको नही रख पाता है यह जीव, तो फिर दूसरा कौन इसे रख सकेगा ? अपने घर जानेकी इच्छा भी वसतकी नही हुई। आप वे अपनी रक्षा करेंगे। और कौन जानेगा कि अभागिनी मै कहा गई हू ?

चितातुर और क्षुव्ध हृदयसे भागती हुई वसत सीधी भिक्षुणी-आवासको लौट आई। पाया कि अजना डाभकी शय्यापर चुपचाप सोई पडी है। शायद उसे नींद लग गई है। चुप-चाप पास वैठकर, किसी तरह दो पहर रात विता देनेका सकल्प वह करने लगी। इतने ही में जैसे कोई तीव्र पीडा हो रही है, ऐसी कसमसाहटसे अजना पसली दवाकर तडप उठी। हल्की-सी आह उसके मुहसे निकल गई।

"अजन !—नींद आ रही है ?"

पीडित स्वरको दवाती हुई अजना वोली—

"ओह जीजी, कव आ गईं—? वोली क्यो नही—मैं तो जाग ही रही थी।"

"तकलीफ हो रही है, अजन ?"

जवाब नही आया। फिर धीरेसे केवल इतना ही कहा—

"कुछ नही जीजी, यो ही "

कहते-कहते वह आवाज़ फिर आहत हो गई। उसकी बढती हुई छट-पटाहट वसतसे छुप न सकी।

"अजनी, मुझसे छिपाकर किससे कहेगी ? क्या समझ नही रही हू—उ दुष्टाने गर्भके अग्रपर ही आघात जो किया था।"

"जीजी, न याद करो, बिसार दो बिसार दो——जीजी, तुम्हें मेरी सौगध है"

कहते-कहते अपने हाथसे अजनाने वसतका मुह बद कर देना चाहा। पीडा शात होनेपर, कुछ देर बाद अजनाने पूछा—

"अपनी अजनीका भाग्य परख आई, जीजी ?—चुप क्यो हो —बोल न ?"

मर्म चीर देनेवाली उस कठकी ज्वलत वाणीमें हँसीकी रणकार थी।

वसत अपनी रुलाई न रोक सकी। फटती छातीमे सिसकिया भरती हुई वह आसू पोछने लगी। टूटते हुए स्वरमें वह बोली—

" जा आई बहन,—नही मानी तेरी बात !—मेरा भी तो पूर्व भवका वैर तुझपर था, सो वसूल करने गई थी। तेरा अपमान कराकर ही तुष्ट हो सकी हू मैं—! मनुष्यके चोलेमे धरतीपर दानव ही बस रहे हैं, बहन,—मनुष्यपर रहा-सहा जो विश्वास था वह खतम कर आई।—पिता नही हैं वे, राक्षस हैं असुर नराधम ! क्षात्र-धर्मका पाखड करके असत्यसे लडनेमें वे मुह छुपाते हैं। वे करेंगे आसुरी शक्तियोसे मानवका त्राण ?"

उत्तेजित होकर वसत बोलती ही गई। पहले तो अजना चुप-चाप सब सुनती रही, फिर गभीर अनुनयके स्वरमें बोली—

"बस बस बस करो जीजी, मिथ्यासे जूझकर अपनी

आत्म-हानि न करो। अज्ञानियोसे तो सहानुभूति ही हो सकती है—भवकी उसी रात्रिमें हम सभी तो भटक रहे है।"

पर वसतसे आवेशमें रहा न गया। सव सुनाकर ही तो उसे चैन था। राजाका एक-एक शब्द उसने दुहरा दिया।

सुनते-सुनते अजना जाने कव मृतवत् हो रही। वसतने देखा, उसे मूर्छा आ गई है। अपने क्रोधावेश और अपनी भूलपर वह अनुतापसे विकल हो गई। आह, वह पहले ही पीडित थी, और ऊपरसे उसने आकर ये अगार चढाये दुखिनीके मर्मपर—? पानी छिडककर वह अजना-को होशमें लानेका प्रयत्न करने लगी। वडी देर वाद अजनाको चेत आया—

वसतकी गोदमें मुह ढककर केवल इतना ही निकला उसके मुहसे-अस्फुट, पर ज्वलत—

" नही जीजी, नही मर सकूगी पिताकी आज्ञा लाघनेको विवश हू जीवन और मरणके स्वामी वे आप है .. वे ही जानें! मैं कुछ नही जानती। और यह जो आ रहा है ?"

कहते-कहते फिर वह एक मार्मिक पीडासे कसमसा उठी। भीतर अनिवार जीवनका महास्रोत जैसे सारी वाधाओकी पर्वत-काराको तोडनेके लिये छट-पटा रहा था

[ २५ ]

अजनाके सो जानेपर वडी राततक वसतकी आखोमे नीद नही थी। अनेक चिताओ और विकल्पोसे मन उसका अशात था। क्षुब्ध और वेचैन वह करवटे वदल रही थी। जो होना था वह तो सव हो लिया, पर अव कहा जाना होगा, क्या करना होगा ? क्या है अव भाग्यका

विधान ? गर्भके भारसे पीडित, घायल, चारो ओरसे त्यक्ता और अप-मानिता सोई है यह भोली लडकी। दुखको इसने समुद्र होकर अंगीकार किया है। उसकी क्या सामर्थ्य है जो इसपर दया करे, इसके भाग्यपर आसू बहाये। फिर भी चिंताओंका पार नही है, राह असूझ है। अशन भी नही है, वसन भी नही है। दोनोंके शरीरपर केवल एक-एक दुकूल पडा है। रत्नोके महलमे रहनेवाली युवराज्ञीके शरीरपर रत्न तो दूर, धातुका एक तार भी नही है। पानी पीनेको पासमे पात्रतक नहीं है। कल सवेरेसे दोनोके पेटमे अन्नका एक दाना भी नही पडा है। और तिसपर यह गर्भिणी है।—पर रुकना नही है, चले ही जाना है अदृष्टके मार्गपर। अदय, स्वार्थी मनुष्योंकी जगतीसे दूर, बहुत दूर।

सवेरे ब्राह्म-मुहुर्तमें दोनो बहनें उठी। नदी-तीरपर जाकर शुचि-स्नान किया। पास ही पेडो तले, नित्य-नियमानुसार सामायिकमें प्रवृत्त हुई।—अजनाने देखा कि पथकी रेखा अतरमें प्रकाशित हो उठी है। दुविधाका कोई कारण नही है।

उठनेपर बोली वसत—

"कहा जाना होगा अब ?"

तपाकसे उत्तर आया—

"वनकी राहपर, जहा सबका अपना राज्य है। जीवन वहा नग्न और निर्बाध है। सभी कुछ सहज प्रवाही है। प्रभुत्वका मद वहा नही है। छिपाव-दुराव वहा नही है, उसीसे पाप भी नही है। माना कि हिंसा और सघर्ष जीवोमें वहा भी है। पर वह पाप अकपट और खुला है। आदर्शोके आवरणोमें ढकी रोज-रोजकी पराधीन मृत्युसे, खुलकर सामने आनेवाली वह अकपट मौत सुदर है! सब कुछ सरल, खुला और अपना है जहा—वही होगा अपना वास, बहन —।"

"पर नारीका चोला पाकर हम इतनी स्वतत्र और निरापद कहा हैं, बहन ?"

"भूलती हो जीजी, कोमल हैं इसीसे इतनी निर्बल हम नहीं हैं। सबल पुरुषके गर्विष्ठ विधानको हम सदासे झेलती आई हैं—अपने धर्मका पालन करनेके लिये। पर दुर्बल सस्कार बनकर यदि वही कोमलता हमारे आत्म-धर्मका घात कर रही है, तो वह भी त्याज्य ही है। माना कि कोमलता स्त्रीका अस्तित्व-गत धर्म भी है। पर अतत आत्माके मार्गमें स्त्रीत्वसे भी तो परे जाना है। योनि तो भेदना ही है। और ठीक वैसे ही क्या पुरुषको भी अपनी पुरुषतासे उपरत नहीं होना है? दोनो ही को इष्ट है वही आत्माकी अव्याबाधा कोमलता! और देह भी क्या अतिम सत्य है? उससे भी तो एक दिन उत्तीर्ण होना ही है। फिर उसकी बाधा कैसी? कोमलता पुरुषको जितनी चाहिये हमसे ले, पर वही हमारी बेड़ी नहीं बन सकती। पुरुषका दिया सस्कार तो क्या, मुक्तिके मार्गमें, स्वय पुरुष भी यदि हमारी बाधा बनकर आये तो वह त्याज्य ही है—"

"पर अपनी रक्षा करनेमें हम असमर्थ जो है, अजन!"

"यह वही सस्कारकी दुर्बलता तो है, जीजी। यह निसर्ग सत्य नही है। इसी विवशताको तो जीतना है। रक्षा कोई किसीकी नहीं कर सकता। हम आप अपने रक्षक है। अपने ही सत्यका बल अपना रक्षा-कवच है।—रक्षकोंकी छत्र-छायामें तो अबतक थी ही। बडा भरोसा था उनका। पर वहासे भी तो ठेलकर निकाल दी गई। और कहो कि शीलकी रक्षा, तो शील तो आत्माका धन है, मृत शरीरका कोई जो चाहे करे! इस आत्म-धनकी रक्षाके लिये जो सचमुच चैतन्य है, देहके विसर्जन-में उसे सकोच या भय क्यो होगा?—तब शील बचाना है किसके लिये? अपने ही लिये तो। पुरुषकी सती-पतिव्रता सिद्ध होनेके लिये नहीं! उसके लिये बचाकर रक्खा, तब भी क्या सदा उसने हमपर विश्वास किया है? उस मिथ्या मरीचिकाके पीछे दौडनेसे अब लाभ नही है, बहन।—वह सब छूट गया है पीछे—"

"पर हम दोनो अकेली ही तो नही है, अजनी, गर्भमे जो जीव आया है, उसकी रक्षाका उपाय भी तो सोचना ही होगा"

अजनाके उस तेज-तप्त चेहरेमे हँसीकी एक कोमल रेखा दौड गई। पर उसी प्रखरतासे उसने उत्तर दिया--

"अपना विधान वह अपने साथ लाया है, बहन! वह आप अपनी रक्षा करनेमे समर्थ है।--नही है समर्थ तो उसका नष्ट हो जाना ही इष्ट है।--किसीका जिलाया वह नही जियेगा और किसीका मारा वह नही मरेगा। मेरे दुर्भाग्योसे वह परे है। जीवनकी उस महासत्ताका अनादर मुझसे नही होगा, जीजी!--चलो देर करना इष्ट नही है। दिन उगनेसे पहले इस नगरकी सीमाको छोड देना है।"

वसतने सोच लिया कि इस लडकीसे निस्तार नही है। उसने निश्चय किया कि राहमे वह अजनाको राजी कर लेगी, और यदि सभव हुआ तो वे किसी दूर विदेशके ग्राममे जा बसेंगी। मनुष्यके द्वारपर अब वे भीख नही मागेंगी। अपने ही श्रमसे कुछ उपार्जन कर लेगी। सुख-पूर्वक प्रसव हो जानेपर, आगेकी बात आगे देखी जायगी। और सच ही तो कहती है अजन, जो आया है वह भी अपना भाग्य लेकर आया है, उसके पुण्यपर हम सदेह क्यो करें ?

गर्भके भारसे देह पीडित है। राज-भोगोपर पला शरीर निराहार और निरवलव है। राह अनिश्चित है और भविष्य धुधला है। अजनाको चलनेमे कष्ट हो रहा है, पर पैर एक निश्चयके साथ आगे बढे जा रहे हैं। वसतका हाथ उसके कधेपर है। दोनो मनोके तार जैसे एक ही सुरमे बधे हैं। एक ही सगीतकी लयपर सधी वे चली जा रही हैं। बोलका अतर भी इस क्षण उनके बीच नही है। रह-रहकर दोनोकी दृष्टि सामनेके शुक्र-तारेमे अटक जाती है।

धीरे-धीरे दिशाए उजाली होने लगी, आस-पासका समस्त लोक—चराचर प्रकाशित हो गया। सुदूर पूर्व छोरपर एक ताडकी वनालीके

ऊपर ऊषाकी गुलाबी आभा फूट उठी। वसतने देखा कि अजनाके क्लात मुखकी श्रीमें एक अद्भुत नवीनताका निखार है। उस चेहरेका भाव निर्विकार और अगम्य है। विरक्ति नही है, निर्ममता नही है। पर ममता और कोमलता भी तो नही है। विषाद मानो स्वय ही मुस्करा उठा है। फिर भी उन ओठोमें कहा है राग-अनुरागकी रेखा ?

विशाल स्वर्ण किरीट-सा सूर्य एक पुरातन और घने जटाजालवाले, वृहदाकार वट-वृक्षके ऊपरसे उग रहा था। नीचे उसके हरे-भरे झाडोके बीचसे, गाव के उजले, पुते हुए, स्वच्छ घर चमक रहे थे।

पक्की सडक जाने कहा छूट गई थी। जाने कब वे। चलती-चलती कच्चे रास्तोपर आ निकली थी। आस-पास दूर-दूरतक फैले हरियाले खेत सबेरेकी ताजी और शीतल वायुमें लहक रहे थे। उनकी नोकोंके बीच यह अपार आकाश मानो छोटा-सा कुतूहली बालक बनकर आख-मिचौनी खेल रहा है। हरियालीकी इस चचल आभामें उसकी अचल नीलिमा जैसे लहरा रही है। दूर-दूर छिटकी स्निग्ध-छाया अमराइयों और विपुल वृक्ष-यूथोमे विश्रामका आमत्रण है। खेतोंके बीचकी विशाल वापिकाओंपर बैल चरस खीच रहे है। बावडीकी मेहराबसे कोई-कोई रमणिया और ग्राम-कन्याये पानीकी गागर भरकर निकलती है, और खेतके किनारे-किनारे ग्रामकी ओर बढ रही है।

धूप काफी चढ आई है। चलते-चलते वसतके पैर लड-खडाने लगे। सास उसकी भर आई है। पर रुक जानेकी और विरामकी बात उसके ओठोपर नही आ पाती है। उसने अजनाकी फूलती हुई सासको अनुभव किया। धूपसे चेहरा उसका तम-तमा आया है—और सारा शरीर पसीनेसे लथ-पथ हो गया है। अजना बेसुध-सी चली ही चल रही है। चलते-चलते एकाएक उसने अपना मुह वसतके कधेपर डाल दिया। आखें उसकी मिच गई। सास उसकी और भी जोर-जोरसे उत्तप्त होकर चलने लगी। पैरोमें आटिया पडने लगी। वसतने देखा कि उसके सारे

अंग ढीले और निश्चेष्ट पड गये हैं—। उसका समूचा भार उसीके ऊपर आ पडा है। वह सावधान हो गई। एक खेतके किनारेकी घासमें ले जाकर उसने अंजनाको अपनी गोदपर लिटा लिया और आंचलसे हवा करने लगी। श्वासके प्रबल वेगने अंजनाका वह विपुल वक्ष मानो टूटा पड रहा है। और भीतरकी किसी अनिवार यंत्रणाके त्राससे सारा चेहरा देखते-देखते विवर्ण हो उठा। बढती हुई बेचैनीको दबानेके लिये, अपने ही तनते हुए अंगोंको अपने भीतर सिकोडती हुई वह गांठ हुई जा रही है। वसंतके होश-हवास गुम हो गये। ज़बान तालूसे चिपक गई। चारों ओर जन है, जीवन है, फिर क्यों हैं वे इतनी जनहीन और असहाय? मनुष्य मात्रसे ऐसी विरक्ति क्यों? क्या जीवनसे रूठकर जिया जा सकेगा? वसंतके मनमें ऐसे ही प्रश्न चिकोटी काट रहे थे।—पर उसे वहां अकेली छोडकर वह कैसे जाये और कहां जाये? इस अपरिचयके देशमें किसे पुकारे? अंजनाको एक-दो बार हिला-डुलाकर पुकारा, पर कोई उत्तर उसने नहीं दिया। केवल एक बार समाधानका हाथ उठाकर फिर धरतीपर डाल दिया।

तब तो वसंतका धैर्य टूट गया। अंजनाके संकेतको वह ठीक-ठीक समझी नहीं। अशुभकी आशंकासे वह थर्रा उठी। रह-रहकर कलका वह महादेवीका पदाघात उसकी छातीमें भाले-सा कसक उठता है। उसने सोचा कि कुछ उपाय तुरत ही करना चाहिये, नहीं तो देर हो जायेगी। और कुछ नहीं सूझा, तो अंजनाको गोदसे सरकाकर धरतीपर लिटा दिया, और आप उठकर बेतहाशा दौडती हुई खेतके उस मोडतक चली गई। वहांसे जो पग-डंडी गई है—उसीपर एक बेलोंसे छाया झोंपडा उसे दीखा। पास ही एक खुली बावडीमें पानी चमक रहा है। और उसीसे लगा एक घनी छायावाला फलोंका बाग है। वैसी ही झपटती हुई वसंत वापस आई। अंजना चुप होकर औंधी पडी थी। वसंतने बहुत सावधानीसे धीरेसे उठाकर उसे कंधेपर लिया, और बडी कठिनाईसे

किसी तरह उस बागतक ले आई। किनारे ही बावडीकी सीढियो तक छाया हुआ अगूरोका एक लता-मण्डप था। उसीकी छायामें लाकर उसने अजनाको लिटा दिया। श्वेत पत्थरकी पक्की बावडी, विशद, स्वच्छ और चारो तरफसे खुली है। किनारेसे कुछ ही नीचेतक निर्मल जल उसमे लहरा रहा है। हाथ डुबाकर ही पानी लिया जा सकता है। चारो ओर स्निग्ध शिलाओके पक्के किनारे बँधे है—और बागकी तरफ सीढिया बनी हैं। एक किनारे केलोका वन-सा झुक आया है और दूसरी ओर इक्षुका खेत आ लगा है। वसतने कुछ केलेके पत्ते और अगूरोकी लताए विछाकर उनपर हलका-सा पानी छिडक दिया, और अजनाको उसपर लिटाकर एक केलेके पत्तेसे हवा करने लगी।

एक मनसे वसत इष्ट-देवका स्मरण कर रही है। उसके देखते-देखते अजनाके मुखपर उद्विग्नताके बजाय एक गहरी शाति फैल गई। थोडी देर वह चुपचाप लेटी रही, जैसे नीद आ गई है। एकाएक उसने आखें खोली। देखा कि ऊपर हरियालीका वितान है। चारो ओर एक निगाह उसने देख लिया। फल-भारसे नम्र बागकी घनी और शीतल छायामें दूर-दूरतक वृक्षोके तनोकी सरणिया है। पत्तोमें कही-कही हरियाला प्रकाश छन रहा है। सघोमेंसे आई हुई धूपके कोमल धब्बे कही-कही बिखरे हैं। जैसे इस कोमल सोनहली लिपिमें कोई आशाका सदेश लिख रहा है? बाहरकी तरफ, सामने दीखा—शाखाओ और सूखे पत्तोसे बना एक सुदर झोपडा है। उसपर पीले और जामुनी फूलोवाली शाक-सब्जियोकी वेलें छाई है। आस-पास सब्जियोकी क्यारिया है। उनके किनारे पपीतेके झाडोकी कतारें खडी है। झोपडेकी एक बगलमें चारो ओर खुली छाजनके तले एक गौशाला है। उसमे दो-एक विशाल डील-डौलकी पुष्ट सफेद गायें बैठी जुगाली कर रही है। पास ही खडा एक नवजात बछडा उनीदी आखोसे एकटक अपनी जनेताकी ओर देख रहा है। झोपडेका आगन निर्जन है, द्वार बद है। जान पडता है, वहा

कोई नही है। गौशालेकी छाजन और झोपडेके बीचकी आडमें एक ग्रामीण रथकी पीठ दीख रही है। ऊपर उसके पीतलका गुंबद है—और पीठिकामें तने हुए रग-बिरगे चित्रोवाले, ऋतु-जर्जर पालकी झलक दीख रही है। उसके पास ही छायावानवाली एक गाडी खुली पडी है।

अजनाने पाया कि यह मनुष्यका घर है। आस-पास यहा सुरक्षा है, गार्हस्थ्य है। सुख-सुविधा और विश्रामका प्रबन्ध है। यहा अन्न है, फल-फूल है, दूध है—और स्नेहसे स्निग्ध जीवन-रस चारो ओर बिखरा है। पर अतिरिक्त और अनावश्यक यहा कुछ नही है। अभिमान और दिखावेका आडबर नही है। प्रकृतिके हृदयसे सटा हुआ ही जीवनका एक सहज, सुषम और सुखमय विरामस्थल है। पर जिस घर वह अतिथि बनकर अनायास चली आई है, उसका द्वार बद है। अभ्यर्थना करनेके लिये कोई गृह-स्वामी वहा नही है। वह समझ गई थी कि आपत्तिकी घडीमें, निरुपाय वसत उसे यहा ले आई है।—फिर भी, जैसे वह अपनेको यहा ठहरनेकी अधिकारी नही पाती। सप्रश्न आखोसे उसने सामने बैठी वसतको देखा। वसतकी उस मुर्झाई मुख-मुद्रामें अभी भी गहरी परेशानी और चितातुरता साफ झलक रही है। फिर भी अपने दुखभरे चेहरेपर सायास एक मुस्कराहट लाकर वसतने पूछा—

"अब जी कैसा है, अजन ?"

"अच्छी हू बहन, अपना सारा दुख तो तुम्हे सौंप दिया है, अब मुझे क्या होनेको है ?"

कहते-कहते अजना मुस्करा आई।

"अभी भी मुझे इतनी पराई समझती है, अजनी, तो तू जान।—पर तुझसे विलग होकर अब मेरी गति नही है। नही जानती हू कि कैसे यह तुझे समझा सकती हू। मेरी उतनी बुद्धि नही है।"

कहकर एक गहरी नि श्वास छोडती हुई वसत दूसरी ओर देखने लगी। अंजना बोली कुछ नही—चुपचाप एकटक उस वसतको करुण

आखोसे देखती रही। वसतसे रहा न गया। पास सरककर उसने अजनाका माथा अपनी गोदपर ले लिया और बोली—

"अंजनी, इतनी निर्मम न बन। कुछ तो दया कर अपनी इस अभागिनी जीजीपर!—मेरे जीकी शपथ है, मुझसे सच-सच बता दे—क्या कल उस दुष्टाके पदाघातसे तुझे चोट लगी है? मुझीसे छिपायेगी तो मैं बहुत असहाय हो जाऊगी। तब तो मेरे दुखका अत ही नहीं है। मैं अकेली किसे जाकर अपनी पुकार सुनाऊगी?"

"व्याकुल न होओ जीजी, पत्थर और मिट्टीकी हो गई हू चोट जैसे अब लगती ही नही है—"

"पर अभी जो चेहरा मैने देखा है, उसका त्रास तो मुझसे छुपा नही है—"

अजनाका मुख फिर म्लान हो आया। वह एकटक बाहरके आकाशको देखती रह गई। कुछ देर रहकर एक मर्माहत स्वरमे वह बोली—

"हत्यारी हो उठी हू, जीजी! युग-युगकी वेदनासे सतप्त वे मेरे पास आये थे। सुख और शातिकी उन्हे खोज थी। युद्धसे उन्हे ग्लानि हो गई थी। चिर दिनकी वचनासे वे सत्रस्त थे। कौन जाने सुख दे सकी या नहीं, पर मैने उन्हे धक्का दे दिया। जाने किस अगम्य भयानकताके मुहमें मैने उन्हे ढकेल दिया।—उसी क्षण समझ गई थी कि मृत्युसे भी जूझनेमें अब ये हिचकेंगे नहीं। केवल मेरे ही कहनेसे, मेरे ही लिये गये है वे मृत्युसे लडने—! अपने लिये अब किसी भी विजयकी कामना उनके मनमे शेष नहीं रही थी। अपनी ही हारको उन्होने सिर झुकाकर, जयमालाकी तरह स्वीकार कर लिया। और उस दिन उन्होने अपनेको धन्य माना। अपनी सारी महत्ताओको चूर करके, वे केवल अपनी आत्म-वेदना लेकर मेरे पास आये थे।

" पर उनकी हार मुझे सहन न हो सकी! तब मुझमे गौरवका लोभ जागा। उनके पुरुषत्वके अभिमान और विजयके अनुरागसे मैं भर

उठी। मै गर्विणी हो उठी। एक तरहसे मैंने ही उन्हें यह कहा कि—'विजेता होकर आओ—!' वे हँसते-हँसते उस पथपर चले गये। विजयकी माग भी उनमे मेरी छोटी नही थी। मन ही मन शायद यही तो कह रही थी—'अजात-शत्रु जेता बनकर लौटो!' उस क्षण तो मै अपनी ही आत्म-गरिमाके सुखमें बेसुध थी—

"पर ओह जीजी, आज कल्पना कर सकी हू, चारो ओर तने हुए असत्य शत्रुओके तीरोके बीच मैंने उन्हें ढकेल दिया है—। पर लौटकर न देखनेवाले वे, उनके बीच खेलकर भी, मेरी कामनाकी विजय पाये बिना नही लौटेंगे। और उनकी बात सोचे बिना ही, जाने किस सत्यके आग्रहसे, मै अपने ही मार्ग पर चल पडी हूँ?—मेरी साधकी पूर्ति लेकर, जब वे किसी दिन आशाभरे लौटेंगे और मुझे न पायेंगे तब ? तब उनपर क्या बीतेगी, जीजी ?"

कहती-कहती वह वसतकी गोदमे बिलख पडी। वसत नि:शब्द उसे अपने पेट और वक्षसे दबाये ले रही थी। इस ऐसी विषम वेदनाके लिये, वह क्या कहकर सात्वना दे, जिसे वह स्वय नही समझ पा रही है। वह तो केवल उस दुखकी निष्काम सहभोगिनी है। फिर अजना धीरेसे रुलाईभरे कठसे ही बोली—

"पर हाय, उनके वीरत्व और पुरुषत्वकी ही अवमानना कर रही हूँ। क्यो उठी है मनमें यह शका—कि अपनी ही राहपर स्वच्छद चल पडी हूँ ? कहा है उनसे अलग मेरा रास्ता ? उन्हीकी खीची रेखापर तो चली जा रही हू, बहन! अपने ही ममत्वसे घिर जाती हूँ, इसीसे रह-रहकर मन भ्रममें पड जाता है। तब उनके प्यारपर अनजाने ही अविश्वास कर बैठती हूँ। क्षुद्रता और अज्ञान तो मेरा ही है न। इसीसे तो पाकर भी उन्हें नही रख सकी।—पर मर भी जाऊँगी, तो जिस राह यह मिट्टी पडेगी, उसीसे होकर वे आयेंगे, इसमें रच भी सदेह नही है ।"

कहते-कहते अजनाका वह आसुओसे धुला हुआ चेहरा एक अमद दीप्ति और जागृतिसे भर उठा। वह बैठ गई और अपने दोनो हाथोमें वसतके दुखी चेहरेको दवाकर बोली—

"दुखी न होओ जीजी, मेरी छोटी-छोटी मूर्खताओपर तुम्ही यो घवडा जाओगी, तो कैसे वनेगा ?"

"यह तो तेरी पल-पलकी वेदना है, अजन। इसे समझ सकू, ऐसी शक्ति मुझमे कहा है ? पर उस हत्यारीने जो मर्मांतिक आघात किया है, उसीकी पीडासे अभी तुझे मूर्छा आ गई थी—यह वात मुझसे क्योकर छिप सकेगी ?"

"—वह तो ठीक-ठीक मैं भी नही समझ पा रही हू, जीजी।—क्या तुम उस विगतको भूल नही सकती ? ससारके पास आघातके अतिरिक्त और देनेको है ही क्या ? और उसके प्रति कृतज्ञ होनेके सिवा हम और कर ही क्या सकते है ? चोटें आती है कि हम चिन्मय है—गतिमय है। अमरत्वका परिचय उसीमे छुपा है। नही तो जीवनकी धारा ही जडित हो जायगी।—मनसे उस वृथा शका और सतापको दूरकर दो, जीजी।"

"पर गर्भका जीव तेरा वैरी तो नही है, अजन। अपने ऊपर चाहे तुझे करुणा न हो, पर क्या उसके प्रति भी ऐसी निर्दय हो जायगी ?"

"उनके दानपर दया करनेवाली मैं होती कौन हू, वहन ? और उसे इतना वलहीन माननेका भी मुझे क्या अधिकार है ?—प्रहारपर चलकर यदि उसे आना भाया है, तो उसे अमरत्व ही क्यो न मानू—मृतत्वकी वात क्यो सोचू ? मेरी ही छातीमें लात मारता वह आ रहा है, उसकी रक्षा क्या मेरे वसकी है . ?"

तभी सामने उन्हे दीखा कि झोपडेका दर्वाजा खुला है। एक सब्जोकी क्यारीकी आडमें दो कृपक-कन्यायें दुवकी बैठी है। हिरनी-सी आयत

आखोसे वे टुकुर-टुकुर उनकी ओर देख रही है। इतने ही मे बागकी तरफसे, दूधसे सफेद वाल और घनी डाढीवाला, एक आरक्त मुख, विशालकाय वृद्ध आता दीख पडा। स्पष्ट ही वह इस भूमिका स्वामी है। लटक आये खुले शरीरमें, अव भी स्वास्थ्यकी ताम्रवर्ण लालिमा दम-दम कर रही है। पास आकर उसने हाथकी डलिया, कदली-पत्र और दो वडे-वडे दीने सामने रख दिये। दोनोमें द्राक्षोके गुच्छे है, और डलियामें ताज़ा तोडे हुए दो-तीन तरहके दूसर फल है। वृद्धने अजना और वसतसे देश-कुल-जातिका कोई परिचय नही पूछा। केवल अपने अतिथियोको उसने दोनो हाथ जोड, वहुत ही विनीत और गद्गद् होकर प्रणाम किया। स्नेहकी मौन और स्निग्ध आखोसे ही, उसने अपनी भेंटकी स्वीकृति पाकर कृतार्थ होनेकी याचना की।

दोनो वहनोने सिर नवाँकर वृद्धका अभिवादन किया। आनद और विस्मयसे पुलकित होकर अजना वोली—

"वावा, चोरकी तरह तुम्हारे घरमें हम दोनो घुस वैठी है। हमारी उद्दडताको क्षमा कर देना।"

वृद्ध फिर हाथ जोडकर नम्र हो आया। वह वोला—

"वडे भाग्य है देवी हमारे। सौभाग्यका सूरज उगा है आज, जो सवेरे ही आगनमें आकर अतिथि देवताकी तरह विराजे हे। यह भूमि धन्य हुई है तुम्हे पाकर। दीन कृपकका यह तुच्छ फलाहार स्वीकार कर, उसे कृतार्थ करो, भद्रे।"

अजनाके मनमें कोई दुविधा नही थी। उसने वसतकी ओर देखा। वसत सप्रश्न आखोमे अजनाकी ओर देख रही थी। स्पष्ट ही उस दृष्टिमे हिचक थी।

"सकोचका कोई कारण नही है, जीजी। इन भूमि-पुत्रोके दानको लेनेसे इनकार कर सकें, इतने वडे हम नही है। इससे मुह मोडकर जीनेका अभिमान मिथ्या है। धरित्री-माताने हमें जन्म दिया है, तो हमें जीवन-

दान देनेवाले जनक और पोषक है ये कृषक। ले लो जीजी, दुविधा न करो—"

फिर कृषककी ओर देखकर बोली—

"विना हमारी पात्रता जाने, हमें भिक्षा ले सकनेकी पात्री तुमने बना दिया है, बाबा—। जीवन कृतकार्य हुआ है तुम्हारे दानसे—।"

"इतना बडा भार हम दीनोपर न डालो आर्ये, हम तो तुम्हारे सेवक मात्र है—।"

कहकर प्रसन्न होता हुआ वृद्ध, अतिथि-चर्याके दूसरे प्रबंधोके लिये व्यस्त-सा होकर, झोपडेकी ओर चल दिया। झोपडेके दूसरी ओरके छायावानमे, रस निकालनेकी चरखियोको जोर-जोरसे घुमाकर, वे दोनो कन्याये द्राक्ष और इक्षुका रस निकाल रही थी।

क्षोभ और रोषके कारण जो भी हिचक और विरक्ति वसतके मनमे जरूर थी। पर उसकी अतरतमकी सबसे बडी चिंता इस क्षण यही थी, कि वह किसी तरह अजनाको कुछ खिला-पिला सके। उसने तुरत केलेके पत्ते बिछाकर, कुछ फल और द्राक्ष-गुच्छ उसपर रख लिये और दोनो बहनें खाने लगी। खाते-खाते बात चल पडी तो अजनाने कहा—

"मनुष्यपर अश्रद्धा किये नही बनेगा, जीजी। मनुष्य मात्रसे रुष्ट होकर, विमुख होकर, हम इस राह नही आई है। आई है इसलिये कि अपने बाधे विषम कर्मोके फल भुगतनेमे हम अकेली ही रह सकें। अपने उदयागतसे औरोके जीवनोमे व्याघात न डाले। मिथ्याके जिस विरूप विधानने मनुष्यके जीवनको आत्म-पीडनके दुश्चक्रमे डाल रखा है, हो सके तो उससे अलग खडी होकर उसे प्रतिषेध दें। और यो किसी दिन उस दुश्चक्रको उलट दें।"

थोडी देर चुप रहकर फिर अजना बोली—

"पर कर्म-विधानकी इस कुरूपतामे भी क्या आत्मका धर्म सर्वथा लोप हो गया है? नही नाना सघर्पो और आघातोंके बीच रह-रहकर

वह ज्योति प्रकट होती है। इसीसे तो मुक्ति-मार्गकी रेख अक्षुण्ण चली आ रही है। मनुष्यके भीतरकी उज्ज्वलता जहा झाक रही है, उसीपर श्रद्धाको टिका देना है। वही हमारा निजत्व है। जो कुरूप है वह तो मिथ्या है ही। उसे सत्य मानकर उसके प्रति रुष्ट और आग्रही होना, तो अपनेको उसी दुश्चक्रमे डाले रखना है।"

"पर यो परमुखापेक्षी होकर कबतक चला जायगा, अजन ?"

"पर मैं कहू, निरपेक्ष क्या है, जीजी ? अपेक्षा तो अस्तित्वके साथ ही लगी है। निरपेक्ष होकर जीनेका अभिमान ही तो मिथ्या-दर्शन है। सम्यक्त्वसे वही हम च्युत हो जाते हैं। असलमें देखना यह है कि वह अपेक्षा स्वार्थसे सीमित न हो। वैसी अपेक्षा तो प्रेमके बजाय लोभको ही अधिक बढायेगी। वह देनेवालेमें अभिमान जगायेगी और लेनेवालेमें हीनता उत्पन्न करेगी। मनुष्य-मनुष्यके बीच प्रेमका जो अविनाभावी और चिरतन सबध है, वह समूल कभी भी नष्ट नही हो सकता। आत्मा की मौलिक एकतामें हमारी निष्ठा यदि दृढ है, तो उस प्रेमका परिचय हम सतत पाते जायेंगे—जीवनके पथमें। उसीका फल यह अयाचित दान है, जीजी। पराधीनताका सकीर्ण भाव मनमे ज़रा नही लाना है। प्रेमका प्रसाद समझकर ही इस भिक्षाको ग्रहण कर लेना है। आधिपत्यकी काक्षा और अभिमान मनमें न रखकर यदि आकिञ्चन्यका व्रत ग्रहण किया है, तो फिर भिक्षा ग्रहण करनेमे लज्जाका कारण नही है, जीजी। भिक्षा तो उसी शाश्वत प्रेम-परिचयका एक चिह्न मात्र है। परस्पर एक दूसरेको स्वीकार किये बिना जो हम चल नही सकते है।"

इतने हीमें कृषककी दोनो कन्यायें कासेके बडे-बडे कटोरोमें रस भरकर ले आई। अतिथियोके सामने कटोरे धरकर, दोनोने पल्ला बिछाकर भूमिपर माथा टेक प्रणाम किया। अजनाने उनके माथेपर हाथ रखकर आशीर्वचन कहे। लज्जा मिश्रित कौतूहलसे मुस्कराती हुई दोनो बालाए, अपने इन असाधारण अतिथियोको बडे ही विस्मयकी आखोसे देख रही

थी। अजनाने उनके नाम पूछे, आस-पासकी ग्राम-वसतिकाओका और इस देशका परिचय पूछा। बालाओने अस्फुट स्वरमे लजा-लजाकर उसके उत्तर दिये। इतने ही मे उधरके कामसे निवटकर वृद्ध कृषक आ पहुचा। बातचीतमे वृद्धने बताया, कि ये दोनो कन्यायें ही मात्र उसकी सतति है। पुत्र कोई नही है। पत्नी इन्ही दो बच्चियोको अबोधमे शैशवमें छोडकर परलोक सिधार गई थी। तबसे उसीने पाल-पोसकर बडे कष्टसे इन्हें बड़ा किया है, और उन्हीके लिये ससारमे उसका जीवन है। अब कन्याये सयानी हुई है, देखे कौन अतिथि आकर उन्हे सौभाग्यका दान करेगा? लडकिया सकरुण, सरला आखोसे एकटक अजना और बसत-की ओर निहार रही थीं। पिताके करुण कठ-स्वरने उनके मुखडोपर एक नि:शब्द रुलाई बिखेर दी थी। अपने बारेमे जब अजना और बसतने कुछ भी सूचित नही किया, तो वृद्धने भी मर्यादा नही लाघी। कुल-शील-का कोई भी प्रश्न उसने अपने मुहपर नही आने दिया। अजनाने आप ही इतना बता दिया कि वे आदित्यपुरकी रहनेवाली है और इस समय यात्रा-पर है।

कामका समय होते ही वृद्ध, अपनी दोनो कन्याओको अतिथियोंकी सेवामे नियुक्तकर, अपना हल उठा, बैलोको हाकता हुआ खेतपर चला गया। बालाओसे अजनाने उनकी दिन-चर्या और काम-काज जाने। फिर आप भी बसतको साथ ले उनके साथ फलोंके बागमे चली गई। वहा फल-सचय, फलोंकी छटनी, पक्षियोसे फलोकी रक्षाका प्रबध आदि अनेक कामोमें वे उनकी सहयोगिनी हुई। पिताकी आज्ञानुसार, समयपर लाकर लडकियोने भोजन अतिथियोके सामने रखा। जो भी सवेरेके फलाहारकी तृप्तिने भोजनकी आवश्यकता नही रहने दी थी, फिर भी लडकियोका मन रखनेके लिए अजना और बसतने उनके साथ ही बैठकर थोडा-थोडा भोजन किया। थोडी ही देरके साहचर्यमे उन्होने पाया कि वे बालाएं उनसे ऐसी अभिन्न हो पडी है, जैसे आदिकालकी सहचरियाँ

ही हो। और तभी अजनाका मन मर्त्य मानवकी खड-खडता और अवश विछोहके प्रति एक अतहीन करुणासे भर उठा। कैसे समझाए वह इन अबोध बालाओको—वह सासारिक जीवन मात्रके भाग्यकी अनिवार्यता—और एकताका बोध जिस केंद्रीय बिंदुपर है, वह क्या सहज अनुभव्य है ?

साध्य-फलाहारके बाद बावडीकी सीढियोपर बैठी वसत और अजनाके बीच उनके प्रस्थानकी बात चल रही थी। सुनकर वे दोनो लडकिया उदास हो गईं। सूनी, अवसन्न आखोसे दिशाओको ताकती हुईं, वे एक-दूसरेसे बिछुडकर इधर-उधर डोलने लगी। एकाएक बडी लडकी सहमी-सी पास आकर खडी हो गई। उसकी आखोमें जैसे जन्म-जन्मकी विछोह कथा साकार होकर मूक प्रश्न कर उठी। अजना समझ गई। उसने उसे पास खीचकर छातीसे लगा लिया, और बिना बोले ही उसके गालपर हाथ फेरती हुई उसे पुचकारती रही।

लडकी अनायास पूछ बैठी—

"तुम कहा चली जाओगी कल ?"

सचमुच अजनाके पास इस प्रश्नका कोई उत्तर नही था। 'तभी एक अव्याहत आत्मीयताके भावसे उसका सारा प्राण जैसे उसमेंसे स्फूर्त होकर दिगतके छोरोतक व्याप्त हो गया।

"कही नही जाऊगी, बहन, तुम्हें छोडकर । सच मानना, सदा तुम्हारे साथ रहूगी। .उधर देखो, वह केलेके वनपर सध्या-तारा उगी है न ? बस इसे देखकर रोज़ मेरी याद कर लेना, मैं तुम्हारे पास आ जाया करूगी ।"

दोनो लडकिया आश्वस्त और प्रसन्न होकर, सामनेके गोशालेमें दूध दुहने चली गईं। अजना और वसत भी हास्य-विनोद करती उनके साथ दूध दुहने बैठी। लडकियोके आनदकी सीमा न थी। सकरुण, स्नेहल कठसे वे अपनी ग्राम्य भाषामें सध्याके गीत गाने लगी।—

उसमें उस अनजान प्रवासीको सबोधन है जो ऐसी ही सध्यामें एक बार तारोंकी छायामें, राह किनारेके चपक-वनमें मिल गया था, और फिर लौटकर नही आया—नही आया रे—नही आया वह अतिथि ! ऐसी ही कुछ अतहीन थी उस गीतकी टेक। विसुध और निर्लिप्त करुणाके कठसे समझे-बेसमझे वे लडकिया उस गीतको गाती जा रही है। दूरपर ग्रामका कोई एकाकी दीप टिम-टिमाता दीख जाता है। अजना अपने आसू न रोक सकी—और अपने बावजूद वह उन लडकियोके सुरमें सुर मिलाकर गा उठी।—वृद्ध पास ही के गावमें किसी कामसे गया था। लौटनेपर उसने झोपडेके आगनमें चारपाइया डालकर बिछौने बिछा दिये और अतिथियोसे आराम करनेके लिये अनुनय की। अजनाने कहा कि उनके सौहार्द्रकी वे बहुत-बहुत कृतज्ञ है, पर भूमि-शयन ही उन्हें स्वभावसे प्रिय है। वृद्ध इस बातके लिये वृथा खेद न करें। बागके बाहर खुली चादनीमें ही अजना और वसत दुपहरके तोडे हुए केलेके पत्ते बिछाकर, हाथके सिरहाने लेट रहीं।

सवेरे ही ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर, नित्य-कर्मसे निवृत्त हो अजनाने वसतसे कहा—

"अब एक क्षण भी यहा रुकना इष्ट नही है, बहन। जिन्हे अपना कर, सदा अपने साथ रखनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, उन्हे ममत्वकी मरीचिकामें उलझाकर दुख नही देना चाहूगी। तुरत अभी यहासे चल देना है। बिछोहका आघात पीछे छोडकर जाना मुझसे न बनेगा। इस ब्राह्म-वेलामें, प्रभुसे मेरी यही विनती है कि, वह मुझे ऐसी शक्ति दे कि मैं सदाके लिये इन भोई हुई निरीह बालाओकी हो सकू—मैं सदा इनके साथ रह सकू !"

चलनेसे पहले पास जाकर दोनो सोई लडकियोके सिर अजनाने दूरसे ही सूघ लिये। फिर चुपचाप एक ओर सोये वृद्धको जगाकर विदा मागी। वृद्धके विवश स्नेहानुरोधका अजनाने यही उत्तर दिया

कि प्रभु हम सबके सर्वदा साथ हैं, फिर हम अलग-अलग कहा हैं, उसी मगल-कल्याणमयके प्रेममें अनेक जन्मोमें अनेक बार मिले हैं, और फिर मिलेंगे ।

और दोनो बहनें चल दीं अपने पथपर ।

ज्यो-ज्यो आगे बढती जाती है, आखोंके सामने क्षितिजकी रेखा धुधली होती हुई, परे हटती जाती है । यात्राका कही अत नहीं है । अनेक देश, पुर-पत्तन, नदी, ग्राम, खेत-खलिहान पार करती, वे योजनोंकी दूरी लाघती जा रही हैं ।—आसन्न सध्याकी वेलामें, राहके किसी ग्रामके किनारे, किसी भी खेतके झोपडेमें, मनुष्यके द्वारपर जाकर वे आश्रय ले लेती है । भिक्षाकी तरह उनके आतिथ्यका दान सहज ग्रहण कर लेती हैं । रात वहीं बिताकर सवेरे फिर चल देती हैं, अपने पथपर । अजना इन दिनो प्राय मौन रहती है । अपनेको धारण करनेवाली धरती, जल, फल-फूल, अन्नसे भरी दाक्षिण्यमयी प्रकृति और आस-पास बिखरी हुई मानवता, सबके प्रति एक गहरी कृतज्ञताके भारसे वह दबी जा रही है । उन सबसे जीवन लेकर, वह उन्हें क्या दे पा रही है ? देने योग्य कुछ भी तो नहीं है उसके पास । अपनी अक्षमता और अल्प-प्राणताको लेकर उसका मन अपनी लघुतामे नि शेष हो जाता है । और बाहर फैलनेकी प्राणकी व्यथा उतनी ही अधिक घनी और अपरिसीम हो उठती है । उसके आस-पास अभ्यर्थना लेकर जो ये निरीह ग्राम-जन घिर आते हैं, उनकी आखोंमें वह एक निस्पृह अपेक्षाका भाव देखती है। जाननेकी—परिचयकी वही सहज सनातन उत्कठा तो है उन आखोमे । उस निर्दोष दृष्टिमें छिद्र खोजनेकी कुटिलता कहा है ? है केवल वदिनी आत्माकी अपनी सीमाकी वह अतिम विवशता । वह तो है वही अनत प्रश्न । मनुष्यकी नीरव दृष्टिमें जब उसकी पुकार सुनाई पडती है, तो जैसे उत्तर दिये बिना निस्तार नहीं है । उसके बिना अपने पथपर आगे बढना सभव नहीं है । यात्राका मार्ग धरती और आकाशके शून्यमें होकर नहीं है ।

उन प्रश्नसे व्यग्र आंखोकी अनिवार्य लगनेवाली रुद्धतामे होकर ही वह मार्ग गया है।

तव अजनाका मौन अनायास वाणीमे मुखर हो उठता। वह अपना परिचय देती। व्यक्ति-सीमाओसे ऊपर होकर वह परिचय सर्वगत और सर्व-स्पर्शी हो पडता। भोलेभाले जिज्ञासु ग्राम-जनोकी उत्सुकता विशालतर हो उठती। क्षुद्र व्यक्ति मानो अणु वनकर उस विस्तारमें खो जाता। अजना गौण हो जाती, स्वय वे ग्राम-जन गौण हो जाते। केवल एक समग्रके वोधमे, वे अपने ही आत्म-प्रकाशके आनदसे आप्लावित हो उठते। तव व्यवहारकी रोक-टोक, पूछ-परख वहा आते-आते नि शब्द होकर विखर जाती। पर एक रातमे अधिक वे कहीं भी न ठहरतीं। इसी क्रममे आगे वढते, जाने कितने दिन वीत गये।

वसंतने सोचा कि उसका रास्ता अव सुगम हो गया है। उसने पाया कि अजना अव ज़रा भी उदासीन या विरक्त नहीं है। वाहरके प्रति, लोकके प्रति, जीवनके प्रति वह खुली है, प्रेममय है। वह अपने आस-पास घिर आये मनुष्योमें घुलती-मिलती हैं, हास-परिहास करती है। उनके प्रति वह आश्वस्त है, और असदिग्ध आत्मीयता और एकताके भावसे वरतती है। तव उसने सोचा कि अव किसी ग्राम-वसतिकामे अजनाको लेकर वह ठहर जायगी, और कुछ दिनके लिये घर वसा लेगी। वाधाका अव कोई कारण नहीं दीखता। केवल अवसर और निमित्तकी प्रतीक्षामें वह थी।

एक गावके वाहर जव इसी तरह, ग्राम-पथकी एक पाथ-शालामें वे ठहरी हुई थी, तभी अजनाकी पीडा उसके वशके वाहर हो गई। ग्राम-जनोके सहाय्य और सेवा-सुश्रुषासे एक-दो दिनमें वह स्वस्थ हो चली। अपनी यात्रामे पहली ही वार वे यहा लगातार तीन दिन ठहर गई थी। अपने अस्वास्थ्य और मूर्छाकी अवस्थामें अजनाको भान हुआ कि उसके

आस-पासके जनोंमें कुछ काना-फूसी है। कुछ लोक-सुलभ पहेलियाँ, संकेतोंकी भाषामें लोगोंकी जबानपर आ गई हैं।—अंजनाने पाया कि उन प्रश्नोंका उत्तर देना ही होगा!—वह किसकी पुत्री है, किसकी पुत्र-वधू है, गर्भावस्थामें क्यों वह, राह-राह भटकती विदेश-गमनको निकल पड़ी है? क्या अपने कुल, शील, लज्जाका उसे कुछ भी भय नहीं है? गर्भवती माता होकर वह निश्चय ही गृहिणी है—भिक्षुणी वह नहीं है। यदि वह गृहिणी है तो लोगोंकी भिक्षापर जीनेका उसे क्या अधिकार है? इन सबका अन्न खाकर, यदि उसे इन सबके बीच रहना है—तो उसे इन लोक-सगत प्रश्नोंका उत्तर देना ही होगा। नहीं तो अनजाने ही शायद इन्हें धोखा देनेका अपराध उससे हो रहा है। पर इन सारे प्रश्नोंके स्थूल उत्तर क्या वह दे सकती है? नहीं अपने ही उदयागत पापोंका भार, इन सारे दुखोंके निमित्त साथ होनेवाले—अपने आत्मीयोंपर डालनेका गुरुतर अपराध उससे न हो सकेगा। और 'वे'—? मौतके मुहमें उन्हें ढकेलकर उनके नामको कलंकित करती फिरेगी—? भीतर ही भीतर अंजनाके आत्म-परितापकी सीमा न थी। जो भी बाहरसे वह प्रसन्न और स्वस्थ ही दीखती।

एक दिन सुयोग पाकर बहुत ही डरते-डरते वसतने अंजनासे अनुरोध किया कि अब यो निर्लक्ष्य आगे बढनेमें सार नही है, यात्राका श्रम अब अंजनाके लिये उचित नही। जाने कब किस आपदामें वे घिर बैठें, सो क्या ठीक है। अब इसी ग्राममें दो-तीन महीनोंके लिये उन्हे टिक जाना चाहिये। यहीं सुख-पूर्वक प्रसव-कार्य सपन्न हो जायगा। तब आगेकी आगे देखी जायेगी। वसत स्वय श्रम करके कुछ अर्जन कर लेगी, और यो स्वावलबी होकर वे चला लेगी। पर अंजना पहले ही अपने मनमे निश्चय कर चुकी थी। अविचलित, परतु अथाह वेदनाके स्वरमें उसने उत्तर दिया—

'नही जीजी, भूल रही हो तुम।—अब एक क्षण भी यहा ठहरना

सभव नही है । सवेरे ही यहासे चल देना होगा । जन-पद और ग्राम-पथ छोड अब तुरत वनकी राह पकडनी होगी । भोले-भाले ग्राम-जनोको आज-कलसे नही, बहुत दिनोसे जानती हू । आदित्यपुरकी वसतिकाओमे उन्हें पाकर एक दिन मैंने अपने जीवनको कृतार्थ किया था । उनके प्रति किंचित भी अविश्वास या अश्रद्धा मनमें ला सकू, ऐसी कृतघ्न मै नही हो सकूगी । इसीसे तो अबतककी यात्रामे, निधडक उनके द्वार जाकर विश्राम खोजा है । पर देखती हू कि उनके बीच रहनेकी पात्रता भी अब मेरी नही हैं । वे भी तो एक लोकालयके और लोक-समाजके अग हैं । उनके भी अपने कुल-शील मर्यादाके नीति-नियम हैं । मेरा उनके बीच यो जाकर बस जाना, उनके भी तो लोकाचार-की मर्यादाको चोट ही पहुचायेगा । एक पूरे समाजकी शातिको भगकर, यदि उन्हें देनेको समाधानका कोई उत्तर मेरे पास नही है, तो वहा मैं एक बहुत बडे असत्य और लोक-घातकी अपराधिनी बनूगी ।—तुम्ही बताओ जीजी, यह सब मैं कैसे कर सकूगी ? देख नही रही हो, जिस तरहके प्रश्न और चर्चाए ग्राम-जनोंके बीच चल पडी हैं—? चलनेके दिन ही तुमसे कह चुकी थी कि, वनके सिवाय और वास मेरे लिये इस समय कही भी नही है । राहके ये विश्राम तो सहज आनुषगिक ही थे । मनुष्यके प्रेमका पाथेय विपदकी राहके लिये जुटा लेनेकी इच्छा थी । वह प्रसाद पा गई हू—अब चल देना होगा जीजी ”

वसतने बार-बार अनुभव किया है कि अजना तर्ककी वाणी नही बोलती हैं । आत्म-वेदनाका यह सहज निवेदन, सुननेवालेके मनपर अग्नि के अक्षरोमें ज्वलित हो उठता है । उसपर क्या वितर्क हो सकता है ? वसत चुप हो गई । अगले सवेरेके आलोकसे भर आते अँधेरेमें, उन्होने पग-डडिया छोडकर वनकी राह पकडी—अनिश्चित और रेखाहीन ।

[ २६ ]

दिनका उजाला जब झाकने लगा था तब उन्होंने पाया कि पलाश, बबूल और खजूरोके एक घने वनमें वे घुसी जा रही है। जहा तक दृष्टि जाती है, खजूरोके कटीली छालवाले तने घने होते दीख पड़ते हैं। वनकी इस अखड गभीर निस्तब्धतामें मानो प्रेतोकी छाया-सभा अविराम चल रही है। बीच-बीचमें सागी और शीशमके बडे-बडे पत्तोवाले वृक्षोकी घनी झाडियोके प्रतान फैलते ही चले गए हैं। मर्त्य मानवकी असख्य निपीडित इच्छाए विकराल भूतो-सी एक साथ जैसे भूमिसे निकल पडी है, और अपने ही ऊपर दिन-रात एक मूक व्यगका अट्टहास कर रही हैं।—और लगता है कि खजूरोके तने अभी-अभी कुछ बोल उठेंगे, पर वे बोलते कुछ नही है। निस्तब्धता और भी घनी हो उठती है। और वही मूक आक्रद भरा हास्य दूर-दूरतक और भी तीखा होता सुनाई पडता है। मलय और सल्लकीकी गधसे भरा प्रभातका शीतल पवन डोल-डोल उठता है। पलाश, सागी और शीशमके प्रतान हहरा उठते हैं। वनानीके प्राणमें सुदीर्घ व्यथाका एक उच्छ्वास सरसरा जाता है। सृष्टिके हृदयका करुण सगीत नाना सुरोमे रह-रहकर बज उठता है। और चिरौंजी-वृक्षकी शाखामें दो-तीन नीली और पीली चिडियाएँ 'कीर-कीर'-'टीर-टीर' प्रभाती गा उठती है।

अजना जैसे अवचेतनके अधेरे द्वारोको पार करती चल रही थी। पखियोका प्रभात-गान सुन उसकी तद्रा टूटी। ऊपर हिलते हुए पत्रोमे आकाशकी शुचि नीलिमा रह-रहकर झाक उठती है। मुस्कराकर कौन अनिद्य, कात, युवा मुख आख-मिचौनी खेल रहा है? उसे पकड पानेको उसके मन प्राण एक-बारगी ही उतावले हो उठे। पर चारो ओर रच दी है उसने यह भूल-भुलैयाकी माया! जिधर जाती है उधर ही सकुल और भयावह झाड-झखाडोसे राह रुँधी है। पैरो तलेकी धरती बहुत विपम और ऊबड-खाबड है। ढेर-ढेर जीर्ण पत्तोसे भरे तल-देशमें

पैर धँस-धँस जाते है। भूशायी कटीली शाखाओके जालोमें पैर उलझ जाते हैं। सैकडो सूक्ष्म काटे एक साथ पगतलियोमें विंध जाते है। लड-खडाती, पेडोके तनोसे धक्के खाती, एक-दूसरीको थामती दोनो बहनें चल रही हें। पैर कहा पड रहे है उसका भान ही भूल गया है।—अरे इस मायावीकी भूल-भुलैयाका तो अत ही नही है!—हाथपर ताली वजाकर वह भाग जाता है।—अजना शून्यमें हाथ फैला देती है। पर वहा कोई नही दिखाई पडता। चारो ओर उगी घास और सकुल झाडियोमें डूवती-उतराती वह बढती ही जाती है। चलते-चलते गतिका वेग अदम्य हो उठा है। अजनाके पीछे उसके कधो और कमरको हाथसे थामे वसत चल रही है। पर गतिके इस वेगको थामनेकी शक्ति उसमें नही है। इस वात्या-चक्रमें एक धूलि-कण या तिनकेकी तरह वह भी उड़ी जा रही है।

पत्तोके हरियाले वितानमें अजनाको उस युवाके उडते हुए वसतका आभास होता है. । आस-पाससे शरीरको छूता हुआ वह प्राणोको एक मोहकी उन्मादक गधसे आकुल-व्याकुल कर जाता है। मुँदी आखो, वे शून्यमे फैली हुई भुजाए उसे वाध लेना चाहती है। वह हरियाला कोमल पट हाथ नही आता। केवल कटीली शाखाओके काटे वक्षमे विंध जाते हैं। खजूरोके उन असख्य, काले, कुरूप तनोकी सरणिमे, वह मुस्कराहट और वह किरीटकी आभा झाककर ओझल हो जाती हैं। अजना झपटती है। किसी एक खजूरके तनेसे जाकर टकरा जाती है। शून्यकी थकी भुजाए विह्वल होकर उस तनेको आलिगन-पाशमें वाध लेती है। प्यारके उन्मेषमें उस कटीली छालपर वह लिलार और कपोलोसे रभस करती हुई वेसुध हो जाती है। मानो उस समूची परुपता और प्रहारकताको अपनी कोमलतामें समाकर वह नि शेष कर देना चाहती है। वसत उसे पीछेसे खीचकर, उसकी पीठको अपनी छातीसे लगाये रखनेके सिवा और कुछ भी नही कर पाती है। भीतर रुदन और

चीत्कारें गुगला रही हैं। चारो ओरसे चोटपर चोट, आघातपर आघात लग रहा है। एक आघातकी वेदना अनुभव हो, उसके पहले ही दूसरा प्रहार कहींसे होता है। पैर किसी गड्ढेमें धँस रहा है, निकल पाना मुश्किल हो गया है, कि उधर माथा किसी कटीली शाखा या तनेसे जा टकराया है। रास्ता चारो ओरसे भूल गया है। इधरसे उधर और उधरसे इधर वे टकराती, चक्कर खाती फिर रही हैं। चेहरेपर और देहमें रक्त और पसीना एकमेक होकर वह रहा है। शरीरके रोए-रोएसे पीडा और प्रहारका वेदन वह उठा है—और उसी प्रश्रवणमें आकर, अंतरके गभीर आसू भी खो जाते हैं। जैसे उनकी कुछ गिनती ही नहीं है। अपनी ही करुणाके प्रति भीतर वे अत्यत निर्दय और कठोर हो गयी हैं। अरे, इस पापिन देहपर और करुणा, जिसके कारण ही यह सब झेलना पड रहा है।—छिल-छिलकर, बिंध-बिंधकर इसका तो निःशेष हो जाना ही अच्छा है। और भीतर प्रहार लेनेके लिए भी एक अदम्य आकर्षण और वासना जाग उठी है। उसीसे खिंची हुई बेतहाशा और अनजाने वे अपनेको उस अदृश्य और अमोघ धारपर फेंक रही हैं। वह धार जो चेतनको अचेतनके आवेष्ठनसे मोह-मुक्त कर देगी। कि फिर नग्न और अघात्य चेतन इस सारी प्रहार-लीला और अवरुद्धतामेंसे अतर्गामी होकर अनाहत पार होता चले।

फिर एक सुदीर्घ वेदनाके आक्रद-उच्छ्वासमें वन-देश मर्मरा उठा। अजनाको हल्का-सा चेत आया। सर-सर करते हुए दो-चार पीले पत्ते ऊपरसे झर पडे। उसने पाया, उस निबिड, निर्जन अटवीमें, पुरातन पत्रोकी शय्यापर वह लेटी है। पास बैठी वसत मूक-मूक आसू टपका रही है। उसने देखा कि उसकी जीजी की सारी देह और चेहरा, जहा-तहा काटोसे बिंधकर क्षत-विक्षत हो गया है। क्षतोमेंसे रह-रहकर रक्त वह रहा है। अश्रु-निबिड आखोसे, एक विवश पशुकी तरह, पुत-लियोमें तीव्र जिज्ञासा सुलगाये, वसत उस अजनाकी ओर ताक रही

है ।—उस वेदनाके दर्पणमे अजनाने अपना प्रतिविंव देख लिया ।—लगा कि लोहित अनुरागसे झरते हुए पद्म-सपुटसे वे ओठ फिर मुस्करा उठे है. ! कैसा दुर्दाम और भयावह है यह समोहन, यह आवाहन ।—उसने पाया कि रक्तावर ओढे वह अभिसारके पथपर चल रही है । .

और सुदूर क्षितिजकी धुधली रेखापर उसे दीखा आकाशकी अनत नीलिमाको चीरता वह युवा चला आ रहा है । शिशु-सी अवोध है उसकी मुस्कराहट । शुभ्र हिम-पर्वतोंका वह मुकुट धारण किये है । वक्षपर पडी है वनोकी मालाए । और कटिके नीचे सात समुद्रोके जल वसन वनकर लहरा रहे है । भुजमूलोमे अतल खाइयोकी अधकार-राशि झाक रही है । उसका लाल फूलोका धनुष तनता ही जा रहा है, और उसकी मोहिनी पथ वनकर पैरोको खीच रही है ।

वसत अपने आचलसे, अजनाके शरीरमें, जहा-तहा निकल आये रक्तको पोछ रही थी । कि अजनाने एकाएक उसका हाथ पकडकर थाम लिया और हँसती हुई वोली—

"इस छविको मिटाओ नही जीजी, राहकी रेखा यही तो है ।—लो चलो, रुकने का धीरज अव नही है । पुकार प्राणोको वीध रही है । विलव न करो, मिलनकी लग्न-वेला टल जायेगी. . !"

"पर अजन, कहा चल रही हो ? यहा रास्ता जो नही दीख रहा है. . ?"

विना उत्तर दिये ही अजना उठ वैठी और वसतका हाथ पकड उसे खीचती हुई फिर वढ गई—उसी झखाडो से घिरी वनकी विजन वाटमें ।

दोपहरी का प्रखर सूर्य जव ठीक माथेपर तप रहा था, तव वे उस खर्जूर-वनको पारकर खुले आकाशके नीचे आगई । सामनेसे चली गई है वन्य-नदीकी रेखा । रुपहरी वालूकी स्निग्ध उपल-सेजमे, जलकी धारा लीन होती-सी लोट रही है । दूर-दूरतक सुषम वन-श्रीको चीरती

हुई, नाना भंग बनाती, कहीं-कहीं वनके गहन अंचलमें जाकर खो जाती है। आगे जाकर धारा पृथुल हो गई है, और वनच्छायामें कहीं श्याम, कहीं जामनी और कहीं पीली होती दीख पड़ती है। पुलिनोंमें लहलहाती कासमें शरदकी श्री खिलखिला रही है।

रुककर अंजना बड़ी देर तक, दूर जहाँ नदी के अंतिम भंगकी रेखा खो गई है, दृष्टि गड़ाये रही, फिर वसंतके गलेमें हाथ डालकर बोली—

"कैसी कोमल, उजली और स्निग्ध है यह पथकी रेखा, जीजी! वनके इस आँचलमें यह छुपी है, पर कितने लोग इसे जानते हैं? किस अज्ञात पर्वतकी बालिका है यह नदी? अनेक विजनोंकी जटीभूत रुद्रना-मेंसे, जलकी इस धाराने अपना पथ बनाया है।—और पीछे छोड़ गई है पथिकोंके लिए विश्रामकी मृदुल शय्या। अवरोध है, इसीसे तो मार्गका अनुरोध है। अवरोधोंको भेदकर ही वह खुलेगा। मार्गकी रेखाएँ पृथ्वीमें पहले ही से खिंची हुई नहीं हैं। जीवनी-शक्ति सतत गतिमान है—मनुष्य चल रहा है कि मार्ग बनता गया है! पहले कोई चला है, तभी वह बना है। आदि दिनसे वह नहीं था..."

नदीकी धाराको पार कर, आगे जानेपर उन्हें सल्लकी लताके मंड-पोंसे घिरी एक वन्य-सरसी दीख पड़ी। उसके बीचके ऊर्मिल जलमें शरदके उजले बादलोंका प्रतिबिंब पड़ रहा है, और तटोंमें घनी शीतल छाया है। लता-मंडपमें हथनियोंका एक यूथ, सल्लकीकी गंधमें मस्त होकर झूम रहा है। पास आनेपर दीखा, सामनेके तटकी एक शिलापर एक जरठ-जीर्ण भीलनी नहा रही है। सारे बाल उसके सफेद हो गये हैं। अपने काले शरीरपर दोनों हाथोंसे मिट्टी मल-मलकर वह उसे स्वच्छ कर रही है।

अंजनाने कौतूहलसे उसे देखा, फिर हँस आई और दोनों हाथ जोड़ उसे प्रणाम किया। भीलिनीके मिट्टीमें भरे हाथ अधरमें उठे रह गये। वह नहाना भूलकर उस पार आश्चर्यसे देखती रह गई। उसकी पुरातन

गर्दन वर्गद-सी हिल उठी। इस जगलमे युग-युग उसने विता दिये हैं, कई चमत्कार उसने देखे सुने है, पर रूपकी ऐसी माया कभी न देखी।

अजना हाथका सिराहना वनाकर तटकी शाद्वल हरियालीपर लेट गई, और तुरत उसकी आख लग गई। वसतको न सोये चैन है न वैठे। अपने अपनत्वको रख सकनेका वल उसमे नही है। वालककी तरह क्षण मात्रमें ही अभय होकर सो गई, इस विपदा-ग्रस्त, पागल लडकीके चेहरेमें, घूम-फिरकर उसकी दृष्टि आ अटकती है। उसकी मन, वचन, कर्मकी शक्तिया इस लडकीसे भिन्न होकर नही चल पा रही है। उसकी सत्ताके केंद्रमें है अजना। एक मौन रुदनका झरना उसकी आखोसे रह-रहकर झर रहा है। अजनाकी सारी वेदना आकर उसकी आत्मामे पूजीभूत और सघन हो रही है। भीलनीको पाकर वसतकी जिज्ञासा तीव्र हो उठी, जो भी उसे देखकर भयसे वह काप-काप आई। पर वनकी इस भयानक निर्जनतामे यह पहली ही मानवी उसे दीखी है, सो वरवस उसकी ओर एक आदिम आत्मीयताके भावसे वह खिची चली गई। पास पहुचकर उसने भीलनीको ध्यानसे देखा। वुढियाके सैकडो झुर्रियोवाले मुखपर गुफा-सी ऊडी कोटरोमें, माशालो-सी दो आखें जल रही थी। चट्टान-से उसके शरीरमें जहा-तहा झखाडोसे सफेद वाल उगे थे। वसतने हिम्मत करके उससे पूछा कि आगे जानेको सुगम रास्ता कहासे गया है ?

भीलनी पहले तो वड़ी देर तक, सिरसे पैर तक वसतको वडे गौरसे देखती रही। फिर रहस्यके गुरु-गभीर स्वरमे वोली—

"इधर आगे कोई रास्ता नही है। क्या इधर मौतके मुहमें जाना चाहती हो ? आगे मातग-मालिनी नामकी विकट वनी है। महाभयानक दैत्यो और क्रूर जतुओंका यह आवास है। मनुष्य इसमें जाकर कोई नही लौटा। पुरातनके दिनोमें, सुना है, कई शूर नर निधियोकी खोजमें इस वनीमें गये, पर लौटकर फिर वे कभी नही आये। भूलकर भी इस

राह मत जाना ! रास्ता नदीके उस तीरपर होकर है। अपनी कुशल चाहो तो उधर ही लौट जाना।"

इतना कहकर वसत और कुछ पूछे, इसके पहले ही भीलिनी वहासे चल दी। द्रुत पगसे चलती हुई सल्लकीके प्रतानोमें वह तिरोहित हो गई।

थोडी ही देरमे अजनाकी जब नीद खुली, तो वह तुरत उठ बैठी। गतिकी एक अनिर्बंध हिल्लोलसे जैसे वह उछल पडी। विना कुछ बोले ही वसतका हाथ खीचकर सामनेकी उस अरण्यमालाकी ओर बढी। तब वसतसे रहा न गया, झपटकर उसने अजनाको पीछे खीचा—

"नही अजनी नही नही नही नही जाने दूगी इस वनीमें —आह मेरी छौना-सी अजन, यह क्या हो गया है तुझे ? अब तक तेरी राह नही रोकी है—पर इस वनमें नही जाने दूगी। मनुष्यके लिये यह प्रदेश अगम्य और वर्जित है। इसमें जाकर जीवित फिर कोई नही आया। अभी तेरे सो जानेपर उस बूढी भीलिनीसे मुझे सब मालूम हुआ है।"

कहकर उसने भीलिनीसे जो कुछ जाना था वह सब बता दिया। अजना खिल-खिलाकर ज़ोरसे अट्टहास कर उठी—बोली—

"मनुष्यके लिये अगम्य और वर्जित कही कुछ नही है, जीजी ! इन्ही मिथ्यात्वोके जालोको तो तोडना है। अभी-अभी मैने सपना देखा है, जीजी, इसी अरण्यको पाकर हमें अपना आवास मिलेगा। इसी अटवीके अधकारमें पथकी रेखा मैने स्पष्ट प्रकाशित देखी है।—राह निश्चित वही है, इसमें राइ-रत्ती सदेह नही है।—देर हो जायगी जीजी मुझे मत रोको "

कहकर अजनाने एक प्रबल वेगके झटकेसे अपनेको वसतसे छुडा लिया और आगे बढ गई। झपटकर वसतने आगे जा, अजनाकी राह रोक ली, और भूमिपर गिर पडी। उसके पैरोसे लिपटकर चारो

ओरसे अपनी भुजाओंमें दृढ़तासे कस लिया और फफक-फफककर रोने लगी। रुदनके ही उद्विग्न स्वरमें बोली—

"नहीं जाने दूंगी ..हर्गिज नहीं जाने दूंगी . ओह अंजनी. .मेरी फूल-सी बच्ची—तुझे क्या हो गया है यह ? ऐसी भयानक—ऐसी प्रचंड हो उठी है तू .? तेरी सारी हठोंके साथ चली हूं, पर यह नहीं होने दूंगी। देखती आंखों कालकी डाढ़ोंमें तुझे नहीं जाने दूंगी। और फिर भी तू नहीं मानेगी तो प्राण दे दूंगी। फिर अपनी जीजीके शवपर पैर रखकर जहां चाहे चली जाना।"

अंजनाके रोम-रोममें वेगकी एक विजली-सी खेल रही है।—पर वसंतकी बात सुनकर वह दुर्दम लड़की जैसे एक बारगी ही हत-शस्त्र सी हो गई। धपसे वह नीचे बैठ गई और अपनी जीजीको उठाया। फिर आप उसकी गोदमें सिर रखकर रो आई और आंसुओंसे उमड़ती आंखोंसे वसंतके मुखको मौन-मौन ही बहुत देरतक ताकती रही। फिर अनुरोध कर उठी—

"क्षमा करना जीजी, अपने पापोंके इस अतलांत नरकमें घसीट लाई हूं मैं तुम्हें—! बराबर तुमपर अत्याचार ही करती जा रही हूं। घोर स्वार्थिनी हूं, अपने ही मोहमें अंधी होकर मैं तुम्हें रसातलमें खींच रही हूं, जीजी। पर आह जीजी, मेरे प्राण मेरे वशमें नहीं हैं ..यह कौन है मेरे भीतर जो करोड़ों सूर्योंके रथपर चढ़कर विद्युत्के वेगसे चला आ रहा है प्राणोंको यह दिन-रात खींच रहा है. . इसी अरण्य-मालामें होकर जायेगा इसका रथ! . तुम कुछ करके मुझे रोक सको तो रोक लो . पर रुकना मेरे वशका नहीं है! रुककर जैसे रह नहीं सकूंगी ! तुम जानो, जीजी"

कहकर अंजना चुप हो गई। उसकी मुंदी आंखोंसे आंसू अविराम झर रहे थे। देखते-देखते अंजनाके उस मुखपर एक विषम वेदना झलक उठी। वक्ष और पेट तीव्र श्वासके वेगसे हिलने लगे। वसंतने देखा

और भीतर ही भीतर गुन लिया अजनाको बडा ही कठिन दोहेला (गर्भिणी स्त्रीकी वह विचित्र साध, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो जाती है) पडा है। निश्चय ही इस साधकी पूर्तिके बिना इसके जीवनकी रक्षा सभव नही है। नही जाने दूगी तब भी यह प्राण त्याग देगी, और जाने दूगी तो जो भाग्यका लिखा है, वही हो रहेगा। जाने कौन महाहतभागी जीव इसके गर्भमें आया है, जो आप भी ऐसे दारुण कष्ट झेल रहा है, और अपनी जनेताके भी प्राण लेकर ही जो मानो जन्म धारण करेगा। और अजनासे अलग हटाकर, अपने ही लिये अपने जीवनकी रक्षाका विचार करनेकी स्थिति तो अब बहुत पीछे छूट गई थी। नये सिरेसे आज उसे अपने बारेमें कुछ भी सोचना नही है। भीतर उसे लगा कि जैसे वह सारा घुमडता रुदन एकबारगी ही शात हो गया है। आप स्वस्थ होकर थोडे जल और मिट्टीके उपचारसे उसने अजनाको भी स्वस्थ कर लिया। फिर हँसती हुई बोली—

"जहा तेरी इच्छा हो वही चल, अजन! भगवान् मगलमय है। उनकी शरणमें रक्षा अवश्य होगी।"

××× यह मातग-मालिनी नामकी अटवी, पृथ्वीके पुरातन महावनोमेसे एक है, जो अपनी अगमताके लिये आदिकालसे प्रसिद्ध है। आस-पासके प्रदेशोमें इस वनीके बारेमे परपरासे चली आई अनेक दत-कथाए प्रचलित है। कहते है इसकी तहोमें अनेक अकल्पनीय ऋद्धिसिद्धि देनेवाले रत्नोके कोष, महामृत्युकी आतक-छाया तले दिवा-रात्रि दीपित है। इसमें पाताल-स्पर्शिनी वापिकाए है, जिनसे निकलकर पृथ्वीके आदिम अजगर, वनस्पतियोकी निविड गधमें मत्त होकर लोटते रहते है। अनेक विजेता, विद्याधर, किन्नर गधर्व, अपने बल-वीर्य और विद्याओपर गर्वित हो, निधिया पानेकी कामना लेकर इस वनमे घुमे और लौटकर नही आये!

अजना और वसतने अपने नामशेष, रक्तभरे आचलको भूमिपर

बिछाकर, मृत्युजयी जिनको साष्टाग प्रणाम किया। उठते हुए अजनाने पाया कि टूटकर आये हुए नक्षत्र-सा एक पछी उसके दाये कधेपर आ बैठा हैं। स्थिर ज्वालाओ-सा वह जगमगा रहा है—देखकर आखें चुधियाती हैं। अजना सिरसे पैरतक थर-थरा आई और सहमकर मुह फेर लिया। पक्षी उडकर उसी अरण्य-वीथीके भीतर, एक ऊची शाखापर जा बैठा। अजनामें कप और उल्लासकी हिलोरें दौडने लगी। उसका सारा शरीर एक अपूर्व रोमाचसे सिहर उठा। अनायास अजना, उस अनल-पछीको पकडनेके लिये उस वन-वीथीमे लपक पडी, और उसके ठीक पीछे ही दौड पडी वसत। उनके देखते-देखते दूर-दूर उडता हुआ वह पछी, उस वनके अतरालमें जाने कहा अलोप हो गया।—और उस महाकातारमें वेतहाशा दौडती हुई वे उसे खोजने लगी।—

.. ज्यो-ज्यो वे दोनो आगे बढ रही हैं, अधेरा निबिडतर होता जाता है।—देखते-देखते आकाश खो गया है, तल असूझ हो रहा है। पग-पगपर भूमि विषम-तर हो रही है। झाड-झखाडोमें भालोके फलोसे तीक्ष्ण पत्ते और काटे चारो ओरसे देहमे विध रहे हैं। पाताल-जलोमे सिंचित सहस्रावधि वर्षोंके पृथ्वीके आदिम वृक्ष, वृहदाकार और उत्तुग होकर आकाशतक चले गये हैं। उनके विपुल पल्लव-परिच्छदमें सूर्यकी किरणका प्रवेश नही है। तमसाके इस साम्राज्यमें दिन और रातका भेद लुप्त हो गया है। समयका यहा कोई परिमाण नही, अनुभव भी नही। प्रकाड तमिस्राकी गुफाए दोनो ओर खुलती जाती है। पृथ्वी और वनस्पतियोंकी अननुभूत शीतल गधमें अजना और वसतकी बहिश्चेतना खो गई है। केवल अतश्चेतनकी धाराए अपने आपमें ही प्रकाशित, इस अभेद्यतामे बही जा रही है। आदिकालके पुजीभूत अधकारकी राशिया चारो ओर विचित्र आकृतिया धारणकर नाच रही हैं। अजनाको दीखा, आत्माके अनत स्तरोमें छुपे नाना अप्रकट पाप और तृष्णाए यहा नग्न होकर अपनी लीला दिखा रहे हैं। पर्वताकार तमकी अध लहरें बनकर

वे आते हैं, और आत्मापर रह-रहकर आक्रमण कर रहे हैं।. और तब भीतर अजनाको एक झलक-सी दीख जाती दीखता कि वह करोडो सूर्योके रथपर बैठा युवा एक कोमल भ्रूभग मात्रमें उन्हें विदीर्णकर, अपना रथ अरोक दौडाये जा रहा है। उसकी मुस्कराहट पथपर, पैरोके सम्मुख प्रकाशकी एक रेखा-सी खीच देती है।

चलते-चलते अजना और वसतको अकस्मात् अनुभव हुआ कि पैरोके नीचेसे तीक्ष्ण पत्थरो और काटोसे भरी विषम भूमि गायब हो गई। एक अगाध और सुचिक्कण कोमलतामे पैर फिसल रहे हैं। त्वचाकी एक ऊष्म मासलतामें जैसे वे धँसी जा रही है। रलमलाकर वह रेशमीन स्निग्धता शरीरमें लहरा जाती है। भीतर जैसे एक उल्का-सी कौंध उठी और उसके प्रकाशमें अजना और वसतको दीखा—प्रचड अजगरोकी मडलाकार राशिया उनके पैरोके नीचे सरसरा रही हैं। चारो ओर उडते हुए नाग-नागिनोके जोडे, रह-रहकर देहमें लिपट जाते हैं और फिर उड जाते हैं। आस-पास दृष्टि जाती है—उन तमिस्रकी गुफाओमें विचित्र जतुओ और भयावने पशुओके झुड चीत्कारे करते हुए सघर्ष मचा रहे हैं। उन्हीके बीच उन्हे ऐसी मनुष्याकृतिया भी दीखी जिनके बडे-बडे विकराल दात मुहसे बाहर निकले हुए है, माथेपर उनके त्रिशूलसे तीखे सीग हैं और अतहीन कषायमें प्रमत्त वे दिन-रात एक दूसरेसे भिड़िया लड रहे हैं।

कि अचानक पृथ्वीमेंसे एक सनसनाती हुई फुकार-सी उठी, और अगले ही क्षण स्फूर्त विषकी नीली लहरोका लोक चारो ओर फैल गया। सहस्रो फनोवाले मणिधर भुजग भूगर्भसे निकलकर चारो ओर नृत्य कर उठे। उनके मस्तकपर और उनकी कुडलियोमे, अद्भुत नीली, पीली और हरी ज्वालाओसे झगर-झगर करते मणियोके पुज झलमला रहे हैं। उनकी लौमेंसे निकलकर नाना इच्छाओकी पूरक विभूतिया, अप्रतिम रूपसी परियोके रूप धारणकर एकमें अनत होती हुई, अजना और वसतके

पैरोंमें आकर लोट रही हैं, नाना भगोमें अनुनय-अनुरोधका नृत्य रचती वे अपनेको निवेदन कर रही हैं। पर उन दोनो बहनोमें नही जाग रही है कोई कामना, कोई उत्कठा। बस वे तो विस्मय और जिज्ञासासे भरी मुग्ध और विभोर ताकती रह गई हैं।

तभी एक तीव्र सुगधसे भरी वाष्पका कोहरा चारो ओर छा गया। अजना और वसतके श्वास अवरुद्ध होने लगे, एक-दूसरेसे चिपटकर बिल-बिलाती हुई वे आगे भाग चली। चलते-चलते कुछ ही दूर जाकर उन्होने पाया कि आगेका वन-प्रदेश अभेद्य हो पडा है। जिस ओर भी वे जाती हैं वृक्षोके तनोसे सिर उनके टकरा जाते हैं—और कटीले झाड-झंखाडोकी अवरुद्धतामें देह छिल-छिल जाती है। थोडी ही देरमे सारे वन-प्रदेशकी स्तब्धता एक सरसराहटसे भर गई। चारो ओरसे भूकपी पद-सचारके धमाके सुनाई पडने लगे। दोनो बहनोकी आखोमें फिर एक बिजली-सी कौंध गई। उसके प्रकाशमें दीखा कि जहातक दृष्टि जाती है, सूचीभेद्य शाखा और पल्लव-जालोका प्राचीर-सा खडा है। इस क्षण वह सारी अटवी जैसे एक बवडरके वेगसे हहरा उठी है। और इतने हीमे आस-पासमे गुर्राते हुए और लोमहर्षी गर्जन करते हुए कुछ बडे ही भीषण और पृथुलकाय हिंस्र पशु चारो ओरसे झपट पडे। उनके प्रचड शरीरोकी कशम-कशमे दबकर दोनो बहनें एक-दूसरेसे चिपट-कर चिल्ला उठी। तभी लप-लप करती उनकी विकराल जबानें और उनकी डाढे फैलकर उन्हे लीलनेको आती-सी दीख पडी। उनकी आखें अगारो-सी दहकती हुई अधिकाधिक प्रखर हो उठती हैं।

कि एकाएक दूरतक फैले इन पशुओके विशाल झुडके बीच अजनाको दीख पडा वही युवा रथी, जो कौतुककी हँसी हँसता हुआ पास बुला रहा है। एक मधुर मार्मिक लज्जासे पसीजकर अजना निगडित हो रही। जाने क्या लीलाकी तरग उसे आई कि बडी ही स्नेह-स्निग्ध और तरल वात्सल्यकी आखोसे अजना उन पशुओको देख उठी। लीलनेको आती

हुई उन डाढोके समुख उसने वडे ही विनीत आत्म-दानके भगमें अपनेको अर्पित कर दिया, कि चाहो तो लील जाओ, तुम्हारी ही हू । क्षण मात्रमे वे ज्वलित आखे, वे डाढें, वह गर्जन सभी कुछ अलोप हो गया। अजना और वसतको अनुभव हुआ कि केवल वहुतसी जिह्वाओके ऊष्म और गीले चुवन उनके पैरोको दुलरा रहे है।

सव कुछ शात हो गया है, फिर वे अपने मार्गपर आगे बढ चली ह। आस-पास कही वनस्पतियोके घने और जटिल जालोमें दिव्य औपधियोका शीतल, मधुर प्रकाश झल-झलाता-सा दीख जाता है। तो कही पैरो तले पृथ्वीके निगूढ विवरोमे स्वर्ण और चादीकी रज विछी दीखती है, और उनपर पडे दीखते है वर्ण-वर्ण विचित्र रत्न, जिनमें सतरगी प्रभाकी तरगे निरतर उठ-उठकर लीन हो रही है। अजना और वसतको प्रतीत हुआ कि आत्मामें सोई जन्म-जन्मकी कामनाए अँगडाई भरकर जाग उठी है। और कुछ ही क्षणोमें उन्होने पाया कि अपनी विविध रूपिणी इच्छाओके सारे फल एकवारगी ही पाकर वे निहाल हो गई है। क्षणैक उन्होने अनुभव किया जैसे सारे भय, पीडा और चिताए आत्मासे पीले पत्तोकी तरह झरकर उन रत्नोकी शीतल तरगोमें डूब गये है। एक अपूर्व अतीद्रिय आनदकी गभीरतामें डूबी दोनो वहनें आगे वढती गई।

××× एकाएक उन्हें धुधलासा उजाला दीखा। वनके शाखा-जाल प्रत्यक्ष होने लगे। थोडी दूर और चलनेपर सामने मानो पृथ्वीका तट दीख पडा, और उसके आगे फैला है आकाशका नील और निश्चिह्न शून्य। उस शून्यमे दूरसे आता हुआ एक महाघोप सुनाई पडा। ज्यो-ज्यो वे आगे वढ रही है वह महारव अपने प्रवाहमे टूटकर अनेक ध्वनियोमे विखरता जा रहा है। पैर त्वरासे उस ओर खिचते जा रहे है—

चलकर उस छोरपर जव वे दोनो पहुची, तो उन्होने अपनेको एक अतलात खाईके किनारेपर खडा पाया। उत्तुग पर्वत-मालाओके बीच

महाकालकी डाढ-सी यह खाई योजनोके विस्तारमे फैली है। सामने पर्वतके सर्वोच्च शिखर-देशकी वनालीमेंसे घहराकर आता हुआ एक झरना, सहस्रो धाराओमे बिखरकर, गगन-भेदी घोष करता हुआ खाईमे गिर रहा है। उसपरसे उडते हुए जल-सीकरोके कुहासेमे उड-उडकर फेन, वातावरणको आर्द्र और धवल कर रहे है। अस्तगामी सूर्यकी लाल किरणे, दूर-दूरतक चली गई हरित-श्याम शैलमालाओके शिखरोमें शेष रह गई है। घाटियोमे सायाह्नकी नीली छायाये घनी हो रही है। दूर खाईके आर-पार उडे जाते पछियोके पखोपर दिनने अपनी विदाकी स्वर्ण-लिपि आक दी है।

उस अपरिमेय विराटताके महाद्वारके समुख अजना अपनी लघुतामे सिमटकर मानो एक बिंदु मात्र शेष रह गई। .पर अपने भीतर एक सपूर्ण महानतामें वह उद्भासित हो उठी। उसने पाया कि प्रकृतिके इस अखंड चराचर साम्राज्यकी वही अकेली साम्राज्ञी है। उसकी इच्छाके एक इगितपर ये उत्स फूट पडे है, उसकी उमगोपर ये निर्झर और नदिया ताल दे रही है। उसके भ्रू-सचालनपर ये तुग पर्वत उठ खडे हुए है और आकाश-की थाह ले रहे है। एक अदम्य आत्म-विश्वाससे भरकर उसने पास खडी वसंतको देखा। भयसे थर्राती हुई वसत मानो सफेद हो उठी थी। मृत्युके मुहसे निकलकर अभी आई थी कि फिर यह दूसरा काल सामने फैला है। यहासे लौटकर जानेको और कोई दूसरा रास्ता नही है, और न यही विरामकी सुरक्षा और सुगमताका आश्वासन है। हाय रे दुर्दैव!

एक लीलायित भगसे भौहें नचाकर हँसती हुई अजना बोली—

"घबराओ नही जीजी, वे देखो नीचे जो गुफाए दीख रही है, वही होगा हमारा आवास। आओ, रास्ता बहुत सुगम है, तुम आखें मीच लो!"

कहते हुए अजनाने वसतको छातीसे चिपका लिया। वह स्वय नही जान रही है कि नीचे उतरनेका रास्ता कहा है और कैसा है। उस बीहड

विभीषिकामें कही कोई रास्तेका चिह्न नही है। अजना तो बस इतना भर जानती है कि उन नीचेकी गुफाओमें होगा उनका आवास, और वहा पहुचना उनका अनिवार्य है। भयसे थर-थराती वसतको सीनेसे चिपकाये, उस कगारके ठीक किनारेसे एक बहुत ही सकीर्ण और खतरनाक राहपर वह चल पडी। कुछ दूर चलकर, झाडियोमे घुस उसने चट्टानोका एक रास्ता पकडा। और एकाएक वृक्षोकी वीथियोमेंसे उसे दीखा—जैसे किसीने खाईके तलतक बडी ही सुगम, प्रकृत सीढिया-सी बना दी है, जिन-पर ऊपरसे झर-झर कर नाग और तिलक वृक्षो की मजरिया बिछ गई है और लवग-लताओंकी कुसुम-केसर फैली है। चकित होकर अजनाने वसतसे कहा—

"देखो न जीजी, हमारे पथमे फूलोकी सीढिया बिछ गई है!"

चौंककर वसतने देखा तो पलक मारतेमे पाया, जैसे स्वर्गके पटल सामने फैले है। सुख और आश्चर्यसे भरकर वह पुलक उठी, जैसे एक नये ही लोकमे जन्म पा गई है। गलबाही डालकर दोनो बहनें बडे सुखमे नीचे उतर आई।

निर्झरके फेनच्छाय कुडमेंसे गुरु-गभीर नाद करती हुई पार्वत्य सरिता उफन रही है। तट-वर्ती काननकी गुफित निबिडतामें होकर दूरतक नदीका प्रवाह चला गया है। राहमें पडनेवाले सैकडो ऊचे-नीचे पाषाण गह्वरोमें वह महा-घोष खड-खड होता सुन पडता है।

चट्टानोकी विषम भूमि कटितक ऊचे गुल्मोसे पटी हुई है। उन्हीमे होकर जल-सीकरोके कुहासेको चीरती हुई दोनो बहनें आगे बढी। कुछ दूर चलनेपर झरनेके दक्षिण ओर वह गुफा दीखी, जिसे ऊपरसे अजनाने चीन्हा था। गुहाके द्वारमे जो दृष्टि पडी तो पलक थमे ही रह गये

एक शिलातलपर पल्यकासन धारण किये, एक दिगबर योगी समाधिमे मेरु-अचल है। बालक-सी निर्दोष मुख-मुद्रा परम शात है। ओठोपर निरवच्छिन्न आनदकी मुस्कान दीपित है। श्वासोच्छ्वास निश्चल

है। नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि स्थिर है। मस्तकके पीछे उद्भासित प्रभा-मडलमें, गुफाके पाषाणोमे छुपे रत्न प्रकाशित हो उठे हैं। कुछ ऐसा आभास होता है जैसे ऋद्धियोके ज्योति पुज, रह-रहकर मुनिके वाल-शरीरमेंसे तरगोकी तरह उठ रहे हैं।

अजना और वसतको प्रतीत हुआ कि जैसे उस दर्शन मात्रमें भव-भवके दुःख विस्मरण हो गये हैं। दोनो वालाओके अग-अगमे सैकडो क्षतोसे रक्त वह रहे हैं। उन शिरीष-कोमल देहोपर लज्जा ढाकनेको मात्र एक तार-तार वसन शेष रह गया है। जटा-जूट विखरे केश पत्तो, काटो और वन्य-फूलोसे भरे हैं। साश्रुनयन, विनत मस्तक कुछ क्षण वे खडी रह गईं। फिर वे मानो असज्ञ होकर उस शिला-तलपर मुनिके चरणोमे आ पडी—और फूट-फूटकर रोने लगी।

सतप्त मानवियोकी आर्त्त पुकारसे मुनिकी समाधि भग हुई! ब्रह्म-तेज केंद्रसे विखरकर सर्वोन्मुख हो गया। निखिल लोककी वेदनासे मुनिका आत्मा सवेदित हो उठा। श्वासोच्छ्वास मुक्त हो गया। समताकी वह ध्रुव दृष्टि, एक प्रोज्ज्वल, प्रवाही शातिसे भरकर खुल उठी। मुनिने प्रवोधनका हाथ उठाकर मेघ-मद्र स्वरमें कहा—

"शात पुत्रियो, शात, धर्म-लाभ, कल्याणमस्तु!" दोनो वहनोने अनुभव किया कि जैसे अमृतकी एक धारा-सी उनपर वरस पडी है। सारे ताप-क्लेश, पीडाए, आघात एकवारगी ही इन चरणोमें निर्वा-पित हो गये है।

तव वसंत उठी और दोनो हाथ जोड सकरुण कठसे आवेदन किया—

"हे योगीश्वर, हे कल्याण-रूप, हे प्राणि मात्रके अकारण वधु, हम तुम्हारी शरण है। रक्षा करो, त्राण करो नाथ! मनुष्यकी जगतीमें हमारे लिये स्थान नही है। मेरी यह वहन गर्भिणी है। मिथ्या कलक लगाकर श्वसुर-गृह और पितृ-गृहसे ठुकरा दी गई है। इसके सकटोका पार नही है। इसका त्रास अव मुझसे नही सहा जाता है, प्रभो! मौतके

मुहमें भी हम अभागिनोको स्थान नही मिला। इस आत्मघातक यन्त्रणासे हमें मुक्त करो, देव!—और यह भी बताओ भगवन् कि इसके गर्भमे ऐसा कौन पापी जीव आया है, जिसके कारण इसे ऐसे घोर उपसर्ग हो रहे हैं?"

मुनि अवधि-ज्ञानी थे और चारण-ऋद्धिके स्वामी थे। अर्ध निमीलित दृष्टिमे मुनिने अवधि बाधी और मुस्कराकर वत्सल कठसे बोले—

"कल्याणी, शोक न करो। महेद्रपुरकी राजकुमारी अजना लोकको सतियोमें शिरोमणि है! विश्वकी किसी भी शक्तिके समुख, अजना त्राण और दयाकी भिखारिणी नही हो सकती। पूर्व सचित पापोकी तीव्र ज्वालाओने चारो ओरसे उसे आक्रात कर लिया है। पर उनके बीच भी निर्वेद और अजर शाति धरकर वह चल रही है। और इसके गर्भका जीव पापी नही, वह अप्रतिम पुण्यका स्वामी, लोकका शलाका-पुरुष होगा! वह ब्रह्म-तेजका अधिकारी होगा। काम-कुमारका भुवन-मोहन रूप लेकर वह पृथ्वीपर जन्म धारण करेगा। वह अखड-वीर्य बाहु-बलि होकर समस्त लोकका हृदय जीतेगा। देवो, इद्रो और अहमीद्रोसे भी वह अजेय होगा। विश्वकी सारी विभूतियोका प्रभोक्ता होकर भी, एक दिन उन्हें ठुकराकर वह वनकी राह पकडेगा। इस जन्मके बाद वह जन्म धारण नही करेगा—इसी देहको त्यागकर वह अविनाशी पदका प्रभु होगा—अस्तु!"

वसतने फिर जिज्ञासा की—

"ऐसे प्रबल पुण्यका अधिकारी होकर वह जीव अपने गर्भ-कालमे अपनी माको ऐसे दारुण कष्ट देकर, आप भी ऐसी यातना क्यो झेल रहा है, भगवन्?"

"कर्मोकी लीला विचित्र है, देवि! अपने विगतकी दुर्धर्ष कर्म-शृखलाओसे वह जीव भी तो बधा है। पर इस बार वह उन्हें छिन्न करनेका बल लेकर आया है। इसीमे उपसर्गोसे खेलते चलना उसका स्वभाव

हो गया है। महानाशकी छायामें चलकर अपनी अविनश्वरताको वह सिद्ध कर रहा है, वत्से!—कल्याणमस्तु!"

कहकर योगीने फिर प्रबोधनका हाथ उठा दिया, और अपने आसनसे चलायमान हुए। अंजना बाहरसे नितांत अचेत-सी होकर भूमिपर प्रणत थी। पर अपनी भीतरी चिन्मयतामे इस क्षण वह योगीकी आत्माके साथ तदाकार हो गई थी। योगी जब गमनको उद्यत हुए तो अंजनाको एक आघात-सा लगा। आगे बढ़कर उसने गमनोद्यत योगीके चरण पकड़ लिये और आँसूभरे कंठसे विनती कर उठी—

"देव, शरणागता अनाथिनीको—इस विजनमे यो अकेली न छोड़ जाओ। अब धीरज टूट रहा है, प्रभो! मैं बहुत एकाकिनी हुई जा रही हूँ मुझे बल दो, प्रभो, मुझे शरण दो, मुझे अभय दो!"

योगी फिर मुस्करा आये और उसी अप्रतिम वात्सल्यके स्वरमे बोले—

"अंजनी, समर्थ होकर कातर होना तुझे नही शोभता। सब कुछ जानकर, तू मोहके वश हो रही है? शरण, लोकमें किसीको किसीकी नही है। आत्मामे लोक समाया है, फिर एकाकीपनकी वेदना क्यो? इसलिये कि लोकके साथ हम पूर्ण एकात्म्य नही पा सके हैं। उसीको पानेके लिये आत्मामें यह जिज्ञासा, मुमुक्षा और व्यथा है। उसी प्राप्तिका विराट द्वार है यह विजन। एकाकीपनकी इसी उत्कृष्ट वेदनामेंसे मिलेगी, वह परम एकाकारकी चिर शांति। उपसर्ग, कष्ट, बाधाएं जो भी आयें, अविचल उनमे चली चलो। यह तुम्हारी जय-यात्रा है—अंतिम विजय निश्चित तुम्हारी ही है। पर द्वार तो पार करने ही होंगे, परीक्षा तो देनी ही होगी। रक्षा और त्राण अपनेसे बाहर मत खोजो, वह अपने ही भीतर मिलेगा!—कल्याणमस्तु!"

कहकर मुनि निमिष-मात्रमें आकाश-मार्गमे गमन कर गये। आसन्न

रात्रिके घिरते अँधेरेको चीरती हुई प्रकाशकी एक रेखा वनातरको उजाला कर गई। दोनो वहनोने भीतर अपनेको प्रकृतिस्थ और स्वस्थ पाया। मुनिकी समाधिसे पावन उस भूमिकी धूलि लेकर उन्होने माथेपर चढाई और उस गुफाको अपना आवास बनाया। उन्होने पाया कि अपनी मोर-पिच्छिका और कमडलु मुनि वही छोड गये है, मानो विना कहे रक्षाका कवच छोड गये हैं। दोनो वहने अपने आपमें मौन सुख और आश्वासनमे मुग्ध हो रही। वसतने पिच्छिकासे गुहाकी कुछ भूमि बुहारकर स्वच्छ कर ली। फिर आस-पाससे कुछ तृण-पात तोडकर उसने अजनाके और अपने लिये शय्या बिछा ली। तदनतर कमडलु ले नदीके प्रवाहपर चली गई। स्वय मुह-हाथ धो जल पिया और अजनाके लिये कमडलुमे जल भर लाई।

दोनो बहनें निवृत्त होकर जब थकी-हारी अपनी तृण-शय्यापर लेट गई, तब रात्रिका अधेरा चारो ओर घना हो गया था। शून्यमे साय-साय करता पवन रह-रहकर वह जाता है। जलका ही एक प्रच्छन्न अविराम-रव उस निर्जनतामें व्याप्त है, अन्य सारी ध्वनिया उसीमें समाहित हो गई हैं। रह-रहकर कभी कोई जल-चर विचित्र तीखा स्वर कर उठता है। दूर-दूरसे आती स्यालोकी पुकारें उस विजनको और भी भयानक कर देती हैं। अनागत उपसर्गोंकी अशुभ आशका पल-पल मनको थर्रा देती है। साय-साय करते ध्वातमे अनेक विकराल आकृतिया उठ-उठकर मनमें नाना विकल्प जगाती है। किसी अपूर्व आविर्भावका भाव चारो ओरके सघन शून्यमें रह-रहकर भर उठता है।

पचमीका चद्रमा दूर पर्वत-शिखरके गुल्मोमेंसे उग रहा है। अजनाको जैसे उसने मुस्कराकर टोक दिया—मानो कह रहा हो—क्या मुझे भूल गई? अच्छी तो हो न? बडा वक्र और खतर-नाक रास्ता चुना है तुमने—और उसीपर मुझे भी भेजा है—। विश्वास रखना उस राहसे च्युत नही हुआ हू—जब तुम्हारी कामना-

को जय पा लूगा, तभी लौटूगा तुम्हारे पास—अभी ठहरना नही है . . ।' फिर अजनाने आकाशपर दृष्टि डाली आगे-आगे योग-तारा ऊर्जस्व गतिसे ऊपर भागी जा रही थी, और पीछे उसे पकड पानेको वकिम चद्र दौड रहा था !—विरहकी शूल-शय्या फूलोसे भर उठी। अंजनाने सुखसे विह्वल हो, वसतको पास खीच, छातीसे दाव-दाव लिया। उस परम मिलनके सुखमें वह तल्लीन हो गई, जिसमे विच्छेद कभी होता ही नही है। और जाने कब दोनो वहने गहरी नीदमे अचेत हो गई।

× × × सवेरेकी ब्राह्म-वेलामे अजना फिर प्रभात-पछीका पहला गान सुनकर जाग उठी। कमडलुमेसे थोडा जल लेकर स्वच्छ हो ली और आत्म-ध्यानमे निमग्न हो गई। झरनेका अखड घोष भीतरकी प्राण-धाराका अनहद नाद हो गया। चिर दिनकी पाषाण-शृखलाओको तोडकर चला आ रहा है वह आलोक-पुरुष,—अरोक और अनिरुद्ध। इस जल-प्रवाहका निर्मल चीर वह पहने है, फेनिल, हलका और उज्ज्वल ।

ऊषाकी पहली स्वर्णाभामें नहाकर प्रकृति मधुर हो उठी। शैल-घाटियां पछियोके कल-गानसे मुखरित हो गई। झरनेकी चूडापर स्वर्ण-किरीट और मणियोकी राशिया लुटने लगी।

अजनाने भूमिपर आनत हो चारो दिशाओ में नमस्कार किया और धीर गतिसे चलकर, प्रवाहकी एक ऊची शिलापर जा बैठी। मन ही मन मुदित हो वह कह रही थी—' यही है तुम्हारा राज-पथ ? इस अगम निर्जनमे, जहा मनुष्यके पद-सचारका कोई चिह्न नही, फैली है तुम्हारी लीला-भूमि ?—ओ कौतुकी, विचित्र है तुम्हारा इद्र-जाल ! ऊपरके शून्यमें महाकालका आतक अपनी वाहें पसारे है, वहा-से इन खाइयोमे झाकते प्राण काप उठते हैं। और भीतर है यह देव-रम्य कल्प-काननकी मोहन-माया ! चारो ओर चल रहा है दिन-रात कुसु-मोत्सव। पहली ही वार आज तुम्हारे असली रूपको जान सकी

हू, ओ मायावी !—दुखोंकी विशीपिकाओंमें तुम पुकार रहे हो, मेरे सुंदर !—और हम तुम्हें क्षणिक सुखोंके छद्मावरणोंमें खोज रहे हैं ?'

वसंतको चिंता थी घर बसानेकी। सबसे पहले वह अंजनाके लिये पान-भोजनका आयोजन किया चाहती है। अपार फैली है यहां प्रकृतिकी दाक्षिण्यमयी गोद। धराने अपने भीतरके रसको यहां अक्षुन्न धारासे दान किया है। पर्वतके ढालों और तटियोंमें अनेक वन्य-फलोंके भारसे वृक्ष लदे हैं। चारों ओर वहां रसवती चू रही है। घूमती हुई वसंत वहीं पहुंच गई। ताड़ और भोज-वृक्षके बड़े-बड़े पत्तोंमें वह यथावश्यक फल भर लाई। अशोककी एक-दो डालें लाकर उसने गुहा-द्वारके आस-पास मंगल-चिह्नके रूपमें सजा दीं। वन-लताओं और फूलोंसे अंजनाकी शय्याको और भी सुखद और सुकोमल बना दिया। दूर-दूरकी घाटियोंमें खोज-ढूंढकर, विशद तनोंवाले वृक्षोंकी चिकनी और अपेक्षाकृत मुलायम छालें वह उतार लाई। आजसे यही होंगे उनके वस्त्र। गुफामें लौटकर जब भीतरकी सारी व्यवस्था उसने कर ली, तब छालें लेकर वह प्रवाहपर जा पहुंची और अंजना को पुकारा। एक स्थलपर जहां धारा जरा सम थी, एक स्निग्ध शिलापर अंजनाको बिठाकर वह उसे स्नान कराने लगी। शीत-ऋतुका सवेरा काफी ठंडा था, पर धाराका जल ऊष्म और सुगंधित था। बहुत-सा जल एक बार अंजनाके शरीरपर डालकर, वसंत बहुत ही सावधानीसे क्षतोंपर लगे गाढ़े और रूखे रक्तको, डर-डरकर, रुक-रुककर, धोने लगी। हँसकर अंजना बोली—

"डरती हो जीजी, हँ... ऐसे कहीं स्नान होगा। यह राज-मंदिर का स्नानगृह नहीं है, जीजी, जहां सयत्न और सायास शरीरका मार्जन किया जाता है। यह तो प्रवाहकी सर्व कलुष-हारिणी मुक्त धारा है, जो अनायास देह और देहीको निर्मल कर देती है। ... हां, जान रही हूं, तुम क्षतोंके छिल जानेके भयसे डर-डरकर उंगलियां चला रही

हो, पर किस कठोरतासे यह शरीर छिलना बाकी रहा है, जो तुम्हारी अगुलियोसे इसके क्षत दुख जायेगे !"

कहकर अजना, वसतका हाथ खीच धारामें उतर गई। वक्षतक गहरे पानीमे जाकर अपने ही हाथोसे शरीरको खूब मल-मलकर वह नहाने लगी और वसतको भी नहलाने लगी। जलकी उस ऊष्म-शीतल धारामे वे ऐसी क्रीडा-रत हो गईं कि जैसे कल्प-सरोवरमे नहाकर अपने सारे घाव, क्लाति और श्रातिको भूल गई हो। मन भर नहा चुकनेपर, उन्होने कटि-पर के जर्जर, मलिन वसन दूरके गुल्म-जालोमें फेक दिये। निर्वसन, नग्न, प्रकृतिकी वे पुत्रिया, मुखपरसे केश हटाती हुई, अपने तरु-छालोके नवीन वसनोको खोजने लगी। मनमे कोई लज्जा, मर्यादा, कोई रोक-सकोचका भान ही मानो नही है। वल्कलोको शरीरपर लपेट, जब धूपमे वे अपना तन और केश-भार फैलाकर सुखा रही थी, तभी एकाएक उन्होने शरीरमे एक ऐसी अद्‌भुत शाति और आरोग्य अनुभव किया, कि अचरजसे भरकर वे एक दूसरेको देखती रह गई।

"ओ जीजी, यह क्या चमत्कार घटा है, ज़रा तुम्ही बताओ न ! कहा गये है वे सारे घाव जिनसे काया कसक रही थी ?"

बालिका-सी कौतूहलकी चचल दृष्टिसे अजना पूछ उठी।

"सचमुच, अजन, लगता है कभी कोई क्षत मानो लगा ही नही है। झरनेके पानीमें अनेक वनौषधियो और धातुओका योग जो हो जाता है, उसीसे जाने कितने न गुण इस जलमें आ गये है, सो क्या ठीक है।"

&

गुफापर आकर वन-कदलीके पत्तोसे दोनोने अपने वक्ष-देश बाध लिये। वसतने उगुलियोसे सुलझाकर अजनाकी उस अबध्य केशराशिको फिर एक बडेसे जूडेमे बाधनेका एक सफल-विसफल यत्न किया। उसके दोनो कानोमें एक-एक कुसुमकी मजरी उरस दी। फिर दोनो बहने अपूर्व सुखका अनुभव करती हुई, फलाहार करने बैठ गई।

[ २७ ]

उस दिन वनके गहनमें यो नया जीवन आरंभ हो गया। अंजना वन-भ्रमणको चली जाती और वसंत जीवनकी आवश्यकताएं जुटानेमें रत रहती। आविष्कारकी बुद्धि उसकी पैनी हो चली है। जीवनके एक सुघर शिल्पीकी तरह उस गुहामें उसने धीरे-धीरे एक घरका निर्माण कर लिया। मोटी छालों के टुकड़ोंको खोदकर दो-चार पात्र भी बना लिये गये हैं। नारियलकी छालोंसे उसने अंजनाके और अपने लिये पादुकाएं बना ली है। कासकी सीकोंको आपसमें बुन-चुनकर अंजनाके लिए उसने एक मसृण और सुख-स्पर्श शय्या बना दी है। नाना भरे हुए फूल अथवा केसर, फूल-वनोंसे लाकर वह उसकी शय्यामें डाल देती। धीरे-धीरे उसने कासके फूल, कमल-नालोंके तंतु और तरु-डालोंके कोमल रेशोंसे बुनकर अंजनाके लिये कुछ वसन भी बना दिये है। चवरी गायोंके चवर जंगलमेंसे बीन लाकर उन्हें पानीसे जमा-जमाकर कुछ ओढ़नेके आस्तरण बन गये है। पर ऋतुके आघात से बचनेके ये साधन अंजनाको बहुत कुछ रुचिकर नही है, इसीसे वे एक ओर पड़े हैं। प्रसवके दिन ज्यों-ज्यों निकट आ रहे हैं, वसंतके मनमें उत्सव और मंगलके अनेक आयोजन चल रहे हैं। सवेरेके भोजन-पानसे निवृत हो, वनके दूर-सुदूर प्रदेशोंमें वह खोज-बीन करती चली जाती है। वन्य-सरोवरोंसे कमलोंका पराग और केशर पा जाती है तो कभी अंजनाको उसीसे स्नान कराती है। फूलोंकी रेणुसे वह उसका अंग-प्रसाधन कर देती है। पहाड़ोंमें झरते सिंदूरसे उसकी मांग भर देती और लिलारमें पत्र-लेखा रच देती है। मृग-काननसे कस्तूरी और कदली-वनसे कर्पूर पा जाती है तो उससे अंजनाके केश बसा देती है। कानोंमें उसके नीप-कुसुम और सिंधुवारकी मंजरियां उरस देती। केशोपर, हस्ति-वनोंसे मिलनेवाले गज-मोतीकी एकाध माला अथवा फूलोंका मुकुट बनाकर बांध देती है। सारा सिंगार हो जाने-पर वह अंजनाका लिलार सूंघकर दुलार-के आवेगमें उसे चूम लेती।

तब चाहकर भी उससे बोला न जाता, मन उसका भर आता। केवल अंजनाकी ओर देख अंतरके घने और प्रच्छन्न स्नेहसे मुस्करा भर देती।

. . और सुहागिनी अंजना भावी मातृत्वके गभीर आविर्भावसे नम्रीभूत हो जाती। सिंगार-प्रसावन अंजनाकी प्रकृतिमें कभी नहीं था, और आज तो वह उसे सर्वथा असह्य था। पर भीतर ही भीतर वह समझ रही थी कि यह सिंगार अंजनासे अधिक, उस अनागत अतिथिके स्वागतमें उसकी माताका है। तब उसकी सदाकी निरी बालिका प्रकृति उस मातृत्वके बोधसे आच्छन्न होकर जैसे क्षणभरमें तिरोहित हो जाती। वह नीचा माथा किये ससकोच सब-कुछ करा लेती। और तब चली जाती वह अकेली ही अपने भ्रमणके पथपर —वनके अंत पुरोंमें। किसी वन्य-सरसीके निस्तब्ध तीरपर, किसी शिलातलपर जा बैठती। उसके स्थिर जलमें अनायास अपना प्रतिबिंब देख, वह अपनेसे ही लजा जाती।— वनकी शाख-शाख और पत्ते-पत्तेसे वह कौन झाक उठा है? अपनी ही छवि नव-नवीन रूप धरकर अपने ही भीतरके रमणमें लीलायित है। समर्पणकी विह्वलता जितनी ही अधिक बढती जाती है, रूपकी सीमा लय होती जाती है। और तब आ पहुचता है अनंत विस्मृतका क्षण .

. . . दूर-दूरकी कदराओ, घाटियो और गिरि-कूटोसे मुनिकी भविष्य-वाणी गूजती सुनाई पडती है। और नदी-प्रवाहके किनारे-किनारे चलती अंजना, दूर-दूरके अज्ञात प्रदेशोंमें भटक जाती है।

ज्यो-ज्यो यह पहाडी नदी आगे बढती गई है, तलहटीका प्रदेश अधिकाधिक विस्तृत और रम्य होता गया है। आगे जाकर नदी वृक्षोंकी सकुलता और पाषाणोकी बीहडतासे निकलकर, खुले आकाशके नीचे खूब फैलकर बहती है। उसके प्रशस्त ऊर्मिल वक्षपर गिरि-मालाए अपनी छाया डालती हैं। किनारे उसके विपुल हरियाली और स्निग्ध वन-राजिया दूरतक चली गई है।

मध्याह्नका सूर्य जब माथेपर तप रहा होता, तब अजना वन-श्रीके बीच किसी उन्नत शिलापर आकर लेट जाती। राशि-राशि सौंदर्य और यौवनसे भरी धरणी सुनील महाकाशके आलिंगनमे बधी, एकबारगी ही अजनाकी आखोमें झलक उठती। अनेक रगोका लहरिया पहने पृथ्वीके चित्र-विचित्र पटल-दूर-दूरतक फैले है, और उनमे धुंधली होती वृक्षावलिया दीख पडती है। दोनो ओर दिगतके छोरो तक चली गई है ये शृग-लेखाए। और इस सबके बीच नाना भगोमें अग तोडती अजस्र चली गई है यह नदी सुनील धारा। अजनाका सारा अत करण उस नदीकी लहरोमें नाचता चला जाता है वहा—जहा एक गहरी नीली धुधके रहस्यावरणमे पृथ्वीकी विचित्र रूपमयता, आकाशकी एक-रूपतामें डूब गई है। क्षितिजकी रेखा भी वहा नही दिखाई पडती ।

प्रकृतिकी अपार रमणीयता एक साथ अजनाकी शिरा-शिरामे खेलने लगती। अगडाइया भरती हुई वह उठ बैठती। अपराजित यौवनसे वक्ष उभरने लगता। दिशाओकी बादल-वाहिनी दूरी उसकी आखोमें सपने भर देती। चचल दुरत बालिका-सी वह चल पडती। नाना लीला-विभ्रमोमें देहको तोडती-मरोडती, शिलाओ और गुल्मोके बीच नाचती-कूदती, वह नदीके पिंगल बालुकामय तटपर आ जाती। ग्रामके अतरालमें लहरें बिछल रही है और किरणें नदीकी मागमें सोना भर रही हैं। कुछ दूर चलकर नदीके पुलिनमे लवली-लताओके कुज छाये हैं। किसी तटवर्ती वृक्षके सहारे, दो-चार विरल वल्लरिया नदीकी लहरोको चूमती हुई झूल रही हैं। उनमें बैठी कोई एकाकी चिडिया दुपहरीका अलस गान गा रही है। और भीतर लवली-कुजकी गध-विधुर, मदालस छायामें, सारसोका युगल, कुसुमकी शय्यापर केलि-सुखमे मूर्छित है। ऊपरसे निरतर झरती परागकी चादरमे वे एकाकार हो गये है। अजना जैसे उनके रति-सुखके गहन मौनमे होकर चुप-चाप

छाया-सी निकल जाती। वह नहीं होती उनके सुखकी बाधा, वह तो उसीकी एक हिलोर बनकर उसमें समा जाती।

अमित उल्लासमे भरकर वह आगे चल पडती। कही तटवर्ती तमालोकी घटामे मेघोके भ्रमसे विकल और मुग्ध होकर चातक कोलाहल मचा रहे है। कही हरित मरकत-से रमणीय वृक्ष-मडप हारीत पक्षियोके गुजारसे आकुल है। चपक-कुजोकी शीतल छायामे भृग-राज पक्षी, ऊपरसे झरती परागके पीले आस्तरणमे उन्मत्त पडे है। घने अनारोके पेडोकी कोटरोमे चिडियाए अपने सद्य-जात शिशुओको पखोसे ढाककर सहलाती और प्यार करती है। अजनाको लगता कि वक्षपर बधे वल्कलके भीतर एक लौ-सी जल उठी है। भीतरसे निकलकर अतर्की एक ऊष्मा मानो आस-पासकी इन सारी चेष्टाओको अपने भीतर ढाक लेना चाहती है। कही कबूतरो के पखोकी फड-फडाहटमे सुर-पुन्नाग की कुसुम-राशिया झर पडती है। अजना चौकन्नी होकर अपने शरीरको देखती रह जाती है। पराग और अनेक वर्णी फूलोकी केशरसे देह चित्रित हो गई है। वह तलमे बैठ जाती है, और ऊपरसे झरते फूलोकी राशियोको अपनी बाहोमे झेल-झेलकर उछाल देती है। कबूतरोमें लीलाका उल्लास बढ जाता है, वे और भी ज़ोर-ज़ोरसे शाखाए हिलाकर ऊधम मचाते है। नीचे फूलोकी वर्षा-सी होने लगती है। अजना उस कुसुम-चित्रा भूमिमे लोट जाती है। उसकी सारी देह फूलोकी राशिमे डूब जाती है फिर कबूतर नीचे उतरकर उसकी निश्चल देहपर कूद-कूदकर खेल मचाते है। धीरे-धीरे वे कबूतर उसमे हिल चले थे। उसके केशो और कधोपर वे जहातहासे उडकर आ बैठते। कत्थई, नीले, भूरे, जामनी कबूतरोके अलग-अलग नाम अजनाने रख दिये थे। कही भी दूरकी डालपर कोई कबूतर दीख जाता तो अजना नाम लेकर पुकार उठती। कबूतर उडकर उसकी फैली हुई भुजापर आ बैठता और उसके कठमे चोच गडा-गडाकर, परिष्वग करता हुआ गुट्टुर-गुटुर करने लगता।

सिंधु-वार और वासती वृक्षोंके शिखरोंमे चित्र-विचित्र मैनाएं आतीं; और सामनेके शिशपा और मधूक वृक्षोंकी डालोंपर तोतोंका जमघट हो जाता। जाने कितनी जल्पनाओं और गानोंमें उनका वार्तालाप होता। सारी वन-भूमि नाना ध्वनियोंमे मुखरित हो उठती। दोपहरीकी अगम स्तब्धता भग हो जाती। अजनाका मन अर्थ-हारा और नि शब्द होकर इस अखड भाषाकी एकताके बोधमें तल्लीन हो जाता।

पर्वतके पाद-मूलोंमें ऊपरसे आती पानीकी झरियोंमे सिंचकर फलोंके नैसर्गिक बाग झुक आये है। फलोंके भारसे नम्र वहाकी भूमि-शायिनी डालोको देख अजनाको अपना चांचल्य और उच्छ्रंलता भूल जाती। उसका अग-अग उमड आते रस-सभारसे शिथिल और आनत हो जाता। शिरा-शिरामें आत्मदानकी विवश आकुलता घनी होती जाती। एक अनिवारित ज्वारके हिलोरोंसे स्तन उफना आते। वन-कदलीका कचुकि-बध छिन्न होकर अनजानेही खिसक पडता। उबासिया भरती हुई अलस और विमुग्ध होकर वह उस फल-विचुंबित भूमिपर अपनी देहको बिछा देती। विपुल फलोंके झुमकोंसे झुक आई डालोंको अपने स्तन और भुजाओंके बीच वह दाब-दाब लेती, ओठों और गालोंसे सटाकर उन्हें चूम-चूम लेती, पलक और लिलारसे उन्हे रभस करती। उसे लगता कि पृथ्वी अपने सपूर्ण आकर्षणसे उसे अपने भीतर खीच रही है, और उतने ही अधिक गभीर सवेगसे दानका अनिवारत स्रोत उसके वक्षमेंसे फूट पडनेको विकल हो उठता। एक-बारगी ही फलोंका समूचा बाग इस रस-सधानसे सिहर उठता। ऊपरकी शाखाओंमें अलस भावसे फला-हार कर रहे वानरोंकी सभा भग हो जाती। शाखा-प्रशाखामें कूदते-फादते वे तलमें आ पहुचते। शुरूमें तो कुछ दिन वे अजनासे डरकर दूर भाग जाते, पर अब वे उसे चारो ओरसे घेरकर बैठ जाते है। अजनाके उस गोरे और सुकोमल शरीरको अपने तीखे नखोंवाले काले पजोंसे दुल-रानेका मुक्त अधिकार वे सहज पा गये थे। पायताने बैठ कुछ वानर उसके

पैर दबाने लगते। उनमेंसे कुछ सिरहाने बैठकर उसके दीर्घ और उलझे केशोको अपने उंगलियोसे सुलझाने लगते। कुछ ऊपरकी डालसे तोडकर, एकाध फल उसके ओठोसे लगाकर उसे खिलानेकी मनुहार करते, उसके वे हठीले सहचर तब तक नही मानते, जबतक उनके हाथसे वह दो-चार फल खा न लेती। हँस-हँसकर अजनाके पेटमें बल पड जाते—और सारी देह उसकी लाल हो जाती। जाने कैसे प्रणय और वात्सल्यकी मिश्र लज्जा और विवशतासे उसका रोया-रोया उभर आता। आखें मूदकर उनके तीखे नखवाले पजोको अपने उद्भिन्न स्तनोसे अनजाने ही दाब लेती। भीतरकी घुडियोसे बिखरकर रक्त जैसे किसी अनायास क्षतमे से वह आनेको उच्छल हो उठता। कालके जाने किस अविभाज्य अगमें एकबारगी ही वह उन सबकी जननी और प्रणयिनी हो उठती।

द्राक्षके कुजो और कदली-वनोमे नील-कठ और पीत-कठ पक्षियोके आवास हैं। अलसाती और उबासिया भरती अजना वही पहुच-कर दोपहरी का शेष भाग बिताती। उन पक्षियोके घोसलो तले लेटते ही उसे नींद लग जाती। निश्चिन्त और अभय होकर रग-बिरगे पछी आकर उसकी देहपर फुदकते और क्रीडा करते। रह-रह कर अजना की नीद भग हो जाती। पर बनके इन सलौने राज-कुमारोको जब चित्र-विचित्र पखोकी माया फैलाकर अपने ऊपर निछावर होते देखती, तब उनके आनदमें आप भी चुप-चाप योग देने के सिवाय वह और कुछ न कर पाती। उनकी नाना तरहकी बारीक बोलियोमे सुर मिलाकर वह भी उनसे कुछ बोलती-बतराती। और उस आनदकी अर्थ-हीन निष्प्रयोजन तुतलाहटमें मनके जाने कितने अनिर्वचनीय भाव और सदेशे वह उन पंछियोके अज्ञान मनोमें पहुचा देती। यह ऊपरका स्वरालाप तो एक लीलाभर थी, पर भीतरके वेदन-सवेदन में होकर प्राणका सगोपन जाने कब हो गया था, सो कौन जान सकता है?

उपत्यकाके प्रदेशमे कही बेतसकी बेलोके प्रतानोमे घने वास

है । कही शाल्मली और शाल वृक्षोंकी [illegible] [illegible] [illegible]-सी एक-दूसरेसे गुथी रही है । यहा आते ही अजनाको वे बालापनके दिन फिर याद हो आते—वे राग, नृत्य और भ्रमर, वे सखियोके साथ बातें बात गुथार होनेवाली कोमल-कल्पनाए, वे किशोर मनके [illegible] और जिज्ञासाए, वे भीतर ही भीतर [illegible] रह जानेवाले मधुर प्रश्न !—आलोम आप अनजाने ही उभर आते—। उन दृश्योंकी सुधि [illegible] झूलती हुई फिर एक बार आप [illegible] [illegible] भ्रमरी-सी में उठती ।—हिंडोल [illegible] रागका स्वर गलेमें आकर रुक जाता । दूसरी पवन [illegible] सनसनाहटमें होकर फिर वह क्षण भरके इसी अतीत लोकमें लौट जाता । वह फिर वैसी ही बिठकर अपने अकेलेपनमें डोलती रह जाती । कभी उन शाल और शाल्मलियोके अन्तरालमें झाकता कोई वन-सरोवर उसे दीख पडता । उसके किनारे शिलाओंके नैसर्गिक और रमणीय घाट बने है । ऊपर बकुल और केतकीकी झाडिया झुक आई है । उनसे झरते पराग और फूलोंसे तालकी सीढ़िया ढकी है । पानीकी सतह भी उनसे दूर-दूरतक छा गई है । तो कही उस दूसरे किनारे पर हरसिंगार और गुलमोर झर-झरकर तटकी सारी भूमि और किनारेका जलप्रदेश केसरिया हो गया है । इसी घाटमे बैठकर अजना अपना तीसरा पहर प्राय बिताया करती । यह केसरिया भूमि देख उसे लगता कि जाने कब, जाने किसी अमर सुहागिनीने अपने प्रियके साथ उस एकात तटमे रमण किया होगा । और उसी सौभाग्यके चिह्नस्वरूप आज भी यह भूमि उनके चिर नवीन सौंदर्यकी आभासे दीप्त है । उस अविजानित अमर सुहागिनके उस लीला-रमणके साथ तदाकार होकर वह जाने कब तक उस भूमिमे खोई पडी रह जाती । शाल और सल्लकीकी सुगध-निबिड छायामे प्रमत्त होकर वहा जगली हाथी और हथनियोके झुड दिनभर ऊधम मचाते रहते । कभी-कभी वे तालावमें आ पडते और तुमुल कोलाहल करते हुए, सूण्डो में पानी भरभरकर चारो ओरकी वन-भूमिमे फव्वारे छोडते । जब

वे पानीकी बौछारें और उनकी क्रीडाका जल उछलता—तो उसमें नहाकर अजना अपनेको कृतार्थ पाती। हर्षसे किलकारियां करती हुई वह भी उनके क्रीडा-कलरवकी सहचरी हो जाती। हाथियोंके गालोंसे निरंतर झरते मद-जल और शैवाल-पल्लवोंसे आस-पासकी वन-भूमि श्याम हो गई है। हस्ति-शावकोंके साथ वहां तालियां बजा-बजाकर वह आंख-मिचौनी खेलती। जब वे थल-थल दौडते हुए हस्ति-शावक अजना को पा जाते तो अपनी सम्मिलित सूंडोंसे पकडकर उसे अपनी पीठपर बैठानेकी होडा-होडी करते।

पहाडके ढालोंपर भोज, सप्त-पत्र सुपारी और कोप-फलकी वन-लेखाएं, अनेक सघन वीथियां बनाती हुई ऊपर तक चली गई हैं। कहीं-कहीं सारा पहाड चंदनके वनसे पटा है। तो कहीं लवंग और किंशुकसे पर्वत-पाटियां आच्छादित हैं। दिन-रात सुगंधसे पागल समीरण पर्वत-ढालोंमें अंध-सा बहता रहता है। भ्रमरोंके अलस गुंजार और रह-रहकर उठनेवाली पत्रोंकी मर्मर उच्छ्वासमें वनके प्राणका मर्म-संगीत निरंतर प्रवाहित है।

अशोक अजना ढालोंकी उन वीथियोंमें चलती जाती। और चलते-चलते जहां कहीं भी उसे किसी अगम्यताका बोध होता कोई रहस्य-मय या संकुल प्रदेश दीखता, उस ओर वह खिंचती चली जाती। निविड वनस्पतियोंमें घनीभूत घाटियोंमें जहां पैर रखनेको भी राह नहीं सूझती है, वह झाड-झंखाडोंको लांघती-फांदती चली ही जाती। चारों ओर दिनके प्रखर उजालेके बीच वह अंधेरी गुहा दिखाई पड रही है। मानो असंख्य रात्रियोंका पुंजीभूत अंधकार वहीं आकर छुप गया है। गुफाकी अतल गंभीरतामेंसे कुछ घहराता, गरजता सुनाई पडता है। देखते-देखते वह ऊंचा और मंद गर्जन, दुस्सह और भयानक हो उठता। वन-भूमि थर्रा उठती। और अजनाको एक सोनहरी झलक झखाडोंमेसे ओझल होती दीख पडती। तो कहीं झाडियोंमें डूबे उसके पैरोंमें, कोई विपुल

लोमका स्पर्श उसकी पिंडलियोको सहलाता हुआ सरंसे निकल जाता ।
फिर सब शात हो जाता । वह फुदकती, कूदती अपनी राह लौट आती ।
शरीरमे रह-रहकर एक सिहरन-सी फूट उठती है । वह पूजीभूत अधकार,
वह सोनहरी झलक, वह लोम-स्पर्श फिर पैरोको पीछे खीचता है—कि
वह जाने तो,—कौन रहता है वहा ? उससे साक्षात् करनेकी
उसकी वडी इच्छा है । पर अब देर हो गई है, शाम हो आई है, जीजी वाट
देखती होगी । लेकिन जरा आगे चलकर रास्तेमें उसे मरे हुए हाथियोकी
लाशें मिलती है । उसे अनुमान होता है कि किसके आवाससे लौटकर
वह आई है—! ईषत् मुस्कराकर वह अपनी ही खिल्ली उडा देती ।
सिंहके पजोसे विदारित हाथियोके कुभस्थलोके रक्तमें पडे अनेक रगोकी
आभावाले मोती राहमें दिखाई पडते है । तो कही ढालमें जल-धाराओके
सूखे पथ दीखते है । उनमे ऊपरसे वह आई वहुरगी वालू और उपलोमे
स्वर्णकी धूलि और रत्नोके कण चमकते दीख पडते है । उन मोतियो
और स्वर्ण-रत्नकी धूलिको खेल-खेलमे पैरोसे उछालती हुई अजना द्रुत
पगसे पहाड उतर चलती ।

लौटते हुए राहमें वह चदनका बन पडता है । रातमे चादकी किरणोके
स्पर्शसे चद्रकात शिलाए पर्वत-शिखरपर पिघलती है । वहासे जलके
निर्झर वहते रहते है । उस जलके सिंचनसे वनौषधिया दिव्य हो गई
है । चदन-वनके काले भुजग उन औषधियोके जालोमें घूम-घूमकर
निर्विष हो गये है । उनकी मणिया यहा सहज, सुप्राप्त चारो ओर
विखरी मिलती है । रलमलाते हुए साप पैरोके पाससे निकल जाते है—
अजना रुककर, देखने लग जाती है—तभी फन उठाकर मणि-धर भुजग
वदन करता है । वत्सल-स्निग्ध नयनोसे मुस्कराकर वह उसके फनपर
हाथ रख देती और आगे वढ जाती ।

××× अजना अपनी गुफाको लौटती हुई रास्तेमें सोचती ।
सृष्टिमे चारो ओर दान और दाक्षिण्यका मुक्त यज्ञ चल रहा है । सभी

अपने आपको दानकर यहा सार्थक हो रहे है। अभिमान यहा चूर-चूर होकर भूमिसात् हो जाता है। चारो ओर फैली पडी है दानकी अमूल्य ऋद्धिया। सर्व-काल वे सुलभ और सुप्राप्त है। पर नही जागता है उन्हे उठाकर पास रखनेका लोभ। सब-कुछ यहा सदा अपना है। सहज ही एक भाव मनमे विराजता है इस भीतर और वाहरके समस्त चराचर के हमी जैसे निर्वाध स्वामी है। यह सव हममें है, और हम इस सवमे कहा नही है ? फिर लोभ कैसा, हिंसा क्यो, सग्रहका भाव क्यो ?

× × × एक दिन ऐसे ही अपने भ्रमणमें अजना वसतको साथ लेकर एक पर्वत-घाटीमें घूम रही थी। नाग और तिलक वृक्षोसे ढाल पटा था। उनकी जडोमे उगकर वन-मल्लिकाओके वितान चारो ओर छा गये थे। एक जगह भूरे पाषाणोकी कुछ सीढिया दीखी। आस-पासकी ऊची-नीची चट्टानोमे किशुककी लाल परागमे भीगे चकोरोके जोडे वैठे थे। चट्टानके एक पटलमे एक चतुष्कोण गहराई-सी दीखी। ऊपर जाकर पाया कि उसमे मल्लिकाके फूलोका एक स्तूपाकार ढेर समाधि-सा पडा है। उसके ऊपर एक मस्तककी आकृति-सी झाकती दिखाई पडी। उत्सुकतावश अजनाने वह मल्लिकाके फूलोका स्तूप हटा दिया।—भीतरसे एक वडी ही मनोज्ञ, विशाल पद्मासन मूर्ति पहाडमे खुदी हुई निकल आई। मूर्ति अनेक पानीकी धाराओ और ऋतुओके आघातोसे काफी जर्जर हो चुकी थी। पर उस मुखकी कोमल, सौम्य भाव-भगिमा और उन मुद्रित ओठोके वीचकी वीतराग मुस्कान अभी भी अभग थी। लगता था कि मूर्तिके ये ओठ जैसे अभी-अभी वोल उठेगे। ऐसी जीवत और मनोमुग्धकारी छवि है कि आख हटाये नही हट रही है। उसके पाद-प्रातमे एक हरिण चिह्नित था। तीर्थंकर शातिनाथ! अजना तो देखते ही हर्षसे पागल हो उठी। मनमें गानकी तरह एक भाव उच्छ्वसित हुआ—जो अनायास उसके ओठोसे उत्सकी तरह फूट पडा—

"... कौन सर्वहारा शिल्पी, किस दिव्य अतीतमे आया था—

इस मानव-हीन अगम्य पार्वत्य भूमिमें ? किस दिन इसने महाकाल-की धारामें अपनी टाकीका आघात किया था ?—पाषाणकी इस वज्र-कठोरतामें अपनी आत्माकी शाश्वत कोमलताको वह आंक गया है ! मानवकी जगतीसे ठुकराई हुई हृदयकी सारी स्नेह-निधि वह एकातके इस पाषाणमें उड़ेल गया है ।—बर्फिस्तानकी आगारोंसे दौड़ती हुई हवायें इसपर निरन्तर फूलोंके अर्घ्य चढ़ाती हैं, और निर्झरसे आती जल-धारायें इसका अभिषेक करती हैं । उस अज्ञात शिल्पीको शत-शत बार मेरे वदन हैं ! ”

पास ही वह आये धातु-रागसे अजनाने अपने मनका वह गान दीवारकी चट्टानपर लिख दिया । उस दिनके बादसे अनक्षण वह गान अजनाके कठमें गूंजता ही रहता । उसी क्षणसे वह स्थल अजनाकी आराधना-भूमि बन गया । सवेरेके स्नानके बाद यहीं आकर दोनों बहनें पूजा-प्रार्थनामें तल्लीन हो जाती । अजनाके कठसे नित्य-नवीन गान फूटता । झाडकी शाखाको धातु-रागमें डुबाकर अपना गीत वह किसी भी शिलापर अकित कर देती । मूर्तिके पादमें अपना गान निवेदन करती हुई अजना नत हो जाती और दूर-दूरकी कल्पनाओंमें उसकी अनिगूढ़ अनत होती चली जाती । दोनो बहनोंकी मुंदी आखोंसे आसू झरते और भीतर मूर्तिकी स्मित अधिकाधिक तरल होकर फैलती जाती । एकाएक वे ओठ स्पदित होते दीख पडते और अजनाके अन्तरमें वाङ्मयकी धाराए फूट निकलती । गुहामें लौट, उसके पासमें सिंदूर और स्वर्ग-राग लेकर, वह भोज-पत्रोंके पन्नेके पन्ने रग डालती । वह क्या लिखती थी, यह तो वह स्वय भी नहीं जानती थी । देवकी वाणी आप ही उन निर्जीव पत्रोंमें ढल रही थी ।

यो दिन सुखसे बीतते जाते थे । समयका भाव मन परसे तिरोहित हो गया था । जीवन प्रकृतिके आचलमें आत्मस्थ और एकतान होकर चल रहा था । पर रातके अधकारमें विचित्र जतुओंकी आखें

झाड-झखाडोमें चमकती और दहकती दीखती। कभी-कभी वन्य-पशुओकी भीषण हुकारें सुन पडती। दोनो वहने एक-दूसरेसे लिपट जाती। उच्च स्वरमे अजना अपने रचे स्तवनोका पाठ करती और यो भयकी घडिया टल जाती। वे अचेत होकर नीदके अकमें पड जाती।

एक दिनकी वात · ऊपर सध्याका आकाश लाल हो रहा था। अपने फलाहारसे निवृत्त होकर अजना और वसत अभी-अभी गुफाके वाहर आकर खडी हुई थी।—कि एकाएक दहाडता हुआ एक प्रचड सिंह प्रवाहके उस पार आता हुआ दिखाई पडा। सोनहरी और विपुल उसकी अयाल है। उस प्रलव पीली देहपर काली-काली धारियोके जाल है। काल-सी क्रूर उसकी भृकुटिके नीचे अगारो-सी लाल आखे झग-झग कर रही है। विकराल डाढोमे उसकी रौद्र जिह्वा लप-लपा रही है। उसकी प्रलयकारी गर्जनामे चारो ओरकी वन-भूमि आतकसे थर्रा उठी। पशु-पक्षी आर्त-क्रदन करते हुए, इधरसे उधर झाडियोमें दौडते दीखे। एक और लोम-हर्षी हुकारके साथ सिंह प्रवाहको लाघकर ठीक गुहाके नीचे आ पहुँचा। सामने ही उन मानवियोको देखकर वह और भी भीषणतासे डकारने लगा। एक छलाग भर मारनेकी देर है कि अभी-अभी वह गुफामे आ पहुचेगा, और इन दोनो मानवियोको लील जायगा। वसत अजनाको छातीमें भर, भयसे थर्राती हुई गुफाकी दीवारमें धसी जा रही है। उसे अनुभव हुआ कि अजनाके गर्भका वालक तेजीसे घूम रहा है। मन ही मन वह हाय-हाय कर उठी—'हे भगवान्! यह क्या अकाड घटने जा रहा है?—क्या इन्ही आखोसे यह सव देखना होगा?' अंजनाने समझ लिया कि मृत्युका यह क्षण अनिवार्य है। दोनोकी आखोमें लुप्त होती चेतनाके हिलोरे आने लगे। मृत्युकी एक विचित्र-सी गध उसके नाकमें भरने लगी। एकाएक अजना बोल उठी—

"जीजी, मृत्यु समुख है!—कायाका मोह व्यर्थ है इस क्षण—आत्माकी रक्षा करो। आर्त्त-रौद्र परिणामोसे मनको मुक्तकर इस मृत्युके

समुख अपनेको खुला छोड दो। रक्षा इन पाषाणोमें नही है—अपने ही भीतर है! देर हो जायगी, जीजी, कायोत्सर्ग करो ”

कहकर अजना अपने स्थानपर ही प्रतिमा-योग आसन लगाकर प्रायोपगमन समाधिमें लीन हो गई। दृष्टि नासाग्र भागपर ठहराकर, श्वासोच्छ्वासका निरोध कर लिया। देह विसर्जित होकर, निश्चेष्ट निर्जीव पिंड मात्र रह गया। अपने ध्यानमें, पर्वत-घाटीके प्रभुके चरणोमें उसने अपने प्राणोको अर्पित कर दिया। वसत भी ठीक उसका अनुसरण करती हुई उसके पास ही आसीन थी। उस योगमे दोनो वहनोके चेतन तदाकार हो गये।—एकाएक उनकी ध्यानस्थ दृष्टिमे झलका एक दीर्घाकार अष्टापद जिसकी सारी देह सोनहली है और उसपर सिंदूरी और काले धब्बे हैं, गुफाकी दूसरी ओरसे हुकारता हुआ कूद पडा। भैरव गर्जनो और डकारोके वीच दोनोमे तुमुल सग्राम हुआ।—देखते-देखते सिंह भाग गया और अष्टापद कही दिखाई नही दिया ।

रात गहरी हो जानेपर जव, दोनो वहनोने आखें खोली तो वही रोजकी निस्तब्ध शाति चारो ओर प्रसरी थी। झाड हीस रहे थे और झरनेका घोप अखड चल रहा था। दोनो वहनोका वोल रुद्ध था, भीतरकी उसी एक-प्राणतामें वे तन्निष्ठ थी। एक-दूसरेसे लिपटकर वे सो गईं। पर नीद उनकी आखोमें नही थी।—अचानक रात्रिके मध्य-प्रहरमें पर्वत-शिखरपरसे वीणाकी झकार उठी, झरनेके जल-घोषमे अपने स्वराघातसे आरोह-अवरोह जगाती हुई वह एक ध्रुव समपर जाकर अशेप हो गई—। जल, थल और आकाशमें शातिका अनत आलाप राग फैल चला, समस्त चराचरके प्राणको वह सुखसे ऊर्मिल कर गया।

नही है शोक, नही है दुख, नही है घात, नही है विरह, नही है भय, नही है मृत्यु—आनदकी एक अप्रतिहत धारामें सारा वैपम्य तिरोहित हो गया। अव्यावाध प्रेमके चिर विश्वासमे दोनो वहनोके हृदय आश्वस्त हो गये। और जाने कव वे गहरी नीदमें सो गईं। रातके

चमत्कारपर सवेरे उठकर वे विस्मित थी। गुफाके ऊपर चारो ओर घूम-फिरकर वे देख आई, कही कुछ नही है। सोचा कि अवश्य ही, घाटीमें जो तीर्थंकर प्रभु शाश्वत विराजमान है, उनकी सेवामें कोई देव नियुक्त है और उसीने उनकी रक्षा की है। मध्य-रात्रिका वह वीणा-वादन भी उस देवका ही एक दिव्य सदेश था।

×××वात असलमें यह थी कि पर्वतके शिखर-देशमे मणि-चूल नामा एक गन्धर्वका गुप्त आवास था। रत्न-चूल नामा अपनी स्त्रीके साथ गधर्व वहा रहता था। पहले ही दिन जव उस सध्यामें मुनिके चरणोमे इन दोनो मानवियोने अपना आत्म-निवेदन किया था, उस समयका सारा दृश्य गधर्व-युगलने ऊपरसे देखा था। उसी दिनसे छुप-छुपकर वे दोनो, वन्य-पशुओ तथा वनकी और दूसरी भयानकताओसे इन मानवियोकी वरावर रक्षा करते रहते थे। इसीसे हिंस्र-पशुओसे भरे इस विकट अरण्यमें आजतक उन्हे कोई उपद्रव या उपसर्ग नही हुआ था। पर गई साझकी वह घडी अनिवार्य थी। गधर्व-युगलका ध्यान चूक गया। पर जव दुर्योग घट गया, तव एकाएक वे सावधान हो गये। उसी क्षण विक्रियाने अष्टापदका रूप धारणकर गधर्व आ पहुचा और उसने उस सिहको पछाड फेंका। गधर्व सगीतकी सारी सिद्धियोका स्वामी था। इन वालाओके मनमे जो भय गहरा हो गया था, उसे शात करनेके लिये ही उसने मझ-रातमे वह महाशातिका राग वजाया था। उस दिनसे और भी सन्नद्ध होकर वह गधर्व-युगल उन मानवियोकी रक्षामें तत्पर रहता।

× × ×

कुछ ही दिनो वाद—

पर्वत शिखरके वृक्षोमें दिनका उजाला झाक रहा था। वनकी डालोमें चिडियाएँ प्रभाती गा रही थी। गुफाके वाहरके शिला-तलपर अभी ही अजनाने आत्म-ध्यानसे आखे खोली है। चारो दिशाओमें अजुलि खोलकर उसने प्रणाम किया। तदनतर कमडलु उठाकर वह प्रवाहपर

जानेको उद्यत हुई कि उसी क्षण कटि-भागमें और पेटमें उसे पीड़ा-सी अनुभव होने लगी। वह व्याकुलता उसे अनिवार्य जान पड़ी। वह वहीं जमीनपर बैठ गई और पेट थामती हुई असह वेदनामें छटपटाने लगी। कराहते हुए केवल इतना ही उसके मुखसे निकला—

"जीजी ।"

गुफामेंसे वसंत बाहर दौड़ी आई। अंजनाकी सारी देह और चेहरा एक प्रखर वेदनासे, तपाये सोने-सा चमक रहा था। वसंत तुरंत समझकर सावधान हो गई। खूब ही सतर्कतासे उठाकर उसने अंजनाको उस कासकी शैय्यापर लिटाया।

पर्वतके शृंगपर स्वर्गके समुद्रमेंसे सूर्यका लाल बिंब झाँक उठा। ठीक उसी क्षण अंजनाने पुत्र प्रसव किया। उजालेसे सारी गुहा झलमला उठी। मानो उन पुरातन चट्टानोंमें क्षणभरको सोना ही पुत गया हो। वसंत और अंजनाको दीखा कि गुहाकी दीवारमें रह-रहकर गुप्त रत्नोंकी सतरंगी किरणोंका आभास-सा हो रहा है। बाहर घाटियोंके फूल-वनोंमें पंछी मंगल-गान गा रहे थे। निर्झर-देशमें गंधर्वोंकी वीणा अनंत सुरावलियोंमें झंकार उठी, हवाओंके झकोरोंमें भरकर सुगंधोंसे लदी भरी रागिणियां उपत्यकाओंको आलोड़ित कर गई।

× × × अंजनाने पुत्रका मुख देखा निमिष भर—एकटक वह देखती ही रह गई।—अंतरके अगोचरमें जिस अरूप सौंदर्यकी झलकें भर पाकर, जिसे अपनी इन आखोंमें बाँध पानेको बार-बार वह तरस गई थी—आह वही सौंदर्य!—वही सौंदर्य बंध आया है आज उसीके रक्त-मासके बंधनोंमें ? पर सम्मुख होकर खुली आँखो उसे देख पानेका साहस आज नहीं हो रहा है! पलकें गालोंपर चिपकी जा रही हैं, बरौनियोंमें आंसू गुंथ रहे हैं।—और स्पर्शातीत कोमलतासे दोनों कृश भुजाओंमें शिशुको भरकर, वह मुग्ध भावसे उसे वक्षसे चाप रही है। मन ही मन कह रही है—

"  नही जन्मा है तू आदित्यपुरके राज-महलोमे, नही जन्मा है तू महेंद्रपुरके राज-मदिरोमे। नही झूल रहा है किसी प्रासादके अलिंदमे तेरा रत्नोका पालना। ऐश्वर्य और वैभवका क्रोड तुझे नही रुचा—नाशकी राह चल, बयावानोके इन पाषाणोमे आकर तुझे जन्म लेना भाया?—निराले है तेरे खेल, ओ उद्धत! तेरी लीलाओसे मै कब पार पा सकी हू? राजागनमे नही हो रहा है तेरे जन्मका उत्सव। इन शून्यकी हवाओ और झरनोमे बज रहे है तेरे जन्मोत्सवके वाद्य! धरणी तेरा बिछौना है और आकाश तेरा ओढना।—चारो ओर मौन-मौन चल रही है, कुसुमोकी उत्सव-लीला! नही समझ पा रही हू, इसके लिये तुझे महाभाग कहू या हतभाग्य कहू, पापी कहू या पुण्य-पुरुष कहू ?"

प्रसवके आवश्यक उपचारके उपरात, वसत अकेली-अकेली मगल-का आयोजन करने लगी। भर आते एकाकी कठसे उसने जन्मो-त्सवका गीत गाया। द्वारपर उसने अशोकका तोरण बाधा और फूलोकी डालियोमे गुफाके अतर्भागको सजा दिया। सद्य तोडे हुए कमलोके केसरसे उसने शिशुके लिये शय्या रची, तथा घाटीकी देव-प्रतिमाके पादार्घ्य रूप वे मल्लिकाके फूल लाकर उसने अजनाकी शय्यामे बिछा दिये।

वसतको अकेले-अकेले गीत गाते और मगलाचार करते देखकर अजनाका हृदय जाने किस अचित्य दु खसे उफना रहा था। वसतकी आंखोमे थे राजमहलके उस अपूर्व जन्मोत्सवके चित्र, जो कभी होनेवाला नही है। याद आया उसे नर-नारियोके हर्ष कोलाहलसे भरा वह राजागन। प्रासादमालाओपर सिंगार-सजावटकी वे विचित्र शोभाए, वे ध्वज-तोरण और वदनवारे, वे रग-बिरगी दीपावलिया—वह गीत-गान, नृत्य-वाद्योका समारोह।—और तभी याद आये उसे अपने वे फूल-से बालक! दोनो बहनोने एक-दूसरे की ओर से मुह फेरकर आसू टपका दिये। गुफाको और भी जाज्वल्यमान उजालेमे भरता हुआ शिशु मुस्करा

दिया ! अद्‌भुत तरगोके चाचल्यसे वह चारो ओर हाथ-पैर सचालित कर रहा है—मानो दिशाओके पालनेमे ही झूल रहा है।

यथा समय वसतने अजनाको फलोका थोडा रस पिलाया और आप भी फलाहार किया। अजनाकी सारी वाल-प्रकृति, उसका चाचल्य और औद्धत्य आज खो गया है। हलकी होकर भी आज वह एक अपूर्व सभारसे गभीर हो गई है। भविष्यकी अगम्य दूरियोमें फिर उसका चिंताकुल मन भटकता चला गया है।—धुधले रहस्यावरणोकी वादल-वाहिनी सुदूरतामे, जहा उसने वार-वार देखा है—पृथ्वी और आकाश एक अरूप एकतामें वध गये है—वही उसकी आखे लगी है वह पूछ रही है—'कहा हो तुम ? किन दुखकी विभीपिकाओमें तुम मेरे मनकी साध पूरने गये हो ? क्या नही लौटोगे कभी इस राह ?"

वसतके सामने अवतक तो प्रसव की चिंता ही सर्वोपरि थी। आज अजना उससे भी निष्कृति पा गई है। इस परम पुण्याधिकारी वालककी वह जननी है। और विचित्र है इसका पुण्य जो निर्जन कदरामें जन्म लेकर प्रकाशित हो रहा है। लेकिन अव—? अव क्या है भविष्य ? कहा है पवनजय, क्या है अजनाका और उनका भावी ? किस राह ले जायगा हमें यह अतुल तेज और पराक्रमका स्वामी वालक ? मुनिने कहा था, उपसर्गोसे खेलते चलना इसका स्वभाव है। मुनिके वचन तो कभी निरर्थक नही होते। जाने कव यह हमें उन उपसर्गोसे पार करेगा, जाने कव यह अपने चिर दिनके विछोही माता-पिताको मिलायेगा ? वह भविष्य न तो वह मुनिसे पूछ पाई, और न मुनि ही उसका कुछ सकेत कर गये है—जाने क्यो ?

××× दोपहर ढल रही थी कि अचानक आकाशकी ओर वसतकी निगाह खिची।—प्रभाके पुज-सा एक विमान, विपुल गभीर स्वरसे पर्वत-प्रदेशको भरता हुआ, नीचेकी ओर आ रहा है। वसत अनेक

भय और आशकाओसे भर उठी। भीतर आकर उसने अजनाको यह सूचना दी तो उसे भी रोमाच हो आया। अनजाने ही उसने बालकको और भी प्रगाढतासे छातीसे दाव-दाव लिया।

मनमें उसके फूटा—"आह, कौन जाने कोई पूर्व भवका वैरी है या आत्मीय ? पर आत्मीय—? नही आयेगा वह—हरगिज नही आयेगा मुझ अभागिनीके पास—इस अरण्य-खडकी भयानक विजनतामें ?"

ऊपर विमानके आरोही विद्याधरके मनमें भी यही प्रश्न था—'—असाधारण योगायोग है—वैरी या आत्मीय ?' इसीसे उसका विमान अटका है और वह नीचे उतरनेको वाध्य हुआ है।

थोडी ही देरमें रत्नो से जग-मग करता हुआ विमान नीचे उतरा। अतिशय रूपवान एक विद्याधर और विद्याधरी अचानक गुफाके द्वारपर दिखाई पडे। वडे ही आदर-सभ्रम और मर्यादापूर्वक उन्होंने अजना और वसतका अभिवादन किया। उनके प्रति प्रतिनमस्कार कर दोनो वहनोने उनका स्वागत किया। विद्याधर-युगलने सामने ही, अजनाके अकमें नक्षत्र-सा ज्योतिष्मान वह वालक देखा। साथ ही अप्सराओ-सी सुदर, कृश-गात, वल्कल पहने इन तापसियोको देख वे आश्चर्यमे स्तभित रह गये। हो न हो, है तो कोई तापसिया ही—पर तापसियोके वालक कैसा ? शायद कोई गधर्व-कन्याये स्वर्गके सुखसे ऊबकर भूमिपर चली आई है, और किसी योगीका योग भगकर यह ज्योतिर्मय वालक पा गई है। इस जनहीन अरण्यमे ऐसी सुदरी मानवियोके होनेकी तो उन्हें कल्पना ही नही हो सकी।

विद्याधरने सहज कुशल पूछी, और तब विनय-पूर्वक उनका परिचय जाननेकी उत्सुकता प्रकट की। आगतोके आविर्भावके साथ ही कुछ ऐसा अतरगका सामीप्य उन दोनो वहनोने अनुभव किया कि अपने वावजूद कोई सदेह उनके वारेमें उनके मनमें नही रहा। अनायास वसतने सारा वृत्तात सक्षेपमे कह सुनाया। विद्याधर-युगल ज्यो-ज्यो सुनते जाते थे,

उनकी आखोसे आसुओकी झडी लग रही थी। ज्योंही वृत्तात समाप्त हुआ कि विद्याधर अपनेको सम्हाल न सका—

"हाय, बेटी अजन तेरे ऐसे भाग्य ? यह क्या अनर्थ घट गया ?"

कहते हुए वह आगे बढ आया और उसने अजनाको शिशु-सहित छातीमे भर लिया और कठ भर-भरकर पागलकी तरह वह उसे भेंटने लगा। रुदन उसकी छातीमे थम नहीं रहा था।—अजना विस्मित थी, पर अतरमे उसके भी वात्सल्य ही वात्सल्य उभरा रहा था। किंचित् मात्र भी कोई शका मनमे नही जागी। थोडी देर बाद कुछ स्वस्थ होनेपर विद्याधरने अपना परिचय दिया। उसने बताया कि वह राजा चित्र-भानु और रानी सुद-मालिनीका पुत्र प्रतिसूर्य है। हनुरुहद्वीपका वह राजा है, और अजना उसकी भानजी होती है। अजना शैशवमे केवल एक बार मामाके घर हनुरुहद्वीप गई थी। उसके बाद फिर प्रतिसूर्यने उसे कभी नही देखा, इसीसे वे उसे पहचान न सके। सुना तो अजनाका हृदय भी जैसे विदीर्ण होने लगा। रक्तमे कौटुबिक स्नेह और वात्सल्यका उफान आये बिना न रहा, जो भी चारो ओरसे बिल्कुल निर्मम और निरपेक्ष होकर उसने यह निर्जनकी राह पकडी थी।—उसे याद हो आये वे प्रसग जब कई बार मा हनुरुहद्वीपके सस्मरण सुनाया करती थी। अपनी अबोध अवस्थामे हनुरुहद्वीप जानेकी एक धुधली-सी स्मृति भी उसे है—समुद्रका वह महानील प्रसार, और उस समुद्र-यात्रामे माके द्वारा दिखाये गये वे मगर-मच्छ!—अजना अपने आसू न थाम सकी। उसने मुह दूसरी ओर फेर लिया और बेसुध-सी हो रही। मामीने गोदमे लेकर अजनाका शीतोपचारकर उसे स्वस्थ किया, फिर अपने दुकूलके आचलमें उसे ढापकर उसका लिलार चूम लिया।

वसतने बहुत ही सकुचाते हुए कमलके पत्तोपर अतिथियोके समुख फलाहार रखा। सुख और दुखके खट्टे-मीठे आसू भरते, मामा और

मामीने फलाहारकर अपनेको धन्य माना। इसके अनतर अजनाने वसंतका परिचय दिया। उसके अप्रतिम सर्वस्व-त्यागकी कथा सुनकर विद्याधर युगलकी आखें फिर सजल हो आई। वार-वार वलायें लेकर, उन्होने नतशिर होकर उस निष्काम सगिनीके त्यागका अभिनदन किया।

थोडी ही देरके इस सयोग और पारस्परिक वातचीतमें, मामाने मन ही मन समझ लिया था, कि इस अजनाके मनपर कावू पा जाना सहज नही है। वसतके मुहसे इस लडकीकी दुर्धर्ष लीलाए सुनकर, विद्याधरकी सारी विद्या और पौरुषकी तहें काप उठी थी। फिर भी डरते-डरते विनतीके स्वरमें प्रतिसूर्यने अजनासे कहा—

"वेटी अजन, जानता हू कि समस्त लोक तेरे प्रति अपराधी है। उसी लोकके वधनो में बँधा मै भी एक अज्ञानी मानव हू। आज तुझे उसी लोकमें लौटनेको कहते, यह छाती फटी पडती है। ससारने जो अन्याय तेरे साथ किया, उसका प्रायश्चित्त नही हो सकता। लेकिन फिर भी यदि तू अपने इस दुखी और नि सतान मामापर दया कर सके, तो उसका हनुरूहद्वीप तुझे पाकर धन्य होगा—और धन्य होगा उसका जीवन "

वोलते-वोलते कठ भर आया। कुछ देर रहकर फिर प्रतिसूर्य वोले—"प्रतिसूर्यका जीवन वैसे ही सूना और निरर्थक है—और आज यदि तू नही चलेगी मेरे साथ—तो ससारमें यही सव कुछ देखनेके लिये अव और जीवित नही रह सकूगा—तुझे विवश करनेका पाप कर रहा हू, पर स्वय विवश हो गया हू "

कहकर मामाने फिर एक वार अजनाके हाथ जोड लिये। अजनाने हृदयके आवेगपर सयम किया और धीर गभीर स्वरमें कहा—

" अपराध लोकका और किसीका भी नही है, मामा, अपने ही पूर्वमें किये कर्मोका वह फल है। अपने ही उस अर्जित पापको लोकके

माथे थोपकर, फिर नया पाप मैं नही बाधूगी ।—प्रभु मुझे बल दे कि सपनेमे भी, अपने दुखके लिये परको दोष देनेका भाव मुझमे न आये । दुख है मनमे तो इसी बातका कि लोकके जो अनत उपकार मुझपर है, उनकी ओर से पीठ फेरकर मैं कृतघ्ना अपने बचावके लिये, इस निर्जनमे मुह छिपाती फिर रही हू !—तुम्हारे प्रेमको न पहचान सकू इतनी हृदय-हीन भी नही हो गई हू, मामा ! पर सोचती हू मैं बहुत अयोग्य हू—तुम्हारे साथ चलकर कही तुम्हे भी विपदमे न डाल दू ?—क्योकि विपदाओमें चलनेके लिये ही अजनाने इस लोकमें जन्म लिया है ! आगेकी बात तुम्ही जानो, मामा "

कहते-कहते अजना फिर भर आई और छल-छलाई आखोसे पास सोये शिशुको ताकती रह गई ।

× × × अजना, वसत और शिशुको साथ लेकर प्रतिसूर्यका विमान तीरके वेगसे खाईको पार कर रहा था । हवामें मोतियोकी झालरें उलझ रही थी, और मणियोकी घटिकाए बज रही थी । ज्यो-ज्यो विमानका वेग बढता जा रहा था, अजनासे अपनी गोदका शिशु सम्हाले न सम्हल रहा था । कि पलक मारते मे हाथसे उछलकर बालक खाईमे जा गिरा । नीचे गिरते बालककी ओर देख अजनाके मुहसे चीत्कार निकल पडी—

"आह तू भी छोड चला मुझे "

कहकर अजना मूर्छित होकर धमाकसे पायदानमे गिर पडी । विमान विलाप और रुदनकी पुकारोमे गूज उठा ।

बालकके गिरनेके ठीक स्थलपर दृष्टि लगाये, द्रुतवेगसे प्रतिसूर्य विमानको तलमे लाये । ठीक वही आकर विमान उतरा जहा बालक गिरा था । पर्वतकी एक वज्र-सी चट्टानपर बालक फूल-सा मुस्कराता हुआ क्रीडा कर रहा था । नीचे उसके शिलाके सौ-सौ टुकडे हो गये थे । अपार सुख और आश्चर्यसे पुलकित सभी देखते रह गये । चेतमे लाये

जानेपर अजनाने जो उठकर बालक को देखा तो उसकी आखे मुन्द गई, और मुख उसका अपूर्व लज्जा और रोमाचसे लाल हो गया।

प्रतिसूर्यने बालकको गोदमे उठाकर उस अमृत-पुत्रकी वह तेजस्वी लिलार चूम ली और अनुभव किया कि उनका मानव-जन्म कृतार्थ हो गया है। बालकको अजनाकी गोदमे देते हुए बोले—

"इसे जन्म देकर तेरी कोख धन्य हुई है, अजनी!—निश्चय ही समचतुरस्र-संस्थान और वज्र-वृषभ-नाराच सहननका धारी है यह बालक। इसके बल-वीर्यसे पहाड खड-खड हो गया है, पर इसका घात नहीं हो सका। निश्चय ही यह कोई चरम-शरीरी और तद्भव मोक्ष-गामी है—!'

तब वसतने प्रसग-वश मुनिकी भविष्य-वाणी कह सुनाई। सुनकर सबकी आखोमें हर्षके आसू आ गये।

× × × हनूरुह-द्वीपमें ग्यारह दिन तक अजनाके पुत्रका जन्मोत्सव देवोपम समारोहसे मनाया गया। चारो ओरके सागर-प्रातमें मानो इन्द्रलोककी रचना ही उतर आई थी। हनूरुह-द्वीपमे जन्मोत्सव होनेके उपलक्ष्यमें बालकका नाम रक्खा गया—हनूमान!

द्वीपके चारो ओरकी समुद्र-लहरोके गर्जनमे गूज-गूज उठता—
"काम-कुमार हनूमानकी जय, अजित-वीर्य हनूमानकी जय !"

## [ २८ ]

रत्न-कूट प्रासादसे उडकर पवनजयका यान कैलाशकी ओर वेगसे बढ रहा है। आकाशके तटोमें चारो ओर दिनका नवीन उजाला उमड रहा है। नीचे धुध और बादलोमें होकर, शस्य-श्यामला पृथ्वीका चित्रमय गोलार्ध तैरता-सा दीख रहा है। पवनजयके दोनो हाथ यानके चक्रपर थमे है। पीछे उडता हुआ श्वेत उत्तरीय, मानो पीछेसे कोई खीच रहा है। ज्यो-ज्यो वह अदृश्य हाथ उस उत्तरीयको अधिक खीचता है, पवनजयके

हाथका चक्र उतने ही अधिक वेगसे घूमता है। यानकी गति जैसे समयकी गतिसे होड ले रही है।

सामने कैलाशकी हिमोज्ज्वल चूडाए दीख रही है। उनपर स्वर्ण-मदिरोकी उठती हुई ध्वजाओमे, आज मुक्तिके आचलका आवाहन है।—कुमारका हाथ चक्रपर थमा रह गया यान हवाकी मर्जीपर छूट गया। पवनजयको प्रतीत हुआ कि आज की गतिका सुख अपूर्व है, इसमें निरर्थक उद्वेग नही है, प्राप्तिका आनद है। कितनी ही वार इनसे कही बहुत ऊची और खतरनाक ऊचाइयोमे वह यानपर उडा है। दुर्दम्य था उन उडानोका वेग! पर उनमें सुख नही था, प्राप्ति नही थी, लक्ष्य नही था। थी एक विघातक छलना। चारो ओर शून्य ही शून्य था, आमत्रणहीन और निर्वाक्।

पर आज तो दिशाए अवगुठन खोले मुग्धा-सी खडी है। उनकी भुजाओमें एक उन्मुक्त आलिगन खेल रहा है। और उसके समुख पवनजयका माथा नीचे झुक गया है। उन गर्वीली भृकुटियोका मान पानी वनकर आखोसे ढलक पडा है।—नही है साहस कि इस आलिगन को वे झेल लें। नही है वल कि उसे अपनी भुजाओमें वाध ले, या आप उसमें वध जाये। अपनी असामर्थ्यकी लज्जामें वे डूबे जा रहे है। इन दिशाओको जीतनेका उनका एक दिनका अरमान आज अपनी ही खिल्ली उडा रहा है।—पवनजयको प्रतीत हुआ कि वाहरकी ओर जो वह गतिकी चचल वासना, दिन-रात मनको उद्वेलित किये थी, वह थी केवल गतिकी भ्राति। वह थी गतिकी भटकन—अवरोध—उसी मरीचिकाको समझ रहा था वह—प्रगति?—भीतरकी धुरीमें जहा नित्य और सम परिणमन है, उसी केन्द्रमे पवनजय आज मानो लौट रहे है।

कानोमें गूज रहे है विदा-वेलाके अजनाके वे शब्द—'मेरी शपथ लेकर जाओ कि अनीति और अन्यायके पक्षमें, मद और मानके

पक्षमें तुम्हारा शस्त्र नही उठेगा। क्षत्रियका रक्षा-व्रत विजयके गौरव और राज-सिंहासनसे बडी चीज है। तुम्हारा ही पक्ष यदि अन्यायका है तो उसीके विरुद्ध तुम्हे लडना होगा '

नही चाहिये आज उसे वीरत्वकी कीर्ति। जबु-द्वीपके नरेन्द्र-मडल-पर अपने पराक्रमकी छाप डालनेकी इच्छा, आज मानो अनायास लुप्त हो गई है। राज्यकी आकाक्षा तो किसी भी दिन उसमे नही थी। और विजयके शिखर वह सारे गूध आया है, वहा है केवल निष्प्राण शिलाए, जो शून्यमें कसककर दम तोड रही है, और हवाए रुदनकी तरह वहा भटक रही है। वहासे गिरकर तो वह धरतीके पादमूलमें आ पडा है। चारो ओरसे हारकर आज जब वह सर्व-हारा हो गया है, तो विश्व-की सारी विजयो और महिमाओके मूल्य उसे फीके लग रहे है।—मानो पैरोके पास टूटी हुई जय-मालाओके फूल कुम्हलाए हुए पड़े है! पवनजयका सारा मन आज उस शात समुद्रकी तरह पडा है, जो अपनी धरिणी पृथ्वीकी गर्भ-सेजमे आत्मस्थ होकर सो गया है।

मानसरोवरपर यान उतरा। सेनाओको आज्ञा दी गई कि प्रस्थानकी तैयारी करे। रण-सज्जामें सजे हुए पवनजय गभीर चितामें मग्न हैं। पास ही एक चौकीपर प्रहस्त चुप-चाप बैठे हैं। एकाएक पवनजयने मौन तोडा—

"बधु प्रहस्त, अब युद्ध समुख है। यह भी जान रहा हू कि वह अनिवार्य है, और मेरी इच्छाका प्रश्न उसमे नही है। वह कर्त्तव्यकी अटल और कठोर माग है। पर यह भी निश्चय अनुभव करता हू कि शायद यही मेरे जीवनका पहला और अतिम युद्ध होगा।—क्योकि नही समझ पा रहा हू कि बाहर किसके विरुद्ध मुझे लडना है?

मुझे तो साफ दीख रहा है, प्रहस्त, कि शत्रु बाहर कही नही है—वह अपने ही भीतर है। वही शत्रु सबसे बडा है और अबतक उसीसे पद-दलित होता रहा हू! उसे ही अपना सारा अपनत्व सौंप बैठा

था, और निरंतर छातीमें पदाघात सहकर भी उसीके पैरोंमें लिपटा रहा। आज उसे पहचान सका हूं, और उसीसे आज खुलकर मेरा युद्ध होगा। उसे जीते बिना, बाहरकी इन सारी विजयोंके अभिमान मिथ्या हैं—वह निरी आत्म प्रवंचना है। पर उसे जीत पाना क्या सहज संभव है?—कुछ हो प्रहस्त, उस शत्रुको अधीन किये बिना, पवनंजयको इस युद्धसे लौटना नहीं है।"

सुनकर प्रहस्तकी खुशीका ठिकाना नहीं था। उसके मनका सबसे बड़ा बोझ जैसे आज उतर गया। उसे निष्कृति मिली, वह कृतार्थ हुआ। उसका दिया दर्शन आज मस्तिष्कसे उतरकर हृदयकी मर्मवाणी बोल रहा है। प्रहस्त सुनकर पुलकित हो रहे। फिर सहज बातको सहारा भर दे दिया—

"हां पवन, समझ रहा हूं। चाहे जितना दूर तुमने मुझे ठेला, पर क्या तुमसे क्षण भर भी दूर मैं अपनेको रख सका?—हां, तो सुनूं पवन, क्या है तुम्हारी योजना?"

पवनंजय खिल-खिलाकर हँस पड़े—

"हं योजना?—अचंभा हो रहा है, प्रहस्त, और अपने ही ऊपर हँसी भी आ रही है। इतना बड़ा विशाल सैन्य लेकर आखिर किसपर युद्ध करने चढ़ा हूं मैं—? ज़रा बात मुझे साफ-साफ समझा दो न, प्रहस्त।"

प्रहस्तने साफ और सीधी व्यवहारकी बात पकड़ी, बोले—

"पाताल-द्वीपके महामंडलेश्वर राजा रावणके मांडलीक हैं आदित्य-पुरके महाराज प्रह्लाद। जंबु-द्वीपके अनेक विद्याधर और भूमि-गोचर राजा उन्हें अपना राज-राजेश्वर मानते हैं।—वरुण-द्वीपके राजा वरुणने, रावणका आधिपत्य स्वीकार करनेसे इनकार किया है। वह कहता है कि—यदि रावणको अपने देवाधिष्ठित रत्नोंका अभिमान है, तो मुझे अपने आत्म-स्वातंत्र्य और अपने भुज-बलका। इसपर रावणने

अपने देवाधिष्ठित रत्न उतार फेंके हैं, और स्वय अपना भुज-वल दिखाने राजा वरुणपर जा चढे हैं। युद्ध वहुत भीषण हो गया है, सहारकी सीमा नही हैं।—रावणके हम माडलीक हैं, सो निश्चय ही हमें रावणके पक्षपर लडना है, इसमे दुविधा कहा हो सकती है, पवन ?"

पवनजय चुप रहकर कुछ देर सोचते रहे। फिर ज़रा मुह मलकाकर गभीर स्वरमें वोले—

"रावणके माडलीक हैं आदित्यपुरके महाराज प्रह्लाद, मै नही। और इस समय इस सैन्यका सेनापति मै हू, महाराज प्रह्लाद नही!—और शायद तुम्हे याद हो प्रहस्त, इसी मानसरोवरके तटपर, मैंने तुमसे कहा था कि आदित्यपुरका राज-सिहासन मेरे भाग्यका निर्णायक नही हो सकता।—उस दिन चाहे वह क्षणका आवेग ही रहा हो, पर अनायास मेरे भीतरका सत्य ही उसमें वोला था। तव युद्धमें पक्ष चुननेका निर्णय मेरे हाथ है, आदित्यपुरके सिंहासनसे वह वाध्य नही!"

कहते-कहते पवनजय हँस आये। वोलते समय जो भी उनका स्वर गुरु-गभीर था, पर उनकी भौहोमें वह सदाका तनाव नही था। आवाज़में उतावलापन और उत्तेजना नही थी। थी एक धीरता और निश्चलता।

"आदित्यपुरका सिंहासन यदि इतना नगण्य है, तो तुम लडने किसके लिये जा रहे हो, पवन, यही नही समझ पाया हू ?"

"कर्तव्यके लिये लडने चला हू, प्रहस्त!—अगोचरसे धर्मकी पुकार सुनाई पडी है। पर किस व्यक्तिके विरुद्ध लडना है, यह सचमुच मुझे नही मालूम। मेरा युद्ध व्यक्तिके विरुद्ध कही नही हैं, वह अन्याय और अधर्म के विरुद्ध है।—और मेरा युद्ध सिंहासनके लिये नही, अपनी और सवकी आत्म-रक्षाके लिये है। अपने ही को यदि नही रख सका, तो सिहासनका क्या होगा ? और जो सिंहासन अपनेको रखनेके लिये अन्यायके समुख झुक जाये, वह मेरा नही हो

सकता। आदित्यपुरका राज-सिंहासन यदि रावणकी रक्षाका भिखारी बनकर कायम है, तो उसका मिट जाना ही अच्छा है।—हो सका तो उसे अपने बलपर ही रक्खूगा, और नही तो रावण ही उसे रख लें, मुझे आपत्ति नही होगी!"

प्रहस्तने पाया कि यह केवल मस्तिष्कका तर्क नही है, अतरका निवेदन है, जो सहज आत्म-ज्ञानसे प्रबुद्ध है। उसके आगे कोई प्रतिवाद मानो नही ठहरता। प्रहस्तका मन अश्रु-भारसे नम्र होकर झुक आया। पर वह कठोर होनेको बाध्य है। उसके सामने राज्य-कर्तव्य है, राज्यके कुछ निश्चित हितोकी रक्षाका दायित्व उसपर है। पर इस पवनजयकी दृष्टिमें राज्य तो शून्य है। यह कैसे बनेगा—? सब कुछ समझते हुए भी यत्रवत् प्रहस्तने आपत्ति उठाई—

"—चूक रहे हो पवन, तुम इस समय आदित्यपुरके सेनापति हो, आदित्यपुरके राजा नही। सिंहासन और राज्यको रखने न रखनेका निर्णय राजाके आधीन है, तुम केवल राजाज्ञाके वाहक हो!"

पवनजय फिर खिल-खिलाकर हँस आये। कुछ देर चुप रहे, फिर ज़रा सलज्ज भावसे सिर नीचाकर बोले—

" पर तुमसे क्या छुपा है, प्रहस्त ?—तुम सिंहासन और राज्यकी कह रहे हो? पर स्वय राज-लक्ष्मीको जो पा गया हू! सिंहासन तो उसीके हृदयपर बिछा है न ?—कल रात लक्ष्मीने उसपर मेरा अभिषेक कर दिया है—और तुम्ही थे उसके पुरोहित! तब राजा कौन है और अधिकार किसका है, इस विवादमे नही पड़ूगा। राजत्व व्यक्तिमें नही है। धर्मका शासन जो वहन करे वही राजा है, वह किसी भी क्षण बदल सकता है। मै तो इतना ही जानता हू कि राज्य, सिंहासन, राजा, मै—सब उसीके रक्खे रहेंगे। स्वय लक्ष्मीकी आज्ञा हुई है—में तो उसीका भेजा आया हू। आदेशका पालन भर करने चला हू। पथकी स्वामिनी वही है। तुम, मै, राजा और यह विशाल

सैन्य, सब उसीके इंगितपर संचालित है।—इसके ऊपर होकर मेरा कुछ भी सोचना नही है।"

प्रहस्त अपनी हँसी न रोक सके। आखें पुलक आई। उन्हें लगा कि पवनंजय नव-जन्म पा गया है। इतने वर्षोंका वह चट्टान-सा कठोर हो गया पवनंजय, सरल नव-जात शिशु-सा होकर सामने बैठा है। जीमें आता है कि दुलारसे बाहमें भरकर इस मुहको चूम लें, जो यह नई बोली बोल रहा है।—पर भावना इस क्षण वर्जित है, ठोस वास्तवकी माग इस समय सामने है। हँसते हुए ही प्रहस्त बोले—

"लक्ष्मीकी आज्ञा तो सारे छत्रोंके ऊपर है, पवन, उसे टालनेकी सामर्थ्य किसकी है? वह तो शक्तिदात्री भगवती है, लोककी और अपनी रक्षाके लिये, वह हमें शक्ति और तेजका दान करती है। अपने वक्षपर धर्मकी जोत जलाकर वह हमारा पथ उजाल रही है! उस बारेमे मत-भेदको अवकाश कहा है?—पर व्यवहारकी राज-नीतिमें हमे पग-पगपर ठोस सचाईका सामना करना है। वह जीवनका गणित है; यथार्थ जीवनको व्यवहारके उसी हिसाब-किताबसे चलाना होगा, नहीं तो बड़ी उलझन हो जायगी।"

कहकर प्रहस्तने ओठ काटकर हँसी दबा दी। जान रहा है कि वह आप द्वैतके शिकजेमे फँसा है और पवनंजयको भी उसीमे खीच रहा है। क्योंकि वह तो इस समय उस प्रत्यक्ष राज-कर्तव्यका प्रतिनिधि है और उसके प्रति उत्तरदायी होनेको वह बाध्य है। पर पवनंजयका मन निर्द्वंद्व और स्वच्छ है, तुरत प्रहस्तको उन्होने भुजापर थाम लिया और ईषत् मुस्कराते हुए बोले—

"भैय्या प्रहस्त, वयमे कुछ ही तुम मुझसे बडे हो, पर बचपनसे तुम्हें गुरुजनकी तरह मन ही मन श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा है। राज-नीतिके सूत्र यदि कभी तुमसे सीखे थे, तो अध्यात्म और दर्शनका मूल संस्कार भी तुम्हींने मुझे दिया था। पर मुझे लग रहा है, प्रहस्त, उलझन

वाहर कही नही है, वह तुम्हारे मनमे ही है। भगवतीके वक्षमें जल रही धर्मकी जोत यदि हमारा पथ उजाल रही है, तो फिर कौनसी राज-नीति है, जो उससे ऊपर होकर हमारा पथ बदल सकती है ? धर्म और राज-नीतिको अलग-अलग करके देखना, जीवनको अपने मूलसे तोडकर देखना है। तब जीवनकी परिभाषा होगी मात्र सघर्ष—स्वार्थोंके लिये सघर्ष, मान और तृष्णाके लिये सघर्ष, सवर्षके लिये सघर्ष । उसमे अभीष्ट सर्वका और अपना आत्म-कल्याण नहीं है। उसमे उद्दिष्ट है केवल अपने तुच्छ, पार्थिव स्वार्थों और अहकारोंकी तुष्टि।—गणितका काम तो खड-खड करना है, वह अशो और भिन्नोमे जीवनको बाटकर हमारे चैतन्यको ह्रस्व कर देता है। इसीसे वह केवल निर्जीव वस्तुओकी माप-जोखके लिये है। पर जीवनका अनुरोध है, अखडकी ओर वढना। उसका गति-निर्देश गणित और हिसाबी राज-नीतिसे नही हो सकेगा। जीवनका देवता है धर्म, जो हमारे अतरके देव-कक्षमे शाश्वत विराजमान है। जीवनका सूत्र-सचालन वहीसे हो रहा है। ज़रा भीतर झाककर देखे, हमारे हृदयके स्पदनमे उसका वेदन सनत जागृत है। हृदय जडीभूत हो गया था, इसीसे राह खो गई थी। धर्मकी अधिष्ठात्रीने आज स्वय, हृदयको मुक्त कर दिया है, इसीसे राह अब साफ दीख रही है। वास्तवकी यह ठोस और अतिम दीखनेवाली सचाई, यथार्थमें जडता है, वह मिथ्या है, उससे नही जूझना है। जडतासे टकरा रहे है, इसीसे गणित और राज-नीति सूझ रही है। जीवन प्रवाही है, सो उसका सत्य भी प्रवाही है। धर्म उसी प्रवाहकी अखडताके अनुभवका नाम है। अपने प्राणकी हानिसे बचना ही हमारी पल-पलकी चेतना है दूसरेका प्राण-घातकर अपना प्राण सदा अरक्षित ही रहेगा। इसी निरतर अरक्षाकी स्थितिसे ऊपर उठनेके लिये, हमे अपने ही प्राणके अनुरोधके अनुसार, निखिलके प्राणको अभय देना है। राजा और राज्य इमीलिये है, शासन और व्यवस्था इसीलिये

है। इसी रक्षा-व्रतका पालन करनेके लिये पृथ्वीपर क्षत्रियका जन्म है।—सिंहासनपर बैठे हैं धर्म-राज, लोकमें शासन उन्हीका है। हम हैं केवल उस कल्याण-विधानके आज्ञाकारी अनुचर! उससे टूटकर राजा और राज्यके अधिकारका क्या मूल्य रह जाता है?—और हमारी राजनीति भी तब क्या उस धर्मके अनुशासनसे अलग होकर चल सकती है?"

प्रहस्तने देखा कि जिस प्राणकी अतल गहराईसे, प्रवाही जीवनके सत्यकी यह बात कही जा रही है, उसपर तर्क नही ठहर सकेगा। नही—अब वह और अपनेको धोखा नही देगा। होनहार क्या है, सो अतर्यामी जानें। अपना मत उसने समेट लिया—मात्र पवनजयसे अनुशासन भर वह चाहता है—बोला—

'अच्छा पवन, तब तुम्हारा धर्म-शासन इस प्रस्तुत युद्धके समुख हमें क्या करनेको कहता है? अपना अतिम निर्णय दो, वही आज्ञारूपमे सैन्यको सुनाकर, यहासे तुरत प्रस्थान करना है।"

मेरु-अचल निश्चयके स्वरमें पवनजय बोले—

"रावण महामडलेश्वर बने है अपने देवाधिष्ठित रत्नोके बलपर। साम्राज्यका स्वामित्व भोगनेकी अह-तृष्णा ही इसके पीछे है। सभी राज-पुरुष अपनी-अपनी राज्य-तृष्णाओके वश रावणको अधीश्वर मानने-को बाध्य हैं। यह धर्मका शासन नही है, आतकका शासन है, स्वार्थो और अहकारोका सगठन है!—लोक-हित और लोक-रक्षाकी प्रेरणा इस युद्धके पीछे नही है। यह है केवल आपा-धापी और छीना-झपटीका पाशव-युद्ध। न्याय-अन्याय, नीति-अनीतिका भेद यहा लोप हो गया है, प्रजाका जीवन, मात्र राजाकी वैयक्तिक मान-तृष्णाकी तृप्तिके लिये शोषणका साधन भर गया है। राजा वरुणने देवाधिष्ठित रत्नोके अभि-मानको ललकारा है, आतकको उसने चुनौती दी है। निर्बल और शोषित होकर जीनेमे उसने इनकार किया है। एक ओर जबु-द्वीपका इतना बडा नरेंद्र-मडल है, और दूसरी ओर है अकेला वरुण। जानता है कि उसने

मौतको न्यौता है, पर अहकार, आतक और स्वार्थी शोपणके चक्रोके तोडनेके लिये उसने सिंहासन तो क्या प्राणतक की वाजी लगा दी है। तव मानना ही चाहिये कि मात्र सिंहासनके लोभसे वह ग्रस्त नही, अपनी हार-जीतका मोह त्याग, सत्यके लिये लडनेको वह उद्यत हुआ है। तव पवनजय इस युद्धमें वरुणके पक्षपर ही लड सकता है, अन्यथा इस युद्धमें उसका कोई प्रयोजन नही हो सकता। और उसमें भी पक्ष या विरोध व्यक्तिका नही है, वह धर्म और अधर्मका है। तव वरुण भी किसी दिन छूट सकता है। रास्तेके मोर्चोपर मेरी सेना नही ठहरेगी। उस प्रधान रणागणके बीचो-बीच जाकर हम विराम करेंगे, जहा वरुण और रावण आमने-सामने हैं। मुझे उनके बीच खडे होना है। मेरा निवेदन शस्त्रसे नही है, मै पहले मनुष्योसे वात किया चाहता हू। शस्त्र तो मात्र अतिम अनिवार्यता हो सकती है।—सखे प्रहस्त, उठो, निश्चयानुसार सैन्यको प्रस्थानकी आज्ञा सुना दो ।"

××× प्रयाणका तूर्य-नाद दिशातो तक गूज उठा। विशाल सैन्यका प्रवाह हिम-गिरिकी घाटियोमें उमड पडा। 'देव-पवनजय' की जय-जय-कारोसे पर्वत-पाटिया हिल उठी।—और इसी बीच अपने सत-खडे रथके सर्वोच्च खडपर खडे होकर पवनजयने प्रणत हो कैलाशको तीन वार प्रणाम किया। फिर दोनो हाथ आकाशमें उठाकर पुकारा—

"कर्म-योगीश्वर भगवान् वृषभ-देवकी जय, राज-योगीश्वर भगवान्-भरतकी जय "

चौगुने उल्लास और उन्मेषसे सैन्यके प्रवाहमे यह जय-जयकार गूजती ही चली गई।

[ २६ ]

अनेक देशातरो, नदियो और पर्वतोको लाघकर, कई दिनो वाद, पवनजयका सैन्य जल-वीचि पर्वतपर आया। पर्वतकी सिंधु-तरग नामा

चूडापर खडे होकर पवनजयने देखा—दूरपर समुद्रमें घुसता हुआ अतरीप दीख रहा है।—भरत-क्षेत्रके दक्षिण समुद्र-तटपर वैताढ्य और विजयार्धके विद्याधरोकी सेनाओका स्कधावार दिखाई पडा। पवनजयके सैन्यका रण-वाद्य सुनकर, स्कधावारमे हल-चल मच गई। जो भी यह मित्र राजवियोका मोर्चा है और नवागत सैन्य भी उनका मित्र ही है, फिर भी राजा-राजाके बीच जो अहकारोके अतर-विग्रह है, आपसके वैर, मात्सर्य और ईर्ष्याए है, वे भीतर-भीतर कसमसा उठी। और फिर जैसी कि पूर्व सूचना मिली थी, इस सैन्यके सेनापति है देव पवनजय—जबु-द्वीपके वे निराले और बदनाम राजपुत्र, जिनको लेकर विचित्र कथाए राज-घरोमें प्रचलित है।—स्कधावारमें दबी ज़बानसे व्यग-विनोद होने लगे। अबतकके मनोमे छुपे हुए दाव-घात, अकारण मुहपर आने लगे। स्वागतमे यहा भी सारे सैन्यका एकत्र रण-वाद्य बजने लगा और जयकारें होने लगी। दोनो ओरके रण-वादित्रो और जयकारोमें एक अलक्ष्य स्पर्धाकी जोशभरी टक्कर होने लगी।

कुछ दूर और जानेपर, अपने रथके सर्वोच्च गवाक्षपर चढकर पवन-जयने फिर एक बार सिंहावलोकन किया।—सैन्य-शिविरोकी रग-बिरगी ध्वजाओ, पालो, तोरणो और तबुओसे अतरीप पटा है। उससे परेकी वेलामें तुग-काय युद्ध-पोतोके मस्तूल और ध्वजाए फहराती दीख पडी।—दूर समुद्रमे रक्त-पताकाओ और रत्न-शिखरोसे मडित सोनेकी लकापुरी जग-मगा रही है। उसीकी सीधमें बहुत दूरपर दीख रहा है छोटा-सा वरुण-द्वीप।—समुद्रकी विशालता ही उसकी लघु सत्ताका बल है। देखकर पवनजयका चेहरा आनद और सतोषसे चमक उठा। मन ही मन बोले—अपने स्वर्ण-वैभवके उद्योतसे गर्विता है यह लकापुरी आकाशमें सिर उठाये इद्रो और माहेद्रोके ऐश्वर्यको यह चुनौती दे रही है—माना! पर उसी महासमुद्रकी चिर चचलताके बीच, अपनी लघुतामें निछावर होता हुआ, सोया है वह वरुण-द्वीप।—और किसका घमड है जो महा-

सागरकी इन निर्बंध लहरोंपर शासन कर सके ?—पानीके बुद्बुद, उसी पानीकी इच्छासे उत्पन्न होकर, इसकी महासत्तापर अपना शासन स्थापित करेंगे ?—और अपनी विद्याओंसे समुद्रके देवताओं, दैत्यों और जलचरोंको यदि रावणने वश किया है, तो उन विद्याओंके बलको भी देख लूगा—! धर्मके ऊपर होकर कौनसी विद्याएं और कौनसे देवता चल सकेंगे ? रावणने जल-देवोंको बाधा है, समुद्रको तो नही बाधा है ? यही समुद्रकी राशि-कृत लहरें होगी वरुणका परिकर .!

अतरीपके स्कधावारमे घुसकर जब पवनजयके सैन्यने आगे बढना चाहा, तो अन्य विद्याधरोंके सैन्योंने उनकी राह रोक ली। पवनजयने आकर, समुख आये राजाओं और सेनापतियोंका सविनय अभिवादन किया, और अनुरोधके स्वरमें अपना मतव्य सक्षेपमें जता दिया।—उन्होने बताया कि उनका प्रयोजन यहा नही है। उस सामुद्रिक मोर्चेपर, जहाँ रावण और वरुणके बीच युद्ध चल रहा है, वही जाकर वे अपना स्कधावार बाधेंगे।—सहार बहुत हो चुका है, अब युद्ध को बढाना इष्ट नही है, हो सके तो जल्दी से जल्दी उसे समेट लेना है। महामडलेश्वर रावणका और अन्य सारे राज-पुरुषोंका कल्याण इसीमें है। प्रस्तुत युद्धके कारणों और पक्षोंकी विषमतापर विचार करते हुए लग रहा है, कि यदि इस विग्रहको बढने दिया गया तो लोकमें क्षात्र-धर्मकी मर्यादा लुप्त हो जायगी! चारो ओर आततायियों और दस्युओंका साम्राज्य हो जायगा। धर्मकी लीक मिट जानेसे अराजकता फैलेगी।—जन-जन स्वेच्छाचारी हो जायगा। लोकका जीवन अरक्षित होकर त्राहि-त्राहि कर उठेगा। आत्म-हित और सर्व-हितके बीच अविनाभावी सबध है। कल्याणका वही मगल-सूत्र छिन्न हो गया है, हो सके तो उसे फिरसे जोड देना है। उसीमें हमारे क्षात्रत्व और राजत्वकी सार्थकता है। और यही प्रयोजन लेकर वे सीधे दोनो पक्षोंके स्वामियोंसे मिला चाहते हैं। —इसीलिये मित्र-राजन्योंसे उनका कर-बद्ध अनुरोध है कि वे उन्हे

अपने निर्दिष्ट लक्ष्यपर जानेका अवसर दें और प्रेमके इस अनुष्ठानमे सहयोगी होकर उनका हाथ बटावे —?

पर राजाओंके समुख क्षात्र-धर्म, प्रेम और कल्याणका प्रश्न नही है। उनका प्रधान लक्ष्य है, महामडलेश्वर रावणकी सहाय्यमें सबसे आगे दौड़कर अपना पराक्रम और प्रताप दिखाना।—और जब वे पहले आकर जमे है, तो क्यो वे पवनजयको, आगे दौड़कर युद्धके नेतृत्वका श्रेय लेने देंगे।—एक-स्वरमें सारा राज-मडल मुकर गया—'नही, यह नही हो सकता, यह हर्गिज नही हो सकता, यह अनधिकार चेष्टा है, यह समस्त राज-चक्रकी अवमानना है, इसमें स्वामी-द्रोह और दुरभि-सधिकी गध आ रही है। यह सरासर अन्याय-विचार है—लौट जाओ, अपने स्थानपर लौट जाओ—पीछेसे आये हो तो पीछे आकर जुड़ जाओ। सामुद्रिक मोर्चोपर अभी पर्याप्त सैन्य उपस्थित है।—और वहासे भाग आये भी तो जो आगे है वे पहले जाएगे। .' आदि आदि। देखते-देखते चारो ओर भृकुटिया तन गई। वातकी वातमे आक्रोश और उत्तेजन फुफकार उठा। पवनजयकी नम्र और धीर विनतियोंपर ताने और व्यग बरसने लगे।

पर पवनजय ज़रा विचलित न हुए। निर्विकार और निश्चल, ठीक इसी समुद्रके तटकी तरह गभीर होकर अपनी मर्यादा पर वे थमे रहे। दोनो हाथोसे शाति और समाधानका सकेत करते हुए, पवनजयने समस्त नरेंद्र मडलके प्रति माथा झुका दिया और अपने रथकी वल्गा मोड दी।—उनकी इस हारपर पीछे हो-होकारका तुमुल कोलाहल हुआ।—पर मन ही मन पवनजय खूब जानते है कि उन्होने जो मार्ग पकडा है उसपर गमन सहज नही है। हारो और बाधाओसे वह राह पटी हुई है। ये बाधायें तो बहुत तुच्छ है। उस राहपर तो पग-पगपर प्राण बिछाकर ही चलना होगा। उनका मन आज अपूर्व रूपसे शात और सतुलित है।

यथास्थान लौटनेपर पवनजयने सेनाओंको डेरे डालने और पूर्ण विश्राम लेनेकी आज्ञाये सुना दी। बातकी बातमें शिविर निर्माण हो गया। कुमार स्वय भी युद्ध-सज्जामे ही तल्पपर अधलेटे हो गये कि ज़रा पथकी श्राति मिटा ले। पर भीतर सकल्प अश्रात भावसे चल रहा है। उसमे अरुक गति है, विराम नही है।—आत्मस्थ होकर पवनजयने सुदूर शून्यमें लक्ष्य बाधा। उपरिचेतनमे आसीन हो जानेपर, तत्कालीन बहिर्जगत विस्मृत हो गया। ऊपर जैसे एक हलका-सा तद्राका आवरण पड गया। विदा-क्षणकी अजनाकी वह सानुरोध दृष्टि और फिर एक गभीर भारसे आनत वह कल्प-लता, अपने सपूर्ण मार्दवसे एकबारगी ही अतरमें झलक गई।—और अगले ही क्षण उसमेसे समुद्रकी प्रशात सतह सामने खुल पडी। थोडी देरमे पाया कि आप जलके उस अपार विस्तारपर दीर्घ डग भरते हुए चल रहे है। पैरो तले लहरें स्थिर हो गई है या चचल है, इसका पता नही चल रहा है। पर अस्खलित गतिसे वे उनपर बढते जा रहे है। अचानक सामने आकाशसे उतरता हुआ एक अपरूप सुदर युवा दीखा।—देखते-देखते उसके शरीरकी कातिसे तेजकी ज्वालाए निकलने लगी। युवा सरल कौतुकसे नाचता हुआ स्वर्ण-लकाके शिखरोपर छलागें भर रहा है। और निमिष मात्रमें उसके पैरोसे निकलती हुई शिखाओसे सोनेकी लका धू-धू सुलग उठी। अमित स्वर्णकी राशि गल-गलकर समुद्रकी लहरोमें तदाकार हो रही हैं। और ऊपर अपनी मुस्कानसे शीतल कातिकी किरणें बरसाता हुआ वह अपरूप सुदर युवा फिर आकाशमें अतर्लीन हो गया।

और अतमें फिर दिखाई पड़ा महाकाशके वक्षमें पडा वही स्निग्ध और प्रशात सागरका तल ।

आख खुलते ही पवनजयने पाया कि पायतानेकी ओर चौकीपर प्रहस्त बैठे हैं।—स्वर्गकी उपपाद शय्यापर जैसे अपने जन्मके समय देव जागकर उठ बैठते है, वैसे ही एक सर्वथा नवीन जन्ममे

जागनेकी अगडाई भरते हुए कुमार पवनजय उठ बैठे।—तुरत बोले—

"सखे प्रहस्त, महामडलेश्वर रावणसे जाकर अभी-अभी मिलना होगा।—पहले ही कह चुका हू, आवाहन धर्म और कल्याणका है। मैं विजय लेने नही आया, मै तो रहा-सहा स्वत्वका जो अभिमान है उसे ही हारने आया हू। अपने ही भीतर जो शत्रु चोर-सा घुसा बैठा है, उसे ही तो पकडकर बाध लाना है। कठिनसे कठिन कसौटीकी धारपर ही वह नग्न होकर सामने आयेगा। शस्त्र और सैन्य उसे जीतनेमें विफल होगे। उससे भीतरका वह दुर्जेय शत्रु टूटेगा नही, उसका बल उल्टे बढता ही जायगा। और विजय यदि पानी है तो अपने ही ऊपर, तब सैन्यको साथ ले जाकर क्या होगा?—सेनाओंको धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनेकी आज्ञा दे दो, जबतक हम लौटकर न आयें। अतरीपके सैन्य-शिविरोमे यदि कोई अशाति अथवा कोलाहल हो, शस्त्र भी उठ जायें, तब भी हमारे सैन्य निश्चेष्ट और शात रहे। उन्हें क्षुब्ध और चचल जरा नही होना है। आवेश और चुनौती कही नही झलकाना है। बाहरकी चिरौरी, छेड़-छाड अथवा कटुताकी अवज्ञाकर उसके समुख सर्वथा मौन रहना है।—जबतक हमारी नई आज्ञा न हो, यही हो सैन्यका अनुशासन!—उपसेनापतियोको आज्ञाए सुनाकर यानपर आओ, हम इसी क्षण उडकर लका चलेंगे—।"

××× लकामे पहुचकर पवनजयको पता लगा कि रावण स्वय वरुण-द्वीपकी समुद्र-मेखलामे जा उतरे है। द्वीपके प्रमुख द्वारकी वेदीपर वे स्वय वरुणके समुख जूझ रहे है। सहयोगी मित्र और माडलीक-के नाते लकापुरीके राज-परिकरमें पवनजयका यथेष्ट स्वागत-सम्मान हुआ। जिस प्रासादमें ठहराये गये थे, उसीके एक शिखरपर चढकर पवनजयने युद्ध-स्थितिका सिंहावलोकन किया। उन्होने देखा, वरुण-द्वीपके आस-पासके जल-प्रदेशमे बहुत दूर-दूरतक विद्याधरो और भूमि-

गोचरोके सैन्य विशाल जहाजी बेडे डालकर द्वीपपर निरंतर आक्रमण कर रहे हैं। विद्युत् और अग्नि-शस्त्रोकी विस्फोटक मारोसे जल और आकाश मलिन और क्षुब्ध हो गया है। या तो दानवोकी भैरव ललकारें सुन पडती है, या फिर कटते और मरते मानवोकी आर्त्त चीत्कारोसे दिग्-दिगंत त्रस्त हो रहा है। चारो ओरके समुद्रका जल मानवके रक्तसे गहरा लाल और काला हो गया है——।

पवनजयके वक्षमे एक तीव्र उद्वेलन और गहरी व्यथा-सी होने लगी। 'ओह, क्या यह भी हो सकता है मनुष्यका रूप ?——क्यो मनुष्य इतना अज्ञानी और विवश हो गया है कि ऐसी निर्दयता-पूर्वक दिन-रात अपनी ही आत्म-हत्या कर रहा है।——इस निरर्थक संहारका कहा अंत है, और क्या है इसका प्रयोजन ? इससे मिलनेवाली विजयका क्या मूल्य है ? कुछ सबलोकी महत्वाकाक्षाओ और मान-तृष्णाकी तृप्तिके लिये लक्ष-लक्ष अबलोका ऐसा निर्मम प्रपीडन और संघात क्यो ?——नही, वह नही होने देगा यह सब——इतनी असाध्य नही है यह विवशता।

राशिकृत धूम्रका यह पर्वताकार दानव कहासे जन्मा है ? क्या यही है मनुष्यके पुरुषार्थका श्रेष्ठ परिचय ?——आकाश और समुद्रकी सनातन शुचिताको नाश, विस्फोट, त्रास और मरणसे कलंकितकर, क्या मनुष्य उनपर अपना स्वामित्व घोषित किया चाहता है ? अपने ही स्वजन मनुष्यके रक्तसे अपने भालपर जयका टीका लगाकर, क्या वह अपना विजयोत्सव मना रहा है——? क्या यही है उसकी दिग्विजयका चूडात बिंदु ? क्या इसी बलको लेकर मनुष्य अखंड प्रकृतिपर अपना निर्बाध स्वामित्व स्थापित करनेका दावा कर रहा है ?——पर यह विजेताका वरण नही है, यह तो बलात्कारीका व्यभिचार है। तब निखिलका अमृत और सौंदर्य उसे नही मिलेगा, मिलेंगे केवल एक विकलांग शवके टुकडे !——उसी निर्जीव मासको हृदयसे चिपटाकर, मनुष्य अपने आपको धन्य मान रहा है .।

. मनुष्यके पुण्य-ऐश्वर्य, वल-शौर्य, विद्या-विज्ञान, उसके पुरु-षार्थ और उसकी सावनाका क्या यही है चरम रूप—? महस्रो वर्षोतक इसी रावणने कितनी ही तपस्याए की है, जाने कितनी विद्याओ, विभूतियो और सिद्धियोका वह स्वामी है। नियोगसे ही तीन खड पृथ्वीका वह अधीश्वर है। अपने नीति-शास्त्रके पाडित्यके लिये वह लोकमे प्रसिद्ध है। पर इस सारी महिमा और ऐश्वर्यके भीतर वही अहकारकी विद्रूप प्रेतिनी हँस रही है, जन्म-जन्मकी तृष्णाका रक्त उसके ओठोपर लगा है—और उसकी प्यासका अत नही है। अपनी उपलब्धियोके इस विराट परिच्छदके भीतर, इसका स्वामी कहा जानेवाला मनुष्य स्वय ही इसका वदी वन गया है—! कितना दीन-हीन, अवग और दयनीय है वह? जिन भौतिक शक्तियो और विभूतियोपर अपना प्रभुत्व स्थापित करनेका उसे गर्व है, वह नही जानता है कि वह स्वय उन जड़ शक्तियोका दास हो गया है।—अपने ही आत्म-नाशको वह अपना आत्म-प्रकाग समझनेकी भ्रातिमें पडा है ।

.. मनुष्यके पुरुषार्थ और उसकी लब्धियोकी ऐसी दु खात पराजय देखकर, पवनजयका समस्त हृदय हाय-हाय कर उठा। फिर एक मर्मातिक वेदनासे वे आकठ भर आये।—उन्हे लगा कि यह रावण-की और इन प्रमत्त नरेंद्रोकी ही पराजय नही है, यह तो उसकी अपनी पराजय है!—समस्त मानव-भाग्यका यह चरम अपराध है। उसे देखकर उस मानव-पुत्रकी आखोमें लज्जा, करुणा, ग्लानि और आत्म-सतापके आसू भर आये।

. .इस अपरावका उन्मूलन करना होगा।—उसके विना उसके मानवत्व और अस्तित्वका त्राण नही है। उसे प्रतीति हो रही है कि उसके जीवनका आयतन जो यह लोक है, उसके मूला-धार हिल उठे है। इस महासत्ताको धारण करनेवाले ध्रुव धर्मके केंद्रसे, लोक च्युत हो गया है।—हमारी धात्री पृथ्वी और हमारा

रक्षक आकाश किस क्षण हमारे भक्षक बनकर हमें लील जायेंगे, इसका कुछ भी निश्चय नही है।—कौनसी शक्ति लेकर इस महामृत्युके समक्ष वह खड़ा हो सकेगा ?

क्या मानवके उसी पुरुषार्थ, शौर्य-वीर्य, विद्या-बुद्धि और बलके सहारे वह इस मौतका प्रतिकार कर सकेगा जिससे प्रमत्त होकर मनुष्यने स्वय इस मौतको आमंत्रित किया है—? नही, उस जड़ शक्तिसे टकराकर तो यह पुंजीभूत जड़त्व और भी चौगुना होकर उभरेगा। उन सारी शक्तियोंसे उत्तीर्ण होकर ही आगे बढ़ना होगा।—नितांत बलहारा, सर्वहारा और अकिंचन होकर ही शक्तिके उस विपुल आयोजनके समक्ष, अच्युत और अनिरुद्ध खड़े रहना होगा।—जीवनके अमरत्वमे श्रद्धा रखकर, चैतन्यकी नग्न और मुक्त धाराको ही उसके समक्ष बिछा देना होगा, कि मौत भी चाहे तो उसमे होकर निकल जाये, उसे रोक नही है।—तब वे शक्तिया और वह मौत अपने आप ही उसमें विसर्जित हो जायेंगे, उसे पार करके जानेमें उसकी सार्थकता ही क्या है ?—मौतके समक्ष हमारा चैतन्य कुंठित हो जाता है, इसीसे तो मौत हमारा घात कर पाती है। पर चैतन्य यदि अव्याबाध रूपसे खुला है, तो उसमें आकर मौत आप ही मर जायेगी।—पवनंजयको लग रहा है कि अन्यथा जीवनको अवस्थान और कही नही है। वह अस्तित्वके उस चरम सीमातपर खड़ा है, जहा एक ओर मरण है और दूसरी ओर जीवन। दोनोके बीच उसे चुन लेना है। तीसरी राह उसके लिये खुली नही है—। यदि वह सचमुच जीना चाहता है तो मौतसे बचकर या उससे भय-भीत होकर जीना सभव नही है। तब जीवनको यदि चुनना है तो मौतके समक्ष उसे खुला छोड़ देना होगा, मौत आप ही मिट जायेगी।—जीवनकी रक्षाके लिये यदि उस मौतसे लड़ने और अवरोध देने जाओगे, तो आप ही उसके ग्रास हो जाओगे। इसलिये जीवन यदि पाना है तो, उसे दे देना होगा।

एक मात्र इसी मूल्यसे उससे पाया जा सकेगा।—और पवनजय जीना चाहता है—!

. . .उसके भीतरकी सारी वेदनाके स्तरोमेसे, सत्यका यही एक सुर सबसे ऊपर होकर बोल रहा है। उसके समूचे प्राणमें इस क्षण एक अनिर्वार व्यथा है, कि यह बाहरका विश्व क्यो उससे विच्छिन्न होकर, उसका पराया हो गया है? उसके साथ फिर निरवच्छिन्न होकर उसे जुड जाना है।—उस बाहरके विश्वमें यह जो नाशका चक्र चल रहा है, इसमें अपने ही आत्म-घातकी वेदना उसे अनुभव हो रही है। इसीसे अपनी समस्त चेतनाको बाहर फेंककर, उसके पूरे जोरसे वह उस बहिर्गत विश्वको अपने भीतर समेट लाना चाहता है, कि वह उसकी रक्षा कर सके। और इस सवेदन के भीतर छिपा है उसकी अपनी ही आत्म-रक्षाका अनुरोध! तब बाहरके प्रति अपनेको देनेमे किसी कर्तव्यका अनुरोध नही है, वह तो अपनी ही आत्म-वेदनासे निस्तार पाना है।

मन ही मन अपना भावी कार्यक्रम गूथकर, रात हीको पवनजयने रावणके गृह-सचिवसे अनुरोध किया कि सवेरे वे स्वय जाकर महा-मडलेश्वरसे मिला चाहते है। उन्होने बताया कि उनका प्रयोजन बहुत गभीर और गोपनीय है। स्वप्नमें प्रकट होकर उनकी कुल-देवीने उन्हे एक गोपन-अस्त्र दिया है, वही हाथो-हाथ वे रावणको अर्पित किया चाहते है, उस आयुधमे यह शक्ति है कि बिना किसी सहारके क्षण मात्रमें वह शत्रुको निर्मूल कर देता है। गृह-मत्री जानते थे कि वरुण-द्वीपके दुर्गकी प्रकृत चट्टानी दीवारोपर विद्याधरोकी सारी विद्याए और शस्त्रास्त्र विफल सिद्ध हुए है। तब अवश्य ही कोई असाधारण योगायोग है कि आदित्यपुरका राज-पुत्र एकाएक यह गोपन-अस्त्र लेकर आ पहुचा है। मत्रीके आश्चर्य और हर्षका पार नही था। तुरत उन्होने पोत-प्रधानको बुलाकर आज्ञा दी कि अगले दिन तडके ही, महाराजके अपने निजी बेडेकी एक जल-वाहिनी, परिकरके कुछ खास व्यक्तियोको

लेकर चक्रीके 'सीमधर' नामा महा-पोतपर जायेंगे। उन नाविकोंको पोतके ठीक उस द्वारपर उतारा जाये, जहांसे वे सीधे नरेन्द्रके पास पहुच सकें। यथा-समय समुद्र-तोरणपर गान प्रस्तुत करना चाहिये— आदि।

× × × समुद्रके क्षितिजपर बाल-सूर्यका उदय हो रहा है।— रावणके कुछ विश्वस्त गुप्तचरोंके संरक्षणमें पवनजय और प्रहस्तको लेकर जल-वाहिनी सीमधर-पोतके निज-द्वारपर आ पहुची। चरोंके नियत संकेतपर पोतके निश्छिद्र तलमें एकाएक एक द्वार खुल पडा। आगतुकोंको भीतर लेकर फिर द्वार वैसा ही बेमालूम बद हो गया। आगे-आगे गुप्त-चर अपनी आतककी गरिमामें अभिभूत होकर बेरोक चल रहे थे और पीछे-पीछे पवनजय प्रहस्तके कंधेपर हाथ रखकर उनका अनुसरण कर रहे थे। रास्तेमें ही पवनजयने चरोंको बता दिया था कि महाराजके समक्ष जानेके पहले, वे पोतकी आयुध-शालामें जाकर युद्ध-सज्जा धारण करेंगे, अतएव पहले उन्हे वे आयुधागारमें ही पहुचा दें। उक्त निश्चयके अनुसार पवनजय और प्रहस्तको आयुधागारमें पहुचाकर, वे चर युद्ध-स्थिति देखनेकी उत्सुकतासे पोतकी खुली अटारीमें चले गये। चरोंके आदेशानुसार पवनजयको आयुधागारमें प्रवेश करा देनेके बाद, प्रहरी उस ओरसे निश्चिन्त हो गया था।

× × × सूर्य अपनी सपूर्ण किरणोंसे उद्भासित होकर मगलके पूर्ण-कलश-सा उदय हो गया। चक्रीके 'सीमधर' महा-पोतकी खुली अटाके छोरपर खडे हो, उदीयमान सूर्यकी ओर उद्ग्रीव होकर, पवनजयने तीन बार समुद्रकी लहरोंपर शातिका शख-नाद किया। अश्रात चल रहे निबिड युद्धमें धीरे-धीरे एक सन्नाटा-सा व्याप गया। रणके उन्मादमें बेभान जूझ रहे सैनिकोंके हाथमें शस्त्र स्तभित होकर तने रह गये—। रावणको किसी गभीर दुरभिसधिकी आशका हुई। चक्रीके धनुपपर चढा हुआ वज्र-बाण, प्रत्यचासे छूटकर उगलियोंमें ढलक पडा।

क्रोधसे उनकी भृकुटिया तन गईं। आग्नेय दृष्टिसे मुडकर पीछे देखा—मानो भृकुटिसे ही ललकारा हो कि—कौन है इस पृथ्वीपर जो त्रिखडाधिपति रावणका अनुशासन भग करनेकी स्पर्धा कर सकता है—? मै उसे देखा चाहता हू .। ठीक उसी क्षण हँसते हुए पवनजय सम्मुख आ उपस्थित हुए।

"आदित्यपुरका युवराज पवनजय महामडलेश्वरको सादर अभिवादन करता है।"

कहकर पवनजय सहज विनयसे नत हो गये। भृकुटियोके वल उतरनेके पहले ही, रावणके वे कई दिनोके मुद्रित ओठ आज वरवस मुस्करा आये। कुमारके माथेपर हाथ रखकर उन्होने आशीर्वाद दिया और कुशल पूछी। फिर चकित-विस्मित वे उस दु साहसिक राज-पुत्रके तेजो-दीप्त चेहरेको देखते रह गये, जिसकी समोहिनी भौंहोंके वीच अवहेलित अलकोकी एक घुघराली लट स्वाभाविक-सी पडी थी। रावण कुछ इतने मुग्ध और वेसुध हो रहे कि क्षण भरको अपने प्रचड प्रताप और महिमाका भान उन्हें भूल गया। प्रश्न अतर्मनमें निस्तब्ध होकर खो गया—कि कैसे उस उद्दड युवाने विना पूर्व-सूचनाके ठीक महामडलेश्वरके सम्मुख आनेका दु साहस किया है? चक्रीके उस प्रखर आतकशाली मुखको यो दिग्मूढ-सा पाकर पवनजय मुस्करा आये। सहज ही समाधान करते हुए मृदु मद स्वरमे वोले—

"महामडलेश्वर! औद्धत्य क्षमा हो।—आपके मनकी चिंताको समझ रहा हू। पर निश्चित रहें—अनायास अभी शातिका शख-सधान करनेकी धृष्टता मुझीसे हुई है। यदि शासन-भग का अपराध मुझसे हुआ हो तो उचित दड दे—यह माथा समुख है। पर इस क्षण वह अनिवार्य जान पडा, इसीसे आपदकालमें वह नियमोल्लघन मुझसे हुआ हे। कृपया, मेरा निवेदन सुन लें, फिर जो इष्ट दीखे वही निर्णय दें। तीन खड पृथ्वीके राज-राजेश्वर रावण, अपने अधीन इतने

विशाल राज-चक्रके रहते, इस छोटेसे भूखडपर अधिकार करनेके लिये स्वय शस्त्र उठाये और दिन-रात युद्ध-रत रहें, यह मुझे असह्य और अशोभन प्रतीत हुआ। समुद्र-पर्यंत पृथ्वीपर जिसकी नीतिमत्ताकी कीर्ति गूज रही है, जिसकी तपश्चर्यासे ब्रह्मर्षियोके मस्तक डोल उठे और इद्रोके आसन हिल उठे, उस रावणकी महानता और गौरवके योग्य वात यह नही है। . .यदि आप-से वीरेंद्र और ज्ञानी ऐसा करेंगे, तो लोकमे ब्रह्म-तेज और क्षात्र-तेजकी मर्यादा लुप्त हो जायगी। राजा तो अवल और अनाथ-का रक्षक होता है, और आप तो रक्षकोके भी चूडामणि है। लकापुरीके वालक-सा यह वरुण-द्वीप आपके प्रहारकी नही प्यारकी चीज़ होनी थी। जिस चक्रीके एक शखनाद और तीरपर दिशाओके स्वामी उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लेते हैं, वह एक छोटेसे राजवी और उसकी छोटी-सी धरतीको जीतनेके लिये अपना सारा वल लगा दे, यह व्यग क्यो जन्मा है ? सहस्रो नरेंद्र जिसके तेज और प्रतापको सहज ही सिर झुकाते है, ऐसे विजेताका शस्त्र हो सकती है, केवल क्षमा। क्षमा न कर इस छोटे-से राजाको इतने सैन्यके साथ आक्रात किया गया है तव लगता है कि दुर्दात विजय-लालसा पराकाष्ठापर पहुचकर, स्वय एक वहुत वडी और विपम पराजय वन गई है। अपनी वही सवसे वडी और अतिम हार, आखोके सामने खडी होकर, दिन-रात आपकी आत्माको त्रस्त किये है। आप-से विजेताकी इतनी वडी हारने मेरे मनको वहुत सतप्त कर दिया है। इसीसे एक लोक-पुत्रके नाते, सीधे लोक-पिताके पास अपनी पुकार लेकर चला आया हू। निवेदनके शेपमें इतना ही कहना चाहता हू, कि मेरी माने तो राजा वरुणको अभय दे, आप स्वय होकर उसे रक्षाका वचन दे, उसके वीरत्वका अभिनदन करें और लकापुरी लौट जाये। यही आप-से वीर-शिरोमणिके योग्य वात है। लोक-पिताके उस वात्सल्यके समुख, वरुण आप ही झुक जायगा, इसमें तनिक भी सदेह नही है। युद्धका ही अग होकर शायद मैं इस भीपण युद्धको न थाम पाता, इसीसे अपने स्वायत्त

धर्म-शासनको सर्वोपरि मानकर मैंने यह शांतिकी पुकार उठाई है। आशा करता हू, महामडलेश्वर मेरे मतव्यको समझ रहे हैं।

देव और दानव जिस महत्ताके अधीन सिर झुकाये खडे है, पृथ्वीका वही मूर्तिमान अहंकार खड-खड होकर पवनजयके पैरोमें आ गिरा। मूक और स्तब्ध रावण सिरसे पैरतक उस अद्‌भुत युवाको देखते रह गये । यह कैसी अतर्भेदी चोट है, कि प्रहारकके प्रति हृदय प्यारसे उमड आया है। पर प्यार प्रकट करनेका साहस नही हो रहा है, और क्रोध इस क्षण असंभव हो गया है। कैसे इस विडवनासे निस्तार हो, रावण वडे सोचमे पड गये। इस स्थितिके समुख खडे रहना उन्हें दूभर हो गया। कौशल-पूर्वक टाल देनेके सिवा और कोई रास्ता नही सूझा। किसी तरह अपनेको सम्हाला। गौरवकी एक घायल और कृत्रिम हँसी हँसते हुए रावण वोले—

"हूँ. वाचाल युवा! जान पडता है साथी सखाओमें खेलना छोड़कर अर्ध-चक्री रावणको उपदेश देने चले आये हो! इस वालक-से सलौने मुखडेसे ज्ञान और विवेककी ये गुरु-गभीर वाते सुनकर सचमुच बडी हँसी आ रही है। तुम्हारी यह नादानी मेरे निकट क्रोधकी नही प्यारकी वस्तु है। पर तुम्हारा यह दु साहस खतरेसे खाली नही है।—उद्दड युवा, सावधान! आदित्यपुरके युवराजको मैंने धर्म और राजनीतिकी शिक्षा लेने नही बुलाया, उसे इस युद्धमें लडनेको न्योता गया है। विजय और वीरत्वकी ये लवी-चौडी भावुक व्याख्याए छोटे मुह वडी वातकी जल्पना मात्र है।—पहली ही वार शायद युद्ध देखा है, इसीसे भयभीत होकर वौखला गये हो, क्यो न? महासेनापति, इस युवाको वदी करो। जो भी इसका अपराध क्षमा करने योग्य नही, फिर भी इसके अज्ञानपर दयाकर और अपने ही राज-परिकरका वालक समझकर मै इसे क्षमा करता हू। मेरे निज महलके शिखर-कक्षमें इसे वंदी वनाकर रक्खा जाये और युद्धकी शिक्षा दी जाये।—ध्यान रहे यह कौतुकी युवा

यदि निर्बंध रक्खा गया, तो निकट आई हुई विजय हाथसे निकल जायगी ।---वरुण-द्वीपके टूटनेमें अब देर नही है । उसके पिछले द्वारमें सेंध लगाकर उसे तोडा जा रहा है । "

आखे नीची किये पवनजय चुप-चाप सुन रहे थे । बडी कठिनाईसे अपनी हँसीपर वे सयम कर रहे थे । चलती वेर दृष्टि उठाकर, आखोमे ही मर्मकी एक हँसी हँसकर पवनजयने रावणकी ओर देखा और सहज मुस्करा दिया । प्रत्युत्तरमें रावण भी अपनी हँसी न रोक सके । महा-सेनापतिके इगितपर जब कुमार चलनेको उद्यत हुए, तो पाया कि चारो ओर वे चारं नग्न खड्गोवाले सैनिकोसे घिरे है । जरा आगे बढनेपर प्रहस्त भी उनके अनुगामी हुए ।

योगवशात् रावणके जिस महलके शिखर-कक्षमे पवनजय और प्रहस्त वदी बनाकर रक्खे गये थे, वहीके एक गुबदकी ओट पवनजय अपना यान छोड आये थे । आतकके उस वदी-गृहके प्रहरी भी, दिन-रात आत-कित रहकर मृतवत हो गये थे । जीवनमे पहली ही वार पवनजयका वह लीला-रमण स्वरूप देखकर, वे बर्बर प्रहरी उस आतकमे मुक्ति पा गये । मुग्ध और विभोर आखोसे वे एक-टक पवनजयकी निराली चेष्टाए देखते रह गये । रावणका भयानक प्रभुत्व एक-बारगी ही वे भूल गये । यत्रकी तरह जड और कठोर हो गये वे मानवके पुत्र, फिर एक बार सहज मनुष्य होकर जी उठे । उन्हें पास बुलाकर पवनजयने उनका परिचय प्राप्त किया, अपना परिचय दिया और सहज ही अपने भ्रमणके अद्भुत और रजनकारी वृत्तात सुनाने लगे । आनद और कौतूहलमें अवश होकर प्रहरी वह चले । आठो पहर उनके हाथमें अडिग तने रहनेवाले वे नग्न खड्ग एक ओर उपेक्षितसे पडे रह गये । वातो ही वातोमें कब शाम हो गई और कब दिन डूबकर रात पड गई, सो प्रहरियोको भान नही है । एकके वाद एक ऐसे रसभरे आख्यान कुमार सुना रहे है, कि आस-पासके वे निरीह प्राणी उस रस-धाराकी लहरें बनकर उठ रहे है और मिट रहे

हैं। कुमारसे वाहर उनका अपना कर्तृत्व या अस्तित्व शेष नही रह गया है .

. कहानिया सुनते-सुनते जाने कव वे सव प्रहरी अवोध वालकोसे सो गये---। इसी वीच प्रहस्तकी भी आख लग गई। अकेले पवनजय जाग रहे है। आखे मूदकर कुमार एक तल्पपर लेट गये। सकल्प पूर्ण वेगसे सजग होकर अपना काम करने लगा।---रावणके आदेशमें अपने प्रयोजनकी एक वात उन्होने पकड ली थी द्वीपके पिछले द्वारमे सेंध लगाकर उसे तोड़ा जा रहा है। यदि द्वार टूट गया, तो इसके वाद द्वीपपर नाशका जो नृत्य होगा, हिंसाका वह दृश्य वडा ही रौद्र और लोम-हर्षी होगा। जितना ही रक्त रावणको अवतक इस युद्धमें वहाना पडा है, उसका चौगुना रक्त वहाकर वह इसका प्रतिशोध लेगा। रावणसे वातकर उन्हें यह निश्चय हो गया था कि त्रिखड पृथ्वीका अधीश्वर अपना ही अधीश्वर नही है। वह तो अपने ही से हारा हुआ है। उसे हरानेकी समस्या उनके सामने नही है। हराना है उस जडत्वकी शक्तिको जिसके वशीभूत होकर, रावण-सा महा-मानव इतना दयनीय और दुर्वल हो गया है। वह तो स्वयं त्राण और रक्षाका पात्र हो गया है, उसे हरानेकी क्या कल्पना हो सकती है। वरुण जो भी सत्य और आत्म-स्वातंत्र्यके लिये लड़ रहा है, पर वह भी उसी जड-शक्तिका सहारा लेकर समुख आई दूसरी जड-शक्तिका प्रतिकार कर रहा है, जिसने रावणको रावण वनाया है। यह प्रतिकार निष्फल होगा और इसमें वरुण और उसका वरुण-द्वीप भले ही मिट जाये, पर शत्रुका उच्छेद नहीं हो सकेगा---। यह सव होते हुए भी वरुण निर्दोष है, उसीकी ओरसे सत्यकी पुकार सुनाई पड रही है। विना एक क्षणकी देर किये पवनजयको वहा चले जाना है, नहीं तो सवेरे वहुत देर हो जायगी।---एक ही रास्ता उसके लिये खुला है जहा सपूर्ण पशु-वल केंद्रीभूत होकर द्वीपका पिछला द्वार तोडनेमे लगा है---उसके समुख जाकर उसे खडे हो जाना है, अकाम और अनवरुद्ध,

कि उस शक्तिको अवसर है कि उसमें होकर अपना रास्ता बना ले। वक्षमें अक्प जल रही उस लौके सिवा और बाहरके किसी भी बलपर उसका विश्वास नही रहा है। उसके अतिरिक्त औरोसे वह अपनेको बहुत ही निर्बल, अवश और नि शस्त्र अनुभव कर रहा है। उस अनिवार आत्म-वेदनाके सिवा उसके पास और कुछ नही है।

... रात आधीसे अधिक चली गई है। पवनजयने बाहर आकर देखा, आक्रमण अविश्रात चल रहा है। समुद्रकी लहरोमे प्रलयकरका डमरू भयकर घोष करता हुआ बज रहा है। उत्तरोत्तर बढती हुई चीत्कारो और हुकारोके बीच, विध्वसका देवता, सहस्रो ज्वालाओके भग तोडकर ताडव-नृत्य कर रहा है। ब्रह्माड कँपा देनेवाले विस्फोटो और आघातोसे दिगत बहरा हो गया है।

भीतर आकर पवनजयने प्रहस्तको जगाया और सक्षेपमे अपना मन्तव्य उन्हें जता दिया।—प्रहस्त सुनकर सन्नाटेमे आ गये—। बिना एक शब्द बोले वे पवनजयके उस चेहरेको ताकते रह गये।

"दीर्घ विचार और दूर-दर्शिताका यह अवसर नही है, प्रहस्त, तुम और मैं इस क्षण अन्यथा सोचनेको स्वाधीन नही है। हमसे परे कोई शक्ति है जो इस मुहूर्तमें हमारे भीतर काम कर रही है, उसीकी पुकारपर चल पडना है। उसे इनकार कर सकना हमारे बसका नही है। रुकना इस क्षण मौत है, जीना है कि चल पडना होगा। यह मुहूर्त महान् है, प्रहस्त, इसके हाथो अपनेको सौंपकर हम निश्चित हो जाये, प्रभु स्वय इसके रक्षक है।—तैयार होकर यानपर आओ, जरा भी देर हो गई तो अनर्थ हो जायगा। "

× × × बहुत ऊचेपर ले जाकर पवनजयने यानको एक सम गति पर छोड दिया। वरुण-द्वीपके चारो ओर एक लबा चक्कर देकर ऊपरसे रण-लीलाका विहगावलोकन किया। तदनतर बहुत ही सावधानीसे कुमारने यानको वरुण-द्वीपमे ला उतारा। यान तीव्रगामी था। नीचे

जलती हुई सहस्रो मशालो और कोलाहलोके बीच टूटकर आई हुई उल्काकी रेखा-सा यान उतरा। कोलाहल और भी भयकर हो उठा। हिंसाके मदमे पागल मानवोकी बेतहाशा भीड चारो ओरसे आ टूटी। पवनजय यानमे उतरकर हँसते हुए बाहर आये। चारो ओर घिर आई मेदनीके हाथ जोडकर बार-बार उनके प्रति माथा झुकाते हुए प्रणाम किया। नि शस्त्र और अरक्षित शरीरपर केवल एक-एक केशरिया उत्तरीय ओढे देव-कुमारोसे इन सुदर और तेजोमान युवाओको देख जनता स्तब्ध रह गई। चारो ओर एक सन्नाटा-सा व्याप गया। पवनजयने सार्वजनिक रूपमे मैत्री और अभयकी घोषणा की। कहा कि वे उसी मानव-मेदनीके एक अश है, विदेशी होकर भी वे उन्हीके एक अभिन्न बाधव और आत्मीय है। उनकी सेवामे अपनेको देकर कृतार्थ होने वे आये है—और उनका सब कुछ उनके प्रेमके अधीन है।—अतमे उन्होने अनुरोध किया कि तुरत उन्हे राजा वरुणके पास पहुचाया जाये . ।

राजा वरुण द्वीपके समुद्र-तोरणपर स्वय रावणके समुख युद्धमे सलग्न थे। जब उनके पास सवाद पहुचा कि अभी-अभी अचानक दो विदेशी युवा, यानसे द्वीपमे उतरे है, सुदर, शात और नि शस्त्र है और उनकी सेवा किया चाहते है, तो सुनकर राजा बहुत अचरजमे पड गये। अवश्य ही या तो कोई महान सुयोग है, अथवा असाधारण दुर्योग—! जो भी हो, शत्रु भी यदि अतिथि बनकर घर आया है, तो वह समान और प्रेमका ही पात्र है।—अपने मत्रणा-कक्षमे आकर राजा अतिथिकी प्रतीक्षा करने लगे ।

कि इतने हीमे कई मशालची सैनिकोसे घिरे पवनजय और प्रहस्त सामने आते दीख पडे। राजाको पहचानकर कुमार सहज विनयसे नत हो गये। उन्हे देखकर ही वरुण एक अप्रत्याशित आत्मीय-भावसे गद्-गद् हो गये। बिना किसी हिचकके मौन ही मौन राजाने दोनो अतिथियोको गले लगा लिया। सैनिकोको जानेका इगित कर दिया—।

परस्पर कुशल-वार्तालाप हो जानेपर सहज ही पवनजयने मैत्री और धर्म-वात्सल्यका आश्वासन दिया। राजाने भी पवनजयके दोनो जुडे हाथोपर अपना सिर रख दिया—और उनके वधुत्वको ससमान अगीकार किया। इसके वाद कुमारने वरुणके वीरत्वका अभिनदन किया, अपना वास्तविक परिचय दिया और कहा कि जिस सत्यके लिये वरुण इस धर्म-युद्धमें अपने सर्वस्वकी आहुति दे रहे हैं, आदित्यपुरका युवराज उसी धर्म-युद्धका एक छोटा-सा सैनिक वनकर अपने मानवत्वको सार्थक करने आया है। क्या राजा वरुण उसकी सेवा स्वीकार करेंगे ? वरुणके ओठ खुले रह गये, वोल नही फूट पाया। अननुभूत आनदके आसू उस वीरकी आखोके किनारे चूम रहे थे। कुमारको गाढ स्नेहके आलिंगनमें भरकर राजाने मूक-मूक अपनी कृतज्ञता प्रकट कर दी।

पवनजयने तुरत प्रयोजनकी वात पकडी।—उन्होने वताया कि द्वीपके पिछले द्वारमे जलके भीतरसे सेंध लग चुकी है। सवेरेतक द्वार टूट जानेका निश्चित अदेशा है।—उसी द्वारकी तट-वेदीके गर्भ-कक्षमें पवनजय उतर जाना चाहते हैं।—वही होगा उनका मोर्चा। अकेले ही वहा उन्हे लडना है। दूसरा कोई जन उनके साथ वहा नही होगा, अभिन्न सखा प्रहस्त भी नही। उनका प्रतिकार क्या होगा, वे स्वय नही जानते, सो उस सवधमें वे कुछ कह भी नही सकते। निश्चय हुआ कि उस कक्षमें अनिश्चित कालके लिये वे वद रहेंगे। आवश्यकताकी चीजें एक खिडकीसे पहुचा दी जायेगी।

योजनामें राजाकी सहमति या अनुमतिकी प्रतीक्षा किये विना ही, कुमारने अनुरोध किया कि तुरत उन्हें अपने निर्दिष्ट मोर्चेपर पहुचा दिया जाय। जरा भी देर होनेमें अवसर हाथसे निकल जायगा।—इस रहस्यमय युवककी यह लीला राजाको अपनी वुद्धिसे परे जान पडी। उसके समुख कोई वितर्क नही सूझता है, अनायास एक विश्वास और

श्रद्धा हीसे वे ओत-प्रोत हो उठे हैं। मात्र इसका अनुसरण करनेको वे वाध्य हैं, और कोई विकल्प मनमे नही है—।

राजाने तुरत अपने एक अत्यत विश्वस्त चरको बुलाकर पवनजयको यथा-स्थान पहुचानेकी पूरी हिदायतें दे दी। चलती वेर कुमारने प्रहस्तको विना बोले ही भुजाओमे भरकर भेंट लिया। फिर प्रहस्तकी ओर इगितकर, याचनाकी एक मूक दृष्टि उठाकर राजाकी ओर देखा, मानो कहा हो कि—'यह मेरा अभिन्न तुम्हारे सरक्षणमे है, मै तो जा रहा हू—जाने कब लौट आनेके लिये ।"

आगे-आगे चर और पीछे-पीछे पवनजय चल दिये, मुडकर उन्होने नही देखा।—प्रहस्त आसूका घूट उतारकर पवनजयकी वह पीठ देखते रह गये।

. .वेदीका वज्र-कपाट खोलकर पवनजय देहलीपर अटक गये।—चरने आगे वढकर निश्चिह्न भूमिमे गर्भ-कक्षकी शिला सरका दी। चरके हाथसे रत्न-दीप लेकर पवनजय गर्भ-कक्षमें उतर पडे। भीतर करोडो वर्षोका पुरातन ध्वात घटा-टोप छाया है। चट्टानोमें कटे हुए सैकडो खभो और छतोमे जल-पछियोके अनगिनती घोसले लटके हुए हैं। चारो ओर असख्य अविज्ञानित जीव-जतुओकी भयानक सृष्टि फैली है। समुद्रजलकी विचित्र गधसे भरे वातावरणमे, उन जतुओके श्वासकी ऊष्मा घुल रही है। जल-चरोकी नाना भयावह ध्वनियोके सगीतसे वह तिमिर-लोक गुजित है।—सामनेकी उस भीमकाय दीवारके ऊपरकी एक पार-दर्शी शिलामेंसे, समुद्र-तलका पीला उजाला झाक रहा है।—ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, चारो ओर समुद्रका अविराम गर्जन और सघात चल रहा है।—गर्भ-कक्षके प्रकृत पाषाण-वातायनपर खडे होकर पवनजयने देखा—नीचे नाशकी अत-लात खाई फैली पडी है; उसके भीतर घुसकर समुद्र दिन रात पछाडे खा रहा है।

. कुमारने चित्त और श्वासका निरोध कर लिया।—मानो तत्वोपर शासन करनेवाले जिनेंद्रका स्मरणकर, कर-बद्ध हो मस्तक झुका दिया। फिर अंजुलि उठाकर, उनके समुख सकल्प किया—

"हे परमेष्ठिन्! हे निखिल लोकालोकके आयतन! तू साक्षी है, मत्रका बल मेरे पास नही है, तत्रका बल भी नही है, सारी विद्याए भूल गई है, शस्त्र भी मेरे पास नही है, अस्त्र भी नही है, सारी शक्तिया हार गया हू, सारे बलोका अभिमान टूट गया है, केवल सत्य है मुझ निर्बलका बल।—यदि मेरा सत्य उतना ही सत्य है, जितना तू सत्य है और यह समुद्र सत्य है, तो इस महा-समुद्रकी लहरे मेरे उस सत्यकी रक्षा करे, और नही तो इस प्रकाड जल-राशिके गर्भमे ये प्राण-विसर्जित हो जाए।"

कहकर पवनजयने निखिल सत्ताके प्रति अपने आपको उत्सर्ग कर दिया।

××× सवेरा होते न होते एक प्रबल वात्याचक्र द्वीपके आस-पास मडराने लगा। देखते-देखते समुद्रमे ऐसा प्रलयकर तूफान आया जैसा द्वीपके लोगोने न पहले कभी देखा था और न सुना ही था। अपनी दिग्विजयके समय, प्रबलसे प्रबल तूफानोके बीच रावणने समुद्रोपर आरोहण किया है, और उनकी जगतीपर अपनी प्रभुता स्थापित की है—पर आजका तूफान तो कल्पनातीत है। आत्मामे होकर वह आर-पार हो रहा है, अनुभवसे वह अतीत हो गया है। सपूर्ण ब्रह्माड मानो एक जलतत्वमे निर्वाण पा गया है। सत्तामात्र इस जलाप्लावनकी लहर भर रह गई है।

विप्लवी और तुग लहरोने उठ-उठकर चारो ओरसे द्वीपको ढाक लिया। आस-पास पडे आक्रमणकारियोके विशाल बेडे, बिना लगर उठाये ही, तितर-बितर होकर, समुद्रके दूर-दूरके प्रदेशोमे, लहरोकी मर्जीपर फेंक दिये गये। मनुष्यके सपूर्ण बल और कर्तृत्वका बधन तोडकर, तत्व अपनी स्वतत्र लीलामें लीन हो गया।

.और सूर्योदय होते न होते तूफान शात हो गया । आक्रमण-कारियोका एक भी पोत नही डूबा । पर बिखरे हुए जहाज़ी बेडोने पाया कि लगर उनके उठाये नही उठ रहे है । अपने स्थानसे वे टससे मस नही हो पाते । धूपमे चमकते हुए चादीसे समुद्रकी शात सतहपर, शिशु-सा अभय वरुण-द्वीप मुस्करा रहा है .।

. दिनपर दिन बीतते चले । अपने सारे प्रयत्न और सारी शक्तिया लगा देनेपर भी रावणने पाया कि पोत नही डिग रहे है । तब उसे निश्चय हो गया कि अवश्य ही कोई देव-विक्रिया है, केवल अपने पुरुषार्थ और विद्याओंसे यह साध्य नही । विवश हो चक्रीने अपने देवा-धिष्ठित रत्नोका आश्रय लिया । एक-एककर अपने सारे रत्नो और विद्याओंकी सयुक्त शक्ति रावणने लगा दी, नाशके जो अचूक अस्त्र अतिम आक्रमणके लिये बचाकर रक्खे गये थे, वे भी सब फेंककर चुका लिये गये—। पर न तो द्वीप ही नष्ट होता है न रावण अपनी जगहसे हिल पाते है । ध्वज और दीपोंके साकेतिक सदेशे भेजकर, अतरीपके स्कधावारसे राजन्योको नये बेडे लेकर बुलाया गया, पर भयभीत होकर उन्होंने आनेसे इनकार कर दिया ।—इसी प्रकार लकापुरीसे रसद और सहायक बेडोकी माग की गई, पर वहासे कोई उत्तर नही आया । दिन, सप्ताह, महीने बीत गये—। समुद्रके देवताओने सपनेमें आकर रावणसे कहा कि—'इस शक्तिका प्रतिकार हमारे बसका नही है ।'

....चार महीनो बाद पवनजय एक दिन सवेरे अनायास वेदीके वातायनपर आ खडे हुए । चारो ओर निगडित और पराजित बेडोमें सहस्रो मानवोको अपनी कृपाके अधीन प्राणकी याचना करते देखा—। पवनजयका चित्त करुणा और वात्सल्यसे आर्द्र हो गया । मन ही मन बोले—

"घातका सकल्प मेरा नही था, देव ! नाश मेरा लक्ष्य नही, निखिलके कल्याण और रक्षाके लिये है मेरा यज्ञ । प्राणियोको इस तरह त्रास और

मरण देकर क्या शत्रुत्वका उच्छेद हो सकेगा ? द्वीपकी रक्षा इसी राह होनी थी, वह हो गई। बलात्कारीको अपने बलकी विफलताका अनुभव हो गया। पर क्या वही पर्याप्त है ? रावणका अभिमान इसमे अवश्य खडित हुआ है, पर क्या इस पराजयमें उसका हृदय घायल ही नहीं हुआ है ? क्या वैर और विरोधका यह आघात भीतर दबकर, फिर किसी दिन एक भयानक मारक विषका विस्फोट नहीं करेगा ? हार और जीतका राग जबतक बना हुआ है, तबतक वैर और विद्वेषका शोध नही हो सकेगा।—मुझे रावण और इन इतने राजन्योंपर शक्तिका शासन स्थापित नही करना है। उनपर स्वामित्व करनेकी इच्छा मेरी नहीं है, हो सके तो उनके हृदयोंको जगाकर उनके प्रेमका दास हो जाना चाहता हू। अधीनता और आधिपत्यके भावको तो मै निर्मूल करने आया हू। त्रिखडाधिपति रावणके निकट उसके विजेताके रूपमे अपनेको उपस्थित करनेकी इच्छा नही है, मैं तो उसकी मनुष्यताके द्वारपर उसके हृदयका याचक बनकर खडा हू। वह भिक्षा जबतक नहीं मिल जाती, तबतक टलनेको नही हू।—हे सर्वशक्तिमान ! जिस सत्यने इस द्वीपकी रक्षा की है, वही उन बेडोके त्रस्त मानवोको भी जीवन-दान दे, यही मेरी इच्छा है　　।"

निमिष मात्रमें बेडोके लगर अपने आप उठ गये। बिना किसी प्रयत्नके पोत गतिमान हो गये। उनके आरोही मनुष्योंके आश्चर्यकी सीमा न थी। प्राणकी एक नई धारासे वे जीवित हो उठे। चारो ओर मृत्युकी खामोशी टूटी और हर्षका जय-जयकार सुनाई पड़ने लगा।

अतर्देवताका शासन अभग चल रहा है। एक निष्काम कर्म-योगीकी भांति अविकल्प भावसे पवनजय उसके वाहक है। मन, वचन और कर्म तीनों इस क्षण एकरूप होकर प्रवहमान है।—चुपचाप पवनजयने एक गुप्त चरको भेजकर प्रहस्तको बुलवा लिया और दूसरे गुप्त-चरको भेजकर यान मगवा लिया।

यान जब उडकर कुछ ही ऊपर गया था, कि द्वीपमे भारी हल-चल मच गई। व्यग्र जिज्ञासाकी आखे उठाकर, द्वीप-वासी बार-बार हाथके सकेतोसे पवनजयको लौट आनेका आवाहन देने लगे। उत्तरमें पवनजयने समाधानका एक स्थिर हाथ भर उठा दिया, और वह हाथ तबतक वैसा ही अचल दीखता रहा—जबतक यान द्वीप-वासियोकी दृष्टिसे ओझल न हो गया।

एक लबा रास्ता पारकर पवनजय और प्रहस्त अतरीपमें आ उतरे। पहुचते ही सबसे पहले प्रतीक्षातुर और व्याकुल सैन्यको सात्वना दी, उनकी कुशल जानी और उनकी अनुपस्थितिमे सैन्यने आस-पासके सारे वैर-विरोधोके बीच जिस तरह अनुशासनको अभग रखा है, उसके लिये गद्-गद् कठसे उनका अभिनदन किया। इसके बाद तुरत कुमार झपटते हुए आयुध-शालामे गये और आह्वानका शख उठाकर उसी वेगसे अतरीपके समुद्र-छोरपर जा पहुचे। तरगोसे विचुबित वेलामे, पृथ्वी और समुद्रकी सधिपर खडे हो, पवनजयने चारो दिशाओमें तीन-तीन बार आवाहनका शख-सधानकर, अर्ध-चक्री रावण और उनके सपूर्ण नरेंद्र-मडलको रणका न्योता दिया।

चक्रीका सीमधर महापोत जब ठीक लकापुरीके समुद्र-तोरण-पर आ पहुचा था कि उसी क्षण, अतरीपमे यह रणका अप्रत्याशित आमत्रण सुनाई पड़ा। सुनकर रावण एक बारगी ही मानो वज्राहत-से हो गये। गुम-सुम और मतिहारा होकर एक बार उन्होने अतरीपकी ओर दृष्टि डाली, आखोमे मानो एक बिजली-सी कौंध गई—समुद्र, पृथ्वी, आकाश सभी कुछ एकाकार होकर जैसे चक्कर खाते दीख पडे—। भीतर एकाएक टूट गई प्रत्यचाकी टकार-सा प्रश्न उठा—"क्या चक्रीका चक्र-वर्तित्व भूमडलसे उठ गया?—विश्वकी कौन-सी शक्ति है जो जन्म-जात विजेता रावणको रणका निमत्रण दे सकती है?" कि ठीक उसी क्षण उन्हे अपनी वरुण-द्वीपपर होनेवाली सद्य पराजयका ध्यान

आया, जिसमें लौटकर अभी-अभी वे आये है। चक्रीका घायल अहकार भीषण क्रोधसे फुकार उठा। गरजकर वे महासेनापतिसे बोले—

"महाबलाधिकृत, पृथ्वीको शत्रुहीना किये बिना मै लकामें पैर नही रखूगा। सैन्यको सीधे अतरीपकी ओर प्रयाण करनेकी आज्ञा दी जाय। महामनीको सूचित करो कि वे तुरत सारे सुरक्षित भूसैन्य और जल-सैन्य-को अतरीपमे भेजनेका प्रबध करें।"

रास्ते भर रावणका चित्त अनेक दु सह शकाओसे पीडित था। क्या यह भी सभव है कि द्वीपपर उसकी पराजयका दृश्य देखकर, अतरीपस्थित उसीके माडलीक राज-चक्रने अवसरका लाभ उठाना चाहा है। और सभवत इसी लिये, उसकी निर्बलताके क्षणमें, उसे रणके लिये बाध्यकर उसके स्वामित्वसे मुक्त हो जानेकी बात उन्होने सोची हो—। दोनो हाथोंसे छाती मसोसकर चक्री इन चिताओ और शकाओको दफना देना चाहते है, और मस्तिष्कमें कषायका एक अदम्य वात्या-चक्र चल रहा है।

पर चक्रीका महापोत ज्यो-ज्यो अतरीपके निकट पहुचने लगा, तो तटवर्ती शिविरोंसे तुमुल हर्षका कोलाहल और जयघोष सुनाई पडने लगा। रावणके चित्तका क्षोभ, देखते-देखते आह्लादमें बदल गया। ज्योंही चक्रीका महापोत अतरीपके तोरणपर लगा कि लक्ष-लक्ष कठोकी जयकारोंसे आकाश हिल उठा। अतुल समारोहके बीच सहस्रो छत्र-धारियोंने नत मस्तक होकर महामडलेश्वरको बधा लिया। स्वागतके उपलक्ष्यमें बज रहे बाजोकी विपुल सुरावलियोंपर चढ रावण फिर एक बार अपने चरम अहकारके झूलेपर पेंग भरने लगे।

यथास्थान पहुचनेपर रावणको पता लगा कि इस युद्धका आह्वान देनेवाला दूसरा कोई नहीं, वही आदित्यपुरका युवराज पवनजय है, जिसने आजसे तीन महीने पहले एक दिन अचानक शान्तिका शखनादकर उसके युद्धको अटका दिया था। रावण सुनकर भौंचक्केसे रह गये—। उस [illegible] युवाका स्मरण होते ही, क्रोध आनेके पहले, बरबस रावणको

हँसी आगई। अनायास उनके मुँहसे फूट पडा—'ओह—अद्‌भुत है उस उद्धत छोकरेकी लीलाए, मेरे निज-महलके बदीगृहसे वह भाग छूटा और अब उसकी यह स्पर्धा है कि त्रिखडाधिपति रावणको उसने रणका निमत्रण दिया है। हूँअ—नादान युवक—जान पडता है उसे जीवनसे अरुचि हो गई है और रावणके हाथो मौत पानेको वह मचल उठा है ।'

कहते-कहते रावण फिर एक गभीर चितामे डूब गये। विचित्र शकाओसे उनका मन क्षुब्ध हो उठा।—जिस दिन उस कौतुकी युवाने युद्ध अटकाया था और उन्होने उसे बदी बनाकर लका भेजा था, ठीक उसके दूसरे ही दिन सवेरे वह अकाड दुर्घटना घटी—निकट आई विजय हाथसे निकल गई—। उन्हे यह भी याद आया कि महा-सेनापतिको जब वे पवनजयको बदी बनानेकी आज्ञा दे रहे थे—उस समय उस युवाके सामने ही द्वीपके पिछले द्वारमे सेंध लगनेकी बात उनके मुँहसे निकली थी—लेकिन फिर वह सर्वनाशी तूफान—? उसके बाद वह पोतोका स्तभन—? नही उस छोकरेके बसकी बात नही थी वह—वह किसी मानवका कर्तृत्व नही था—देवो और दानवोसे भी अजेय थी वह शक्ति । उस घटनाकी स्मृति मात्रसे रावणका वह महाकाय शरीर थर-थर कापने लगा। मस्तिष्क इतने वेगसे घूमने लगा कि यदि इस विचार-चक्रको न थाम लेगे तो वे पागल हो जायेंगे—। बहुत दृढतापूर्वक उन्होने मनको उस ओरसे मोडकर बाहरकी युद्ध-योजनाओमें उलझा देना चाहा—। पर भीतर रह-रहकर उनके चित्तमें एक बात बडे जोरसे उठ रही थी—'क्यो न उस स्वामी-द्रोहीको फिर बदी बनवाकर—लकापुरीके तहखानोमें आजन्म कारावास दे दिया जाय—? यदि उस उपद्रवीको मुक्त रक्खा गया, तो क्या आश्चर्य, वह किसी दिन समूचे नरेंद्रचक्रमे राज-द्रोहका विप फैला दे—। पर उसने मुझे सग्रामकी खुली चुनौती दी है। उसने मेरे बाहु-बल और मेरी सारी

शक्तियोंको ललकारा है। युद्धसे मुह मोडकर यदि उसे बलात् बदी बनाया जायगा, तो दिग्विजेता रावणकी विजय-गरिमा खडित हो जायगी। लोकमे मेरे वीरत्वपर लाछन लगेगा — नहीं, यह नहीं होगा — कल सवेरे रण-क्षेत्रमे ही उसके भाग्यका निर्णय हो जायगा —

नरेंद्र-चक्रके स्कधावारमें अविराम रण-वाद्यके प्रचड घोषके बीच, दिन और रात युद्धका साज सजता रहा।

उधर पवनजयके शिविरमे अखड निस्तब्धताका साम्राज्य था। रातकी प्रकृत और गहन शातिमें एक निर्वेद कठका प्रच्छन्न और मृदु-मद स्वर हवामे गूजता हुआ निकल जाता।—मानो अगोचरसे आती हुई वह आवाज कह रही थी—' अमृत-पुत्रो, प्राण लेकर नही, प्राण देकर तुम्हे अपने अजेय वीरत्वका परिचय देना है। अतिम विजय मारनेवालोंकी नहीं, मरनेवालोकी होगी। अपने ही प्राण विसर्जितकर असत्य मानवताके जीवनका मोल हमें चुकाना होगा। प्रहारकके तने हुए शस्त्रकी धारपर अपना मस्तक अर्पितकर हमे अपने अमरत्वका परिचय देना होगा।—फिर देखें विश्वकी कौनसी शक्ति है जो हमारा घात कर सकेगी। वीरो, जीवन और मृत्यु साथ-साथ नही रह सकते। यदि हम सचमुच जीवित है और हमे अपनी जीवनी-शक्तिपर विश्वास है, तो जीवनकी उस धाराको खुली और निर्बाध छोड दो—फिर मौत कहीं नही रह जायगी। चारो ओर होगा — जीवन — जीवन — जीवन — ' एक मानवके इस अस्खलित और केंद्रित नादमे सहस्रो मानवोकी प्राण-शक्ति एकीभूत और तन्निष्ठ हो गई थी। रात्रिकी गहन-शातिमें हवाओंके झकोरोपर अनत होता हुआ वह स्वर, निखिल जल-स्थल और आकाशमे परिव्याप्त हो जाता।

दूसरे दिन प्रात काल सूर्योदयकी वेलामें, रण-क्षेत्रमें दोनो ओरके सैन्य

सज गये। अविकल तूर्य-नाद, दुदुभिघोप और रणवादित्रोके उत्तरोत्तर वढते स्वरोने समस्त चराचरको आतंकित कर दिया।

एक ओर अपने देवाधिष्ठित सप्ताश्व रथके सर्वोच्च सिंहासनपर महामडलेश्वर महाराज रावण अपने परिकर सहित आरूढ है, और उनके पीछे जवुद्वीपके विशाल नरेंद्र-चक्रका अपार सैन्य-वल युद्धके लिये प्रस्तुत है। चक्रीके रथके आगे उनके चक्रवर्तित्वका उद्घोषक चक्र तेजोद्भासित घूम रहा है। दूसरी ओर आदित्यपुरके युवराज पवनजय एक अरक्षित और निश्छत्र रथपर, अकेले खडे है, अपने पीछे एक छोटी-सी सेना लेकर—। रावणने पहचाना—वही आलुलायित अलकोवाला मस्ताना तरुण सामने खडा है। वालोकी वही मनमोहिनी घुघुर ललाटपर खेल रही है। और उस कोमल-कात परतु जाज्वल्य मुखपर, एक हृदय-हारिणी मुस्कान सहज ही खिली है। चक्रीकी चढी भृकुटियोमे क्रोधसे अधिक विस्मय था और विस्मयसे अधिक एक अपूर्व मुग्धता।

समुद्रके क्षितिजपर, ऊषाके अरुण चीरमेसे उगते सूर्यकी कोर झाकी—। युवराज पवनजयने अपने रथपर खडे होकर दो वार युद्धारभका शख-नाद किया। एक भीषण लोह-घर्पणके साथ, चारो ओर शस्त्रास्त्र तन गये। आयुधोके फलोकी चमकसे वातावरणमें एक विजली-सी कौंध उठी। लक्ष-लक्ष तनी हुई प्रत्यचाओपर कसमसाकर तीर खिच रहे थे—।

. कि ठीक उसी क्षण उस कौतुकी युवाने, एक अनोखे भगसे मुस्कराकर, रावणके चक्रके समुख दोनो हाथोसे अपना शस्त्र डाल दिया ? 'फिर' ईपत् मुडकर एक मधुर भ्रू-भगके साथ अपने सैन्यको इगित किया—। निमिष मात्रमे झन-झनाझन करते हुए हजारो शस्त्र धरतीपर ढेर हो गये। कुमारने वक्षपरसे कवच और माथेपरसे शिरस्त्राण उतार-कर फेक दिये। फिर एक प्रवल झन-झनाझनके वीच उनकी सेनाओने उनका अनुसरण किया।

पुन एक वार कुमारने पूर्ण श्वाससे युद्ध आह्वानका शख पूरकर दिशाए हिला दी

तदननर रावणके तने हुए दिव्यास्त्रके समुख अपना खुला वक्ष प्रस्तुत-कर, विनम्र-वदन, मुस्कराते हुए पवनजयने, एक अभय शिशुकी तरह आकाशमे अपनी भुजाए पसार दी। अनुगामी सैन्यने भी ठीक वैसा ही किया।

सहस्रो मानवोके अरक्षित खुले हुए वक्षोके समुख लाखो तने हुए तीर कीलित रह गये। चारो ओर अभेद्य निस्तब्धता छा गई—। त्रिखडाधिपतिकी आखकी कोरोमे एक अतीद्रिय आनद-वेदना-के आसू उभर आये ? दिव्यास्त्र अग्नि वरसाता हुआ उनके हाथसे खसक पडा। चक्र डगमगाकर विप्लवी घोप करता हुआ, चक्रीके रथ-पर आक्रमण करने लगा। सप्ताश्व-रथके दैवी घोडे भयकर शब्द करते हुए उल्टे पैर लौट पडे—और रथ मानो धरतीमें धसकने लगा। तीन खडके नाथके मस्तकपरके छत्र छिन्न-भिन्न होकर भूमिपर आ गिरे, और धूलिमे लोटने लगे ।

रावण तुरत रथसे भूमिपर उतर आये। पवनजयके रथके निकट जा दोनो हाथ फैलाकर उनमे नीचे आनेका मूक अनुरोध किया—। हाथ जोडकर कुमार सहज विनयसे अवनत हो गये और हँसते हुए नीचे उतर आये। चक्रीने अपनी अतुल वल-शालिनी भुजाओमें उन्हें भर-भर लिया, और वार-वार गले लगाकर उस कुचित-अलका ललाटको विह्वल होकर चूमने लगे—। अशेष आनदके मौन-मौन आसू ही दोनोकी आखोमें उमड रहे थे। और देखते-देखते चारो ओर प्रेमका एक पारावार-सा उमड पडा—। आत्म-सतापके आसुओमें विगलित लक्ष-लक्ष मानवके पुत्र एक-दूसरेको भुजाओमे भर-भरकर गले लगा रहे थे। मानो जन्म-जन्मका शत्रुत्व विस्मरणकर पहली ही वार एक दूसरेको अपने आत्मीय के रूपमे पहचान रहे है ।

पाच दिन तक अन्तरीपमें मर्त्य मानवोने प्रेमका ऐसा अपूर्व उत्सव मनाया, कि अमरपुरीके देवता भी अपने विमानोपर चढकर उसे देखने निकले और आकाशने मदार पुष्पोकी मालाए बरसती दीख पडी।

[ ३० ]

उत्सवके पाचवें दिन, प्रात काल—

अंतरीपके छोर पर, स्फटिकका एक उच्च लोकाकार स्तभ, आकाश और समुद्रकी मृणाल पीठिकापर खडा है। उसके चरणोमें चिर कुमारिका पृथ्वी लहरोका चचल वसन बार-बार खसकाकर आत्मार्पण कर रही है। स्तभके शीर्षपर वैडूर्यमणिकी एक भव्य अर्ध-चद्राकार सिद्ध-शिला विराजमान है।—समुद्र, आकाश और पृथ्वी एक साथ उसमें प्रतिबिंबित है। सूर्यकी किरणे उसमे टूटकर ज्योतिकी तरगे उठा रही है। मानो त्रिलोक और त्रिकालके सारे परिणमन उसमे एक साथ लीलायित है।

स्तभके पाद-प्रातमें, मर्कतके एक प्रकाड मगरके मुखपर, चारो समुद्रोके गुलाबी और शुभ्र मोतियोसे निर्मित, तीन खडका सिंहासन शोभित है। उसकी सर्वोच्च वेदिकाके-बीच चक्रीका देवोपनीत सिंहासन-रत्न है। वह राज्यासन इस समय रिक्त पडा है। केवल उसके दाई ओर उपधानके सहारे वह दड-रत्न रक्खा हुआ है। उसकी पीठिकामे पन्नो और नीलमोका वह कल्पवृक्षाकार भामडल है। उसके ऊपर बडे-बडे अगूरी मुक्ताकी झालरोवाले तीन छत्र दीपित है, जिनकी प्रभामे निरतर लहरोका आभास होता रहता है। इस सिंहासनकी सीढियोपर दोनो ओर चक्रीकी नाना भोग और विभूतिया देनेवाली निधिया और रत्न सजे है। सबसे ऊपरकी सीढीपर बीचो-बीच चक्र-रत्न घूम रहा है।

सर्वोच्च वेदीकी कटनीमें एक ओर, चदनकी एक विशद चौकीपर टाभका आसन बिछा है। उसीपर रावण अपनी दक्षिण भुजामें

वरुण-द्वीपके राजा वरुणको आवेष्ठित किये बैठे हैं। दूसरी ओर ऐसे ही डाभके आसनपर बैठे हैं कुमार पवनजय।

सिंहासनके तले, खुले आकाशके नीचे, जबुद्वीपके सहस्रो मुकुट-बद्ध राजा और विद्याधर अपने विपुल सैन्य-परिवारके साथ बैठे हैं। फूटनेको आतुर कलीकी तरह सभीके हृदय एक अपूर्व सुखके सौरभसे आविल है।

अवाक् निस्तब्धताके बीच खडे होकर, त्रिखडाधिपतिने अपने चक्रके समस्त राजवियोके प्रति नम्रीभूत होकर, पहली ही बार, अपना मस्तक झुका दिया। तदुपरात समुद्रके गभीर गर्जनको विनिंदित करनेवाले स्वर मे रावण बोले—

"लोकके हृदयेश्वर देव पवनजय और मित्र राजन्यो, लोकके शीर्षपर सिद्ध-शिलामे विराजमान सिद्ध परमेष्ठी साक्षी है त्रिखडाधिपति रावणका गर्व, उसका सिंहासन, उसका चक्र और उसकी समस्त विभूतिया आजसे लोककी सेवामे अर्पित है।—इनपर स्वामित्व करनेका मेरा सामर्थ्य इस रण-क्षेत्रमे पराजित हुआ है।—मेरी आखो आगे, मेरे ही पुण्य-फल इस चक्र-रत्नने विद्रोही होकर मेरे विजयाभिमानको विदीर्णकर दिया। मेरे हाथके दिव्यास्त्रसे निकलती हुई अग्नि मुझे ही भस्म करनेको उद्यत हो पडी। मेरे ही रथने मेरे ऊपर उलटकर, मेरे सिंहासनको रोद देना चाहा। और इस महासमुद्रकी चचल लहरोने, जिनपर शासन करनेका मुझे एक दिन घमड था, वज्रकी शृखलाए बनकर मुझे बदी बना लिया!—उनके अधीन प्राणका भिखारी बनकर मै थर्रा उठा।—तब कैसे कहू कि मै इनका स्वामी हू, और अपनी इन उप-लब्धियोके बलपर मै लोककी जीवित सत्तापर शासन कर सकूगा ? जड भौतिक विभूतियोको अपने अधीन पाकर, निखिल चराचरपर अपना साम्राज्य स्थापित करनेका मुझे उन्माद हो गया था। तब चेतनकी उस केंद्रीय महाप्राण सत्ताने, अपने ऊपर छा गये जडत्वके स्तूपको उखाड

फेंकनेके लिये विद्रोह किया है।—उसी चेतनका मुक्ति-दूत बनकर आया है, यह आदित्यपुरका विद्रोही राजकुमार पवनजय! टूटते हुए वरुण-द्वीपकी वेदीमे खडे होकर, उसने अपने आत्मबलसे तत्वोकी सृष्टिपर शासन स्थापित किया। देवताओ और दैत्योने उस शक्तिसे हार मानी। परोक्ष आत्म-सत्ताके उस आविर्भावने मेरे अभिमानको तोडा अवश्य, पर भीतर हृदयका राग और ममत्व पराजयकी एक दाहक पीडा जगा रहा था।—तब इस रण-भूमिमें प्रत्यक्ष समुख खडे होकर पवनजयने मेरी जट बल-सत्ताको चुनौती दी। मेरे सारे तने हुए प्रतापकी धारपर उसने शस्त्र-समर्पण कर दिया। और तब हृदयपर अखड प्रेमकी जोत जलाकर उसने मेरे प्रहारको आमन्त्रित किया। अगले ही क्षण सहस्रो जलती हुई प्राण-शिखाए एक-साथ निछावर हो उठी। देखती आखो आत्माकी उस अमर ज्योतिमें, मेरे प्रताप, वैभव और विभूतिका वज्र गलित हो गया ...।

" ...इस रण-क्षेत्रमे इस अद्भुत युवाने धर्मका शासन उतारा है। मुझे प्रतीति हो रही है कि आजसे आतक और शक्तिका जड शासन भग हो गया। धर्मका स्वयभु शासन ही लोकके हृदयपर राज्य कर सकेगा। चक्रीका यह सिहासन आजसे धर्म-राजका सिंहासन हो। लोकके कल्याणके लिये प्रस्तुत हो ये सारी विभूतिया। चक्री मात्र इनका रक्षक होकर, नम्रतापूर्वक इस धर्म-शासनका सूत्रसचालन करेगा। वह होगा लोकका एक अकिंचन सेवक—दासानुदास!

" पृथ्वीपतियो! धर्म-राजके इस सिहासनके नामपर तुम सबोसे मेरा एक ही अनुरोध है लोककी जड सत्ताके बलात्कारी अधिपति बनकर नही, जीवत लोकके विनम्र सेवक बनकर उसके हृदयपर अपना आधिपत्य स्थापित करो, और यो अपने राजत्व और क्षात्रत्वको कृतार्थ करो। ससागरा पृथ्वीके तीन खडोको जीतकर भी, इस छोटे-से वरुण-द्वीपपर आकर, मेरा समस्त बल-वीर्य, और शक्तिया पराजित हो गई।

पर इस युवराज पवनजयने हमारे हृदयोंपर शासन स्थापित कर, हमारी चेतन सत्ताको जीता है। उसीसे कहता हूँ आज से यही होगा हमारा हृदयेश्वर! लोक-हृदयके सिंहासनपर आज नरेंद्रोंकी यह सभा इस धर्म-पुत्रका अभिषेक करे, यही मेरी कामना है।"

कहकर रावण पवनजयकी ओर बढ़नेको उद्यत हुए कि स्वयं पवनजय अपने आसनसे उठकर आगे बढ़ आये, और सहज विनयसे नम्रीभूत हो गये। रावणने अमित वात्सल्यसे उमगते हृदयसे बार-बार उन्हें आलिंगन किया। समस्त नरेंद्र-मंडल गद्गद् कंठसे पुकार उठा—

"लोकहृदयेश्वर देव पवनजयकी जय!

धर्म-चक्री महाराज रावणकी जय!"

चारों ओरसे जय-मालाओं और पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। रावण और पवनजय उसमें ढक गये। दोनों राज-पुरुषोंने बार-बार माथा नवा कर राज-चक्रके इस मुक्त हृदयार्पणको बधा लिया।

फिर एक बार रावणके इंगितपर सभा शांत हो गई। तब चक्रीने वरुणको गले लगाकर, उन्हें आजसे सामुद्रिक साम्राज्यका प्रतिनिधि घोषित कर दिया। तदुपरांत समुद्रके शासन-देवों द्वारा प्राप्त अपने अनेक दिव्यास्त्र और रत्न उन्होंने वरुणको समर्पित किये। फिर उनके गलेमें जयमाला पहनाकर घोषित किया—

"वरुण-राजने अपने आत्म-देवताकी सम्मान-रक्षाके लिये, कालके विरुद्ध खड़े होकर धर्म-युद्ध लड़ा है। उन्होंने त्रिखंडाधिपति रावणके आतंककी अवहेलनाकर सर्वकी जन्म-जात स्वाधीन सत्ताकी स्थापनाका श्रेय लिया है। उनके इस अप्रतिम साहस और वीरत्वका मैं अभिनंदन करता हूँ। प्रेम, अभयदान, साम्य और स्वाधीनता, यही होंगे आजसे हमारे राजत्वके चक्र-रत्न, और इन्हीं पायोंपर आसीन है धर्म-राजका यह सिंहासन!"

फिर एक बार "लोक-हृदयेश्वर देव पवनजयकी जय, धर्म-राजेश्वर

महाराज रावणकी जय, वीर-कुल-तिलक वरुण-राजकी जय !"—समुद्रके क्षितिजतक गूज उठी। तदनतर मगल-वादित्रोकी धीमी और मधुर ध्वनियोके बीच सभा विसर्जित हो गई।

[ ३१ ]

शरद ऋतुकी सध्या गिरिमालाओमें नम रही है। समुद्र-पर्यंत पृथ्वीपर जिसके यशोगान गूंज रहे हैं, ऐसी जय-श्री लेकर पवनजय आज आदित्यपुर लौट रहे हैं। पार्वत्य-घाटिया सैन्यके अविराम जय-नादो और मगल-शखोसे गूज रही हैं। अपने अवर-गोचर नामा हाथीपर, सोनेकी अबाडीके रेलिंगपर झुककर पवनजयने दूरतक दृष्टि डाली। विजयार्धके ऊचे कूटोपर दूर-दूरतक रग-विरगे मणि-गोलकोके प्रदीप लगे हैं। एकाएक उनकी दृष्टि अपने प्रियतम और सर्वोच्च कूट अजितजयपर जा ठहरी। इतना ऊँचा है वह कूट कि वहा दीप नही लगाया जा सका है। वहा तो केवल वनस्पतियोके अतरालमें स्वर्ण-जुही-सी गोरी सध्या अभिसार कर रही है। उसकी लिलारमे शुक्र-ताराकी बिंदिया सजी है। ऊपर घिरती प्रदोपकी गाढ नीलिमामे, रात उसके मुक्त केशो-सी अतहीन होकर फैल रही है। झुट-पुट तारोके उजले फूल उसमे फूट रहे हैं।—और पवनजयकी जय-श्री वहा जाकर, उस अभिसारिकाके पैरोमें नीरव नूपुर बनकर मुखरित हो उठी। उस झकारपर दिगगनाओने अपने आचल खसकाकर, अनत रूप-रागिया निछावर कर दी।

पवनजयकी आखोके सामने रत्न-कूट प्रासादकी वह स्फटिककी अटारी खिल उठी। जिस वातायनमे वे उस रात बैठे थे, उसीमे बैठी अजना अकेली अपने हाथोसे सिंगार-प्रसाधन कर रही है। शत-शत वसतोके सौंदर्यने आज उसे न्हिलाया है। कल्प-सरोवरकी कुमुदनियोने उसके तनु अगोमे लावण्य और यौवन भरा है। केशरिया

स्वर्ण-तारोंके दुकूलमे वह कपूर-सी उज्ज्वल देह चादनी छिटका रही है। दूजकी विधु-लेखा-सी जिस विरहिणी तापसीको उस रात वह अपनी बाहुओमे न भर सका था, वह आज राकाके पूर्ण-चद्र-सी अपनी सोलहो कलाओसे भर उठी है।—सामने उसके पडा है वह रत्नोका दर्पण। पास ही पडे स्वर्णिल धूपायनके छिद्रोसे कस्तूरी और अगुरुके धूपकी धूम्र-लहरें निकल रही है। अतिशय मार्दवसे देहमें एक भग डालकर, अपने दोनो लीलायित हाथोमें विपुल कुतलोको उभारती हुई अजना, गध-धूम्रसे उनका सस्कार कर रही है। पैरोके पास खुले पडे रत्न-करडोमें नाना शृगारोकी सामग्रिया फैली है—।

कल्प-काननके सारे फूलोका मधु लेकर, काम और रतिने सुहागकी शय्या रच दी है। जिस महासमुद्रकी लहरोको पवनजयने बाधा था, वही मानो चँदोवा बनकर उस शय्यापर तन गया है। उसी शय्यापर बैठी है वह अक्षय-सुहागिनी अजना, अजितजय कूटपर प्रतीक्षाकी आतुर आखे बिछाये।—उसीके वक्षमें विसर्जित होकर विजेता आज अपनी शेष कामनाकी मुक्ति पायेगा।

अतुल हर्षके कोलाहल और जय-ध्वनियोके बीच पवनजयकी तद्रा टूटी। जहा तक दृष्टि जाती है, विजयोत्सवमें पागल नागरिकोका प्रवाह उमडता दीख रहा है। राज-मार्गके दोनो ओर दूरतक दीप-स्तभो-की पक्तिया चली गई है। विपुल गीत-वादित्रोकी ध्वनियोसे दिशाएं आकुल है। विजयार्धके प्रकृत सिंह-तोरणमेंसे निकलते ही कुमारने देखा—सामने हस्ति-दतका विशाल जय-तोरण रचा गया है। मुक्ताकी झालरो और फूलोकी वदनवारोसें वह सजा है। उसके शीर्षपर चार खडोके अलिदो और गवाक्षोमेंसे अप्सरओ-सी रूपसिया पुष्पो और गध-चूर्णोकी राशिया बिखेर रही है। शत-शत मृणाल बाहुओपर आरतियोके स्तवक झूल रहे है। कुमारने पाया कि उन्हीके हृदयके माधुर्यमेंसे उठ रही है, ये सौंदर्यकी शिखाए। उनकी आखोमें आत्म-दर्शनके

आसू उभर आये । झुकी आखो और जुडे हाथोमे वार-बार उन्होने उन कुमारिकाओका वदन किया ।—आज सौंदर्य अप्राप्त वासनाका विप वन-कर हृदयको नही डस रहा है, वह अतरका अमृत वनकर नितर रहा है ।

द्वारमेंसे निकलकर जव कुमारका अवर-गोचर हाथी आगे वढा तो दूरपर आदित्यपुरके भवन और प्रासाद-मालाए सहस्रो दीपोकी सघन पक्तियोसे उद्भासित दिखाई पडे । उन झल-मलाती वातियोमे, भवातरो-की जाने कितनी ही अविज्ञात इच्छाए, एक साथ ज्वलित होकर आखोमे नृत्य करने लगी । उन दीप-मालाओके वीच-वीचमें विभिन्न प्रासाद-शिखरोके अनेक-रगी रत्न-दीपोका एक हार-सा दीख रहा है । और तभी कुमारको ध्यान आया उस हारके कौस्तुभ-मणिका ।—रत्न-कूट प्रासादके शिखरपर नीली और हरी काति विखेरते उस शीतल रत्न-दीपको उन्होने चीन्हना चाहा ।—आखें फाड-फाडकर वार-वार देखा, पर नही दिखाई पड रही है वह हारकी कौस्तुभ-मणि—! देखते-देखते कुमार-की आखोमें वे दीपावलिया करोडो उल्कापातो-सी वेगसे चक्कर काटने लगी ।—एक विभ्राट अग्निकाडमें सव कुछ भभक उठा ।—उनकी छातीमें एक वज्रविस्फोटका धमाका सुनाई पडा । और अगले ही निमिप वह सारा दीपोत्सव वुझ गया । नि सीम अधकारका शून्य आखोके सामने फैल गया ।—कुमारने दोनो हाथोसे आखे मूद ली । भीतर पुकारा—'कल्याणी, तुम्हे मिलनेका अमित सुख मुझे पागल वनाये दे रहा है—मेरी चेतना खोई जा रही है, और तुम कहा भागी जा रही हो ? मुझसे घोरतर अपराध हो गया है । क्या मै तुम्हें भूल गया था सर्वथा भूल गया था ? क्या इन वारह महीनोमें तुम्हारी सुध मुझे कभी नही आई ? ओह, मैं विजयके मदमे पागल हो गया था ! कौनसा मुह लेकर तुम्हारे निकट आ सकूगा ? इसीसे विजयकी दीप-मालाए एकाएक वुझ गई हैं । स्वागतकी वह आरती तुमने समेट ली है . । पर ओ करुणामयी, ओ क्षमा,

ओ मेरी धरणी, क्या तुम भी मुझसे मुह मोड लोगी ? एक वार अपने निकट आ जाने दो, फिर जो चाहो दड दे लेना ।' कुमारके हृदयको फिर भीतरसे एक ऊष्म स्पर्शने थाम लिया । ससज्ञ होकर उन्होने अपनेको २ वस्थ पाया । दीपोत्सव वैसा ही चल रहा था, पर कुमारकी आखें नही उठ रही है उस ओर ।

राजागनमें प्रवेश करते ही कुमारने महावतको कुछ सकेत कर दिया । आस-पासके उत्सव, वधाइया, जयकारे और गीत-वादित्रोके स्वर पवनजयके पास नही पहुच पा रहे है । उनका समस्त मन-प्राण अतरके एक अथाह शून्यमे गोते लगा रहा है ।

××× रत्न-कूट प्रासादके द्वारपर आकर पवनजयका अवर गोचर गज-राज वैठ गया । शुड उठाकर हाथीने स्वामीको प्रणाम किया । अवाडीपर नसैनी लगा दी गई । ऊपर निगाह डालकर कुमारने देखा महलके छज्जोपर दीपावलिया वैसी ही शोभित है, पर उसके गवाक्षोके कपाट रुद्ध है, उनसे नही वरस रही है फूलोकी राशिया, नही वह रही है सगीतकी सुरावलिया, नही उठ रही है सुगधित धूम्र-लहरें । उस महलका अलिंद शून्य पडा है । झपटते हुए कुमार सौधकी सीढिया चढ द्वारके पास पहुच गये । विशाल द्वारके कासेके कपाट रुद्ध है, उनकी वडी-वडी अर्गलाओमे ताले पडे हुए है । द्वार-पक्षमे चिपकी, मगलका पूर्ण-कलश लिये खडी वह तन्वगी, विश्वकी सपूर्ण करुणा और विषादको आखोमें भरकर फिर मुस्करा उठी ।—पवनजयके मस्तिष्कमे लाख-लाख विजलिया तड-तडाकर टूट पडी । चारो ओर उमडता उल्लसित जन-समूह, अपार दुःख, आश्चर्य और भयसे स्तभित होकर, पत्थर-सा थमा रह गया । क्षण मात्रमें हर्षका सारा कोलाहल निस्तब्ध हो गया । भीतर-भीतर त्रासकी सिसकारिया फूट उठी, पर उससे भी अधिक अचरजसे सवकी आखे फटी रह गई ।

. . .कुमारने लौटकर देखा दोनो ओर खामोश खड़ी—प्रति-हारियोकी आखोमें आसू झलक रहे थे। कुमारकी आखोंके मूक प्रश्नके उत्तरमें, वे कुहनियोंतक दीर्घ हाथ जोडकर नत हो गईं। भालेके फल-सा एक तीक्ष्ण प्रश्न कुमारकी छातीमें चमक उठा। एक गहरी शंका हृदयको बीधने लगी। ओठ खुले रह गये—पर प्रश्न शब्दोमें न फूट सका। अनजाने ही विजेताका वह किरीट-बद्ध ललाट, द्वारके कपाटोंसे जा टकराया. . । प्रतिहारिया और जन-समूह हाय-हाय कर उठा। कुमारकी आखोमें प्रलयकर अधकारकी बहिया उमड पडी। सारे अत पुरमें सवाद बिजलीकी तरह फैल गया!

उन्मत्तकी तरह झपटते हुए कुमार माताके महलकी ओर पैदल ही चल पड़े। ललाटसे रक्त चू रहा है और तीरके वेगसे वे चले जा रहे हैं। उलटे पैरो पीछे खसककर जन-समूहने राह छोड दी। किसकी सामर्थ्य है जो उस कुमारको थाम ले। प्रतिहारिया उसके पथमें पावडे बिछानेकी सुध भूल गईं, और आचलमे मुह ढाककर सिसकने लगी।

महारानी केतुमती शृंगार-आभरणोमें सजी, अपने प्रासादके अलिंद-तोरणमें खडी है। स्वर्णके थालमें अक्षत-कुकुम और मगलका कलश सजाये, उत्सुक आखोंसे वे बाट जोह रही है, कि अपूर्व विजयका लाभ लेकर आये पुत्रके भालपर वे अभी-अभी जयका टीका लगायेगी।—उनकी गोद फडक रही है, कि वर्षोंके रूठे पुत्रको आज वे एकात रूपसे पा जायेगी। अभी-अभी उनके कानतक भी वह उपरोक्त सवाद अस्पष्ट रूपसे पहुच चुका था। सुनकर वे सिरसे पैरतक थर्रा उठी है, पर विश्वास नहीं हो रहा है।

कि इतने हीमें झझाके झोकेकी तरह पवनजय सामने आकर खडे हो गये। पसीनेमें सारा चेहरा लथ-पथ है—और भालपर यह बहते कुकुमका जय-तिलक मासे पहले किसने लगा दिया ?—

और अगले ही क्षण दीखा, बहता हुआ रक्त ? अभी-अभी जो सुना था और सुनकर भी जिसकी अवज्ञा की थी, वह झूठ नही था !— रानीके हाथसे मगलका थाल गिर पड़ा। कलश ढुलक गया, अक्षय दीवट बुझ गई ! पवनजय आगे न बढ सके । अवाक् और निस्तब्ध वे माके चेहरेकी ओर ताकते रह गये । रानीके पीछे खडी मगल-गीत गा रही अत पुरकी रमणिया हाय-हाय कर उठी। अपराधिनीकी तरह ढुलकी-सी खडी महादेवी थर-थर काप रही हैं— आखें उनकी धरतीमें गडी है। पुत्रकी ओर दृष्टि उठाकर देखनेका साहस उन्हे नही है। अपने बावजूद पवनजयके मुहसे अनायास प्रश्न फूट पडा—

"मा लक्ष्मी कहा है ? उसके महलका द्वार रुद्ध है—और तुम्हारे पीछे भी वह नही खडी है ! नही लगायेगी वह मुझे जय-तिलक ? नही पहनायेगी वह मुझे जय-माला ? बोलो मा जल्दी बोलो। शायद तुमने सोचा होगा कि अपशकुन हो जायगा (ईषत् हँसकर) इसीसे, जान पडता है, उसे कही छुपा दिया है। पर मा तुम नही जानती उसीके लिये लाया हूँ यह जय-श्री—! उसके चरणोमें इसे चढाकर अपना जन्मोका ऋण मुझे चुकाना है ! पहले उसे जल्दी बुलाओ मा—मै विनोद नही कर रहा हू। मै समझ रहा हू तुम घबडा रही हो—पर मै तुम्हें अभी सब बातें बता दूगा। लज्जावश शायद वह तुमसे न कह सकी हो। पर पहले लक्ष्मीको बुलाओ मा देर न करो मुहूर्त टल रहा है "

रानी बेसुध-सी हो पुत्रकी ओर बढी और उसे अपनी दोनो बाहोसे छातीमें भरकर रो उठी—। पवनजय माके आलिगनमें मूर्छित हो गये। चारो ओर हाहाकार व्याप्त हो गया। उत्सवका आह्लाद क्रन्दनमे परिणत हो गया। एक स्तब्ध विषादकी नीरवता चारो ओर फैल गई।

[ ३२ ]

महादेवीके कक्षकी एक शय्यापर पवनजय माकी गोदमें लेटे हैं—। सिरहानेकी ओर राजा, मसनदके सहारे सिर लटकाये निश्चेष्टसे बैठे है। पायतानेके पास प्रहस्त एक चौकीपर मानो जडीभूत हो गये है, उनका एक हाथ पवनजयकी पगतलीपर सहज ही पडा है। उनकी आख-की कोरोमे पानीकी लकीरे थमी है। शय्याके उस ओर खडी दो प्रति-हारिया मयूर-पखके दो विपुल पखोमे विजन कर रही है।—सारे उपचार समाप्त हो गये है, पर पवनजयको अभी चेत नही आया।

हृदयपर पहाड रखकर प्रहस्तने उस अपराधिनी पुण्य-रात्रीका वृत्त सुना दिया। सुनकर राजा क्षणभरको स्तभित-से रह गये—। फिर दोनो हाथोसे कपाल पीट लिया और मुकुट-कुडल उतारकर धरतीपर दे मारे। भूषण-अलकार छिन्न-विच्छिन्नकर फेंक दिये। पृथ्वीपति—। पृथ्वीपर गिरकर उसकी गोदमें समा जानेको छटपटाने लगे। पर माता पृथ्वी भी सुनकर मानो निस्पद और निष्प्राण हो गई है, निर्मम होकर वह राजाके टूक-टूक होते हृदयको कठिन अवरोधसे ठेल रही है। —लगता है कि वुक्का फाडकर वे रो उठें और यो अपने इस पापी जीवनका वे अत कर लें—। पर नही, इस क्षण वह इष्ट नही है—। मरणातक कष्ट पुत्रके हृदयको जकडे हुए है। राजाकी प्रत्येक श्वासमें पुत्रका दुख शूलो-सा चुभ रहा है। जीवनमे, मरणमे, लोकमे, परलोकमें कही मानो राजाको स्थान नही है।

रानी सुनकर वज्राहत-सी बैठी रह गई।—देखते-देखते वह प्रेतिनी-सी विवर्ण और भयानक हो उठी है। उसकी आखें फटकर मानो अभी-अभी कोटरोसे निकल पडेंगी। उन पुतलियोका प्रकाश जैसे बुझ गया है। अचानक दोनो हाथोके मुक्कोसे रानीने छाती पीट ली, माथा पलगकी पटरियोपर दे मारा। आकाश-भेदी रुदन गलेमें

आकर घुट रहा है। कुछ वस न चला, तो अपने केशो और अगोको उसने नोच-नोच लिया। प्रतिहारियोने रानीको सम्हाला, और प्रहस्तने राजाको उठाकर तल्पके उपधानपर लिटा दिया। धीमे और व्याकुल स्वरमे इतना ही कहा—"शात राजन्, शात—कष्टकी यह घडी वहुत ही गभीर है—अधीर होनेसे वहुत वडा अमगल घट जायगा!" राजा और रानी कलेजा थामकर अपने भीतर क्षार-क्षार हो रहे है।

कि इतने हीमें हलकी-सी कराहके साथ पवनजयने आख खोली—। माथेके नीचेकी गोदीका परस अनुभवकर वोले—

" आह तुम तुम आ गई रानी वल्लभे . प्राणदे तुम ?" और पुतलिया ऊपरकी ओर चढाकर देखा "ओ मा तुम ? और कहा है वह लक्ष्मी ?" एकाएक पवनजय उठ वैठे और आसुओसे घुलते माके उस क्षत-विक्षत चेहरेको क्षणभर स्तब्धसे ताकते रह गये—। फिर दोनो हाथोसे उस विह्वल मुखको झकझोरकर उद्विग्न कठमे फूट पडे—

"ओह मा यह क्या हो गया है तुम्हे ? और वह कहा है मा बोलो, जल्दी वोलो लक्ष्मी कहा है ? यदि पुत्रका कल्याण चाहती हो तो उसे मुझसे न छुपाओ—उसीने मुझे प्राण-दान दिया है कि आज मै जी रहा हू। उसीने मुझे शक्ति दी है कि मै त्रिलोककी विजय-लक्ष्मीका वरण कर लाया हू—केवल उसके चरणोकी दासी वना देनेके लिये ! तुम नही जानती हो मा—उस सौभाग्य-रात्रीकी वार्ता—वह सव मै तुम्हे अभी कहूगा। पर पहले उसे बुलाओ मा तुम नही, वही इन प्राणोको रख सकेगी! उसे जल्दी बुलाओ मा नही तो देर हो जायगी !"

पुत्रके कधेपर माथा डालकर रानी छाती तोडकर रो उठी। कुछ देर रहकर पवनजयके उस पगले मुखको अपने वक्षमें दोनो हाथोसे दवा लिया, फिर कठोर आत्म-विडवनके ढीठ स्वरमें वोली—

"... सुन चुकी हू बेटा, सब सुनकर भी जीवित हू मैं हत्यारी—। अनर्थ घट गया है मेरे लाल . घोर अमगल हो गया है । छातीमें लात मारकर मैंने लक्ष्मीको ठेल दिया है। मैंने सतीपर कलक लगाकर उसे इस घरसे निर्वासित कर दिया है । वमतके कहेपर मैंने विश्वास नही किया—तेरे वलय और मुद्रिका उठाकर फेक दिये। अपने भीतरका सारा विप उडेलकर मैंने सतीकी अवमानना की है। आह - उसके गर्भमे आये अपने कुलधरका ही मैंने घात किया है। वशकी परपराको ही मैने तोड दिया है—कुल-लक्ष्मीको धक्का देकर मैंने राज-लक्ष्मीका आसन उच्छेद कर दिया है।—एक साथ मैंने सतीघात, कुल-घात, राज्य-घात, पति-घात और पुत्र-घातका अपराध किया है, बेटा ! मैं तुम्हारी मा नही—मै तो राक्षसी हू। मुझे क्षमा मत करो बेटा—मुझपर दया करके मुझे अपने पैरो तले कुचल डालो—तो सुगति पा जाऊगी—और नही तो सातवें नरकमे भी मुझ पापिनको स्थान नही मिलेगा "

कहती-कहती रानी धमाकसे पुत्रके पैरोंमें गिर पडी। पवनजय पहले तो अचल पाषाणकी तरह सब कुछ सुन गये, मानो आत्मा ही लुप्त हो गया हो। पर ज्योही मा पैरोमे गिरी कि झुझलाकर पैर हटा लिये और छिटककर दूर खडे हो गये। एक क्षुब्ध सन्नाटा कक्षमें व्याप गया। दोनो हाथोमे मुह ढापकर कुमार बडी देरतक निस्पद और अकप होकर अपने भीतर डूब रहे । फिर एकाएक घुमडते मेघ-से गभीर स्वरमें गरज उठे—

"... धिक्कार है यह पुरुपत्व और वीरत्व—धिक्कार है मेरी यह विजय-गरिमा, धिक्कार है यह राज्य, यह सिंहासन, यह प्रमत्त वैभव और ऐश्वर्य—धिक्कार है यह कौलीन्य, यह सतीत्व, यह शील और यह लोक-मर्यादा। सत्यपर नही, हमारे अहकारो और स्वार्थोपर टिका है यह सदाचारोका पृथुल विधान. !—आह रे दभी पुरुप,

देवत्व, ईश्वरत्व और मुक्तिके तेरे ये दावे धिक्कार है ! निपीडक, नृशस, वर्बर ! युग-युगसे तूने अपने पशु-बलके विषाक्त नखोंसे कोमला नारीका वक्ष चीरकर उसका रक्त पिया है !—उस वक्षका जिसने अपने रक्त-मासमेंसे तुझे पिंड-दान किया—और जन्म देकर अपने दूधसे तुझे जीवन-दान किया। और उसीपर सदा तूने अपने वीरत्वका मद उतारना चाहा है ! उस विधात्री और शक्ति-दात्रीसे शक्ति पाकर, आप स्वय उसका विधाता और नियता बननेका गौरव लिये बैठा है ?—धूर्त, पाखडी, कापुरुष ! मेरे उसी पुरुषत्वका यह जन्म-जन्मका निदारुण अपराध है कि ऐसा अमगल घटा है। यह एक पुरुष या एक स्त्रीका दुर्दैव नही है, प्रहस्त, यह हमारी परपराके मर्मका व्रण फूटकर सामने आ गया है—?—जियो मा—जियो, तुम्हारा दोष नही है। सतीकी अवमानना तुमसे पहले मैंने की है, उसीका दड मैं भोग रहा हू।—इसमे तुम्हारा और किसीका क्या अपराध ?"

क्षणभर चुप रहकर कुमारने पिताकी ओर निहारा।—मुकुट धरतीमे लोट रहा है ! राज्यत्व और क्षात्रत्व अपने पराभव-से भूलुठित और विध्वस्त होकर धूलमे मिल रहे है। पवनजयके हृदयमे फिर एक जोरका आघात हुआ। अतर्भेदी स्वरमें कुमार पुकार उठे—

"उठो, प्रहस्त, उठो—देर हुई तो ब्रह्माड विदीर्ण हो जायगा। लोक-कल्याणकी तेज-शिखा बुझ गई है। आनदका यज्ञ भग हो गया है, और मगलका कलश फूट गया है। जीवनकी अधिष्ठात्री हमें छोड़-कर चली गई है। जल्दी करो प्रहस्त, नही तो लोककी प्राण-धारा छिन्न हो जायगी। मेरी आखोमे कल्पातकालका प्रलयकर रुद्र ताडव-नृत्य कर रहा है—। नाशकी झझा-रात्रि चारो ओर फैल रही है, प्रहस्त, सृष्टिमे विप्लवके हिलोरे दौड रहे है। इस ध्वस-लीलाके बीच, जल्दीसे जल्दी उस अमृतमयी, प्राणदाको खोज लाकर, उसे विधातृके आसनपर प्रतिष्ठित करना है।—वही होगी नवीन सृष्टिकी अधी-

श्वरी ! उसीके धर्म-शासनका भार वहनकर हमारा पुरुषत्व और वीरत्व कृतार्थ हो सकेगा !—प्रस्तुत होओ, मेरे आत्म-सखा !"

फिर माकी ओर लक्ष्यकर बोले—

"रोओ मत मा, मेरे पापका प्रायश्चित्त मुझे ही करने दो—। जल्दी बताओ, निर्वासितकर तुमने उसे कहा भेजा है ?"

रानीने धरतीमें मुह डुबाये ही उत्तर दिया—

"महेद्रपुर उसके पिताके घर।"

"उठो प्रहस्त, अश्व-शालामें चलकर तुरत वाहन प्रस्तुत करो, चिंताका समय नही है।"

प्रहस्त उठकर चले गये। कुछ देर द्रुत-पगसे कुमार, कक्षमे इधरसे उधर टहलते रहे—फिर तुरत झपटते हुए कक्षसे बाहर हो गये। मा और पिता बेकाबू होकर रो उठे और जाकर पुत्रके चरण पकड लिये।—झटकेके साथ पैर छुडाकर पवनजय द्वारके बाद द्वार पार करते चले गये। राहमें प्रतिहारियो और राज-कुलकी महिलाओने अपने वक्ष बिछाकर उनकी राह रोकनी चाही, कि उसपर पैर धरकर ही वे जा सकते है। पवनजय एक झटका-सा खाकर रुक गये, पीछे लौटकर देखा, और दूसरे ही क्षण रेलिंग फादकर अलिंदके छज्जेपर जा उतरे और अपलक नीचे कूद गये . . . । महलमे हृदय-विदारक रुदन और विलापका कोहराम मच गया। चारो ओरसे प्रतिहार और सेवक दौड पडे, पर राजागनमे कही भी कुमारका पता न चला !

[ ३२ ]

रातकी असूझ तमसाको चीरते हुए दो अश्वारोही, प्रभजनके वेगसे महेंद्रपुरकी ओर बढ रहे हैं। आगे-आगे दीर्घ मशाल लेकर एक मार्ग-दर्शक सैनिकका घोडा दौड रहा है। शीतकालकी हड्डी कँपा देनेवाली

हवायें विरहिणीके रुदन-सी दिगतमें भटक रही है। घोडोकी टापोके अविराम आघात ही उस गुजान शून्यको विदीर्ण कर रहे है। दूर-दूरसे शृगालो और वन-पशुओके समन्वित रुदनकी पुकारे रह-रहकर सुनाई पडती है। कही किसी खेतकी मेढपर कोई कुत्ता ढीठ स्वरमें भूक उठता है। सुदूर अधकारमे किसी ग्रामके घरका एकाकी दीप झलक जाता है। प्रियाके बाहु-पाशका ऊष्म आश्वासन हृदयको गुद-गुदा देता है। तभी कही राहके किसी पुरातन वृक्षकी कोटरमे उल्लू बोल उठता है।—अश्वारोहियोंके माथेपरसे कोई नीडहारा एकाकी पछी श्लथ पखोसे उडता हुआ निकल जाता है। दूर जाकर सुनाई पडती है उसकी आर्त और विकल पुकार।

दोनो अश्वारोहियोके मनोके बीच एक अथक शक्तिका स्रोत वह रहा है। उनके सारे सकल्प-विकल्प खोकर,.उसी मौन प्रवाहके अश बन गये है।—पर इस सक्रमणमें पवनजय नितात अकेले पड गये है। धरती उलटकर उनके माथेपर घूम रही है, और तारोभरे आकाशका अथाह शून्य उनके अश्वकी चापो तले फैल गया है। ग्रह-नक्षत्रोके सघर्षोंमें उनकी राह रुध जाती है।—प्राणका अस्त्र फेंककर वे घोडेको एड देते है। एक नक्षत्रको पीछे ठेलकर वे दूसरेपर जा चढते है।—देखेगा, वह कौन शक्ति है जो आज उसकी राह रोकेगी!

×××सवेरे काफी धूप चढनेपर महेंद्रपुरके सीमस्तभके पास आकर वे दोनो अश्वारोही उतर पडे। मार्गसे परे हटकर, एक एकात वृक्षके नीचे जाकर उन्होनें विराम लिया।—दूरपर महेंद्रपुरके प्रासाद-शिखरोकी उडती पताकाए दीख रही है। एक साधभरी वेदनाकी उत्सुक और विधुर दृष्टिसे पवनजय उस ओर देखते रह गये। फिर एक दीर्घ निश्वास ओठोमें दबाकर बोले—

"जाओ भाई प्रहस्त, मेरे पाप-पुण्योके एकमेव सगी, तुम्ही जाओ।—जाकर देवीसे कहना, कि अपराधी इस बार फिर नरम

अपराध लेकर आया है—प्राणका भिखारी बनकर वह उसके द्वारपर खड़ा है। यह भी कहना कि अब इस अपराधकी आवृत्ति नहीं होगी—उसके मूलोच्छेदका सकल्प लेकर ही पवनजय इस बार आया है! मुझे विश्वास है, वह नटेगी नहीं, रोष भी नहीं करेगी। इनकार तो वह जानती ही नहीं है, वह तो देना ही जानती है। जाओ भैय्या—जल्दीसे जल्दी मेरा जीतव्य लेकर लौटो . "

कहकर पवनजय वृक्षके तनेके सहारे जा बैठे।

प्रहस्तने फिर घोड़ेपर छलाग भरी और नगरकी राह पकड़ी। सैनिकने पासके वृक्षोंके मूलमे दोनो घोड़े बाध दिये और स्वामीकी आज्ञामें आ बैठा।

नगर-तोरणके बाहरकी एक पाथ-शालामे जाकर प्रहस्त घोड़ेसे उतर पड़े। घुड़सालमें घोड़ा बाधकर, एक भृत्यके द्वारा पाथ-शालाके रक्षकको बुला भेजा। रक्षकके आनेपर, उसे एक ओर ले जाकर उन्होंने उसे कुछ स्वर्ण-मुद्राए भेंट की और कहा कि वह साथ चलकर उन्हें राज-अत.पुरके द्वारपालसे मिलादे। उन्होंने उससे यह भी कह दिया कि राज-मार्गसे न जाकर वे नगर-परकोटके रास्तेसे ही वहा तक पहुचना चाहेंगे। रक्षकने यथादेश प्रहस्तको अत पुरके सिह-तोरणपर पहुचा दिया, और उनके निर्देशके अनुसार द्वार-पालको जाकर सूचित किया कि कोई विदेशी राज-दूत किसी गोपनीय कामको लेकर उनसे मिला चाहता है। द्वारपालने तुरत प्रहस्तको बुला भेजा। यथेष्ट लोकाचारके उपरात, प्रहस्तने एकातमें चलकर कुछ गुप्त वार्ता-लाप करनेकी इच्छा प्रकट की। द्वारपाल पहिले तो सदिग्ध होकर, कुछ देर उनकी अवज्ञा करता रहा, पर प्रहस्तके व्यक्तित्वको देखकर उनका अनुरोध टालनेकी उसकी हिम्मत न हुई।—एकातमें जाकर प्रहस्तने अपना मतव्य प्रकट किया। बताया कि वे आदित्यपुरके राजा प्रह्लादके गुप्त-चर है, और महाराजका एक अत्यत निजी और गुप्त सदेश वे युवराज्ञी अजनाके लिये लाये है, वे स्वय

ही उनसे मिलकर अपना सदेश निवेदन किया चाहते है, अतएव बडा अनुग्रह होगा यदि वे तुरत उन्हें युवराज्ञीके पास पहुचा सके—। कहकर अपने गलेसे एक मुक्ताकी एकावली उतारकर उन्होंने भेटस्वरूप द्वारपालके समुख प्रस्तुत की।

द्वारपाल सुनकर सन्नाटेमें आ गया। उसने अपने दोनो कान मीच लिये। एक गहरी भीति और आश्चर्यकी दृष्टिसे पहले वह सिरसे पैरतक प्रहस्तको देखता रहा। फिर शकित और आतकित दबे स्वरमें बोला—

" विदेशी युवक, तुम मुझे धोखा नही दे सकते।—साफ है कि तुम झूठ बोल रहे हो, तुम आदित्यपुरके दूत कदापि नही हो सकते। मूर्ख, तुम्हें यह भी नही मालूम कि कलकिनी अजना श्वसुर-गृह और पितृ-गृह दोनो ही मे तज दी गई है—! उस बातको भी कई महीने बीत गये। सावधान विदेशी, अपने प्राण प्यारे हो तो इस नगरकी सीमा छोडकर इसी क्षण यहासे चले जाओ। इस राज्यमें यह आज्ञा घोपित हो चुकी है कि कोई भी नागरिक यदि पुश्चली अजनाको शरण देगा या उसकी चर्चा करता पाया जायगा, तो उसे प्राण-दडकी शिक्षा होगी।—चुपचाप यहासे चले जाओ, फिर भूलकर भी किसीके सामने अजनाका नाम न लेना "

उल्टे पैर प्रहस्त लौट पडे। उनका मस्तक चकरीकी तरह घूम रहा था। राहमें रक्षकके कधेपर हाथ रख वे अथावुध चल रहे थे। लगता था कि पैर शून्यमें पड रहे है। चेतना चुक जाना चाहती है। यह निष्ठुर वार्ता भी अपनी इसी जबानसे पवनजयको जाकर सुनानी होगी—? हायरे दुर्दैव, पराकाष्ठा हो गई।—नही, इस शरीरमे अब यह भीषण कृत्य कर सकनेकी शक्ति नही रह गई है। यह सवाद लेकर पवनजयके सामने जानेकी अपेक्षा, वे राहकी किसी वापीमें डूब मरना चाहेंगे। पर अगले ही क्षण लगा कि वे कायर हो रहे है। दुखसे भयभीत और कातर

होकर, इस प्राणांतक आघातके सम्मुख मित्रको अकेला छोडकर भागनेका अपराध उनसे हो रहा है।

पाथशालामे पहुचकर प्रहस्तने बिना विलव किये अश्व कसा। अजनाके सबधमे और भी जो कुछ वे रक्षकसे जान सकते थे—वह जान लिया। फिर नियति-दूतकी तरह कठोर होकर घोडेपर सवार हो गये और नगर-सीमकी राह पकडी।

प्रहस्तको दूरपर आते देख, अधीर पवनजय उठकर आगे बढ आये। मित्रका उदास और फक् चेहरा देखकर पवनजयके हृदयमें खटका हुआ।—अपनी जगहपर ही वे ठिठक रहे।

घोड़ेसे उतरकर प्रहस्त दूरपर ही गडेसे खडे रह गये। माथा छातीमे धँसा जा रहा है। वक्षपर दोनो हाथ बँधे है। और टप्-टप् आसू टपककर भूमिपर पड रहे हैं।

व्यग्र और कपित स्वरमें पवनजयने पूछा—

"प्रहस्त यह क्या ?"

और ओठ खुले रह गये। सिर उठाकर भर्रा आते कठको कठिनकर तीव्र स्वरमें प्रहस्त बोले—

"कहूगा भाई कहूगा हृदयोको बीधनेके लिये ही विधाताने मुझे अपना दूत बनाकर धरतीपर भेजा है! अपनी भाग्यलिपिका अतिम सदेश सुनो, पवन!—त्यक्ता और कलकिनी अजनाके लिये पितृ-गृहका द्वार भी नही खुल सका। आजसे पाच महीने पहले एक सध्यामें वह यहा आई थी। पिताने मुह देखनेसे इनकार कर दिया। पितृ-द्वारसे ठुकराई जाकर वह जाने कहा चली गई है, सो कुछ ठीक नही है। पितासे छुपाकर, माके अनुरोधसे उसके सारे भाई गुप्त रूपसे दूर-दूर जाकर उसे खोज आये, पर कहीं भी उसका पता न चला।—महेद्रपुरके राज्यमे अजनाका नाम लेनेपर प्राण-दडकी आज्ञा घोषित कर दी गई है, पवन ..!"

प्रलयकालके हिल्लोलित समुद्रके बीच अचल मदराचलकी तरह स्तब्ध पवनजय खडे रह गये—! प्रहस्त आखें उठाकर उन्हें देखनेका साहस न कर सके। जाने कितनी देर बाद एक दीर्घ नि श्वास सुनाई पडा। गभीर वेदनाके स्वरमें पवनजय बोले—

"सच ही कह रहे हो, सखे! . मुझ पामरकी यह स्पर्धा—कि अपने इगितपर मै उसे पाना चाहता हू?—उसे देवी कहकर अपनी चरण-दासी बनाये रखनेका मेरा वचक अभिमान अभी गला नही है। अक्षम्य है मेरा अपराध, प्रहस्त,—उसे पानेकी बात दूर, मै उसकी छाया छूनेके योग्य भी नही हू। इसीसे वह चली गई है मर्त्योके इस माया-लोकसे दूर वहुत दूर "

कुछ देर चुप रहकर कुमार फिर बोले—

" अच्छा प्रहस्त, जाओ—अब तुम्हें कष्ट नही दूगा। जिस लोकमें सतीके सत्यको स्थान नही मिल सका, उसमें लौटकर अब मै जी नही सकूगा।—इन प्राणोको धारण करनेवाली धरित्री जहा गई है, वही जाकर इन्हें अवस्थिति मिल सकेगी। उसे छोडकर सारी सृष्टिमें पवनजयका जीना कही भी सभव नही है। . जाओ! भैय्या . मै चला "

कहकर पवनजय लौट पडे और सैनिकको अश्व प्रस्तुत करनेकी आज्ञा दी। झपटकर प्रहस्तने पवनजयको बाहमे भर लिया और उनके कधेपर माथा डाल विलख-विलखकर रोने लगे .

" नही पवन नही, यह नही होने दूगा . .। बचपन मत करो मेरे भैय्या । उदयागत अशुभको झेलकर ही छुटकारा है। तीर्थंकरो और शलाका पुरुषोको भी कर्मने नही छोडा है—तो हमारी क्या बिसात। भव-भवके प्रबल अतरायने तुम्हें यह आजन्म विच्छेद दिया है।—भाग्यसे होड बदनेकी बाल-हठ तुम्हें नही शोभती, पवन ।"

"ओह, प्रहस्त—तुम्ही बोल रहे हो—या लोककी मायाका प्रेत तुममेंसे बोल रहा है ? भाग्यसे पराजित होकर—उसके विधानको छातीपर धारणकर—उसकी दयाके अधीन मुझे जीनेको कह रहे हो,—प्रहस्त ?. और तीर्थंकरो और शलाका पुरुषोने क्या उस कर्मके चक्रको लात मारकर नही तोड दिया। क्या उन्होने सिर झुकाकर उसे सह लिया ? दैवपर पुरुषार्थकी विजय-लीला दिखानेके लिये ही वे पुरुष-पुगव इस धरतीपर अवतरित हुए थे। इसीसे आजतक मुक्ति-मार्गकी लीक अमिट बनी है। वही हमारी आत्माकी पल-पलकी पुकार है।—उसे दबाकर अकर्मण्य होनेकी बात तुम कह रहे हो. ?

"—मोह मत करो, प्रहस्त, कर सको तो मुझे प्यार करो, भैय्या। हँसते-हँसते मुझे जानेकी आज्ञा दो—और आशीर्वाद दो कि लक्ष्मीको पाकर ही मै फिर तुम्हारे पास लौटू। किसी प्रबलसे प्रबल बाधाके समुख भी मै हार न मानू।—मानवी पृथ्वीके अतिम छोरोतक मै अजनाको खोजूगा—। यदि कुलाचल भी मेरे मार्गकी बाधा बनकर समुख आयेंगे, तो उनका भी उच्छेद करूगा। ग्रह-नक्षत्रोको भले ही अपनी चालें उलटनी पडें, पर पवनजयका मार्ग नही रुधेगा। एक नही, सौ जन्मोमें सही, पर पवनजयको उसे पाकर ही विराम है।

"..एक जन्मके भाग्य-बन्धनको तोडकर जो पुरुषार्थ अपनी प्रियाको नही पा सकता, निखिल कर्म-सत्ताको जीतकर वह मुक्ति-रमणीके वरणकी बात कैसे कर सकता है—? यह मेरे अस्तित्वका अनुरोध है, प्रहस्त, इसे दबाकर तुम मुझे जिलानेकी सोच रहे हो ?"

एक अनोखी आनद-वेदना से विह्वल हो प्रहस्तने बार-बार पवनजयका लिलार चूम लिया—और हारकर दूर खडे हो गये। आसू उनकी आखोसे उफनते ही आ रहे है, एकटक वे पवनजयका उस क्षणका अपूर्व तेजस्वी रूप देख रहे थे—। रण-क्षेत्रमे शस्त्रार्पणके उपरात जो

प्रखर तेज विजेता पवनजयके मुखपर प्रकट हुआ था, वह भी इस मुखकी कोमल-करुण दीप्तिके समुख प्रहस्तको फीका लगने लगा।

"अच्छा भैय्या, आज्ञा दो, चलू---! पहली ही बार तुमसे अनिश्चित कालके लिये विदा हो रहा हू। विदाके मुहूर्तमें दुर्बल मोह न दो, भैय्या, वलवान प्रेमका पाथेय दो"

कहकर पवनजयने नीचे झुक प्रहस्तके पैरोंकी धूल लेकर माथेपर लगा ली। प्रहस्तने तुरत झुककर दोनो हाथोसे कुमार को उठा लिया। सिरपर हाथ रखकर वे इतना ही कह सके---

"जाओ पवन प्रियाके आचलमें मुक्ति स्वय साकार होकर तुम्हें मिले।"

×××आसुओमे डूबती आखोसे प्रहस्त और सैनिक देखते रह गये दूरपर घोडेकी चापोसे उडती धूलमे, पवनजयके मुकुटकी चूडा ओझल होती दिखाई पडी।

## [ ३४ ]

अश्वारूढ पवनजय, निर्मम और उद्दड, एक ही उडानमें योजनो लाघ गये।---दूर-दूरतक नजर फेंकी---दिशि-दिशातरमें कही कोई आकर्पण नही है, कही कोई परिचय या प्रीतिका भाव नही है। लोकमे सत्यकी ज्योति कही भी दिखाई नही पड रही है। सारे विश्वासोके वधन जैसे टूट गये है। एक गभीर अश्रद्धा और विरक्तिसे सारा अतस्तल विपण्ण हो गया है।---मानवकी इस पृथ्वी और आकाशकी अवहेलना-कर, आज वह क्षितिजकी नीली साकल तोडेगा . ! वही मिलेगी, लोकसे परे, शून्य वात्यालोकमे, आलोककी असड लौ-सी दीपित वह प्रियतमा। एक नया ही विश्व लिये होगी वह अपनी उठी हुई हथेलीपर। उसी विश्वमें वह नव-जन्म पायेगा .। वही जाकर

छुपा है उसका सत्य। आस-पासकी जगतीसे सत्यकी सत्ता ही मानो निःशेष हो गई है। उसके जीवनको आश्रय देनेकी शक्ति ही मानो इस लोकमें नही है।—भीतरका संवेग और संवेदन और भी तीव्र हो गया। उद्धत और दुरत होकर फिर घोडेको एड दी।—आत्महारा और लक्ष्यहीन तरुण फिर निर्जीव शून्यमे भटक चला। पुराने दिनोकी निःसार कलना फिर हृदयको मथने लगी। गतिके इस नाशक प्रवेगमे शरीरपर भी वश नही रहा।

एकाएक कुमारके हाथसे वल्गा छूट गई। घोडा अपने आप धीमा पड चला। अनायास ही आस-पासकी धरतीपर दृष्टि पटी। श्रीहीन और करुण-मुखी पृथ्वी विरह-विधुरासी लेटी है—आकाशके शय्या-प्रातमें लीन होती हुई। वृक्षोकी शाखाओमे एक भी पल्लव नही हैं। पत-झरकी धूल उडाती हवामें पीले पत्ते उड रहे हैं। दिशाए धूसर, और अवसादसे मलिन है। दूरकी एक शैला-रेखापर अजन छाया घनी हो गई है। ऊपर उसके दूध-पीते शिशु-सा एक बादल-खड पडा है। और उससे भी परे किसी तरुके शिखरपर, साध्य-धूपकी एक किरण ठहरी है।

.. पवनजयके मनका सारा औद्धत्य और निर्ममता, क्षण मात्रमे पिघल चले। एक निगूढ आत्म-वेदनाकी करुणासे मन-प्राण आविल हो गया। सामने राहके किनारे जाता एक प्रवासी कृषक दिखाई पडा। कांधेपर उसके हल है, श्रात और क्लात, पसीनेमें लथ-पथ, धूलभरे पैरोंसे वह चला आ रहा है।—कुमार उसके पास जा विनतीके स्वरमें बोले—

"हलधरबंधु! बहुत थक गये हो। मुझ विदेशीका उपकार करो। लो यह घोडा लो—मेरा यह मुकुट लो—इसका भार अब मुझसे नही ढोया जाता। अपनी पगडी और अगा मुझे दे दो भाई, तुम्हारा बहुत-बहुत कृतज्ञ हूगा!"

हल-धर चौंका। समझ गया कि कोई राज-पुरुष है, पर क्या वह पागल हो गया है? विमूढ हो वह ताकता रह गया। क्या बोले, कुछ समझ न आया। सोचा कि शायद आज भाग जागा है। कुमारने उसके अगा और पगडी उतारकर आप पहन लिये। अपने हाथसे उस कृषकके माथेपर मुकुट बाधा, और अपने बहुमूल्य वस्त्राभरण उसे पहना दिये। घोडेकी वल्गा उसके हाथमें थमा दी।

"उपकृत हुआ हल-धर बधु—!"

कहकर उसके पैर छुए और बोले—

'अच्छा विदा दो,—कष्ट दिया है, अपना ही अतिथि जान क्षमा कर देना"

कृषक अचरजसे आखे फाड देखता रह गया। विदेशी राजपुरुष चल पडा अपनी राहपर, और मुडकर उसने नही देखा ।

राज-मार्गपर पवनजयको असख्य चरण-चिह्न दीख पडे।—अनत काल बीत गये है, कोटि-कोटि मानव इस पथपर होकर गये है। उन पद-चिन्होमे कुमारको प्रियाके चरणोका आभास हुआ। निश्चय ही इसी राह होकर वह गई है । झुककर वे एक-एक चरण-चिह्नका वदन करने लगे, चूमने लगे, वलायें भरने लगे।

प्रियाके अन्वेपणमें वातुल और विक्षिप्त राज-पुत्र देश-देशातर घूम चला। अकिंचन और सर्वहारा वह दिवा-रात्रि चल रहा है—अश्रात और अविराम। नाना रूप और नाना वेप धरकर, वह देश-देशमें, ग्राम-ग्राम और नगर-नगरमे, हाटमे और वाटमे, नदियोके घाटमें, प्रियाको खोजता फिरता है। कही तमाश-गीर वनकर तमाशे दिखाता, कही माली वनकर नगरके चौराहोमे भाति-भातिके पुष्पाभरण वेचता। कभी रत्न अथवा कला-शिल्पकी वस्तुए लेकर राज-अत पुरोमे पहुच जाता। रानिया, राज-वधुए और राजकन्याए, इस मनमोहन और आवारा कलाधरको देखकर भौचक रह जाती। उसकी कला-सामग्री यो ही फैली रह जाती,

और वे रमणिया उसके देश और उसके घरका पता पूछने लगती, उसके बारेमें अनेक गोपन जिज्ञासाओसे उनका मन भर आता। निरीह और अज्ञान कलाकार बडी ही बेबस और दीन हँसी हँस देता। निर्दोष और विचित्र पहेलियो-भरी आखोसे वह उनकी ओर देखता रह जाता। वह कहता कि घर ?—घर तो उसका कही नही है—जिस झाडके नीचे, जिस मनुष्यके द्वारपर वह रात बिता देता है—वही उसका घर है। राहके सगी ही उसके आत्मीय है—वे मिलते है और बिछुड भी जाते है। धरती और आसमानके बीच सब कही उसका देश है—। कहासे आया है और कहा जायगा, सो तो वह स्वय भी नही जानता है—। महलोके सुखमे बेसुध रहनेवाली बधुए और कन्याए, आत्माके चिरतन बिछोहसे भर आती। कलाकार उनकी सहानुभूति और ममता-मायाका बदी बनाकर राज-चित्रशालामे बद कर दिया जाता। उससे कहा जाता कि जब और जैसी उसके जीमे आये चित्र-सारी करे और वही रहे, अपनी मनचाही वस्तु वह माग ले। नाना भोजन-व्यजन और वसन-भूषण ले, एक-एककर वे चुपके-चुपके आती। उसका मन और उसकी चितवन अपनी ओर खींचनेकी जाने कितनी चेष्टाए अनजानमे कर जाती। उसका एक बोल सुननेको घटो तरसती खडी रह जाती। पर विचित्र है यह कलाधर—जाने कहा भूला है ? सारी भोग-सामग्रिया विफल पडी रह जाती है। राजागनाओके सारे हाव-भाव, लीला-विभ्रम निरर्थक हो जाते है। वह तो आख उठाकर भी नही देखता है। अन्य-मनस्क और भ्रमित-सा चित्रशालाके अलिंद-वातायनमें बैठा वह क्षितिज ताका करता है—। तो कभी-कभी वहाकी विशाल दीवारोपरके बहुमूल्य चित्रोपर सफेदा पोतकर उनपर अपनी ही विचित्र सूझके ववीले चित्र बनाया करता है। इन चित्रोमे न कोई तारतम्य है और न कोई सुनिश्चित आकृति ही है !—फिर भी एक ऐसा प्राणका प्रकाश उनके भीतर है कि प्रत्येक मनके सवेदनोंके अनुरूप परिणत होकर ये चित्र, जाने कितनी कथाएं कहने

लगते हैं। उनमें पृथ्वी, आकाश, नदी, पहाड, वृक्ष, पशु-पक्षी, मनुष्य सब कल्पनाके अनुसार अपने आप तैर आते हैं।

और एक दिन पाया जाता है कि चित्रशाला शून्य पडी है और कलाकार चला गया है! अपने साथ वह कुछ भी नही ले गया है—साथ लाई वस्तुए भी नही—! द्वार-कक्षमें उसकी पादुकाए भी वैसी ही पडी रह गई है—। दीवार के उन धवीले चित्रोके प्रसारको जब अत पुरकी रमणिया ध्यानसे देखने लगी, तो उस रग-रेखाओके विशाल आवरणमे, प्रकृतिकी विविध रूपमयताका घूघट ओढे एक अनन्यतमा सुदरीकी भावभगिमा झलक जाती है—वे रमणिया दातो तले उगली दाब लेती। एक अचित्य वेदनासे उनका हृदय भर आता है। अपने-अपने कक्षके दर्पणके सामने जा अपना रूप निहारती है—और उस सौदर्यकी झलक अपने भीतर पानेको तरस-तरस जाती है!

राह चलता प्रवासी ग्रामके किसी कृषक अथवा ग्वालेके यहा नौकरी कर लेता। दोपहरीमें गाय-भेड चराने किसी पहाडकी हरी-भरी तलहटीमे चला जाता। उन चौपायोकी आखोमें आखें डाल उनसे मन-मानी बातें करता। उनकी निरीह मूक दृष्टिकी भाषाको वह समझ लेता। गले और भुजाओमें भर-भरकर उनसे दुलार करता, घटो उनके लोमोको सहलाया करता। कभी पहाडकी चोटीपर चला जाता और वहा किसी दुर्गम ऊचाईपर वनस्पतियोकी सुरभित छायामें बैठकर बशी बजाता। उस तानके दर्दसे जड-चेतन हिल उठते। आस-पासके जगली युवक-युवतिया पहाडके ढालमें इधर-उधरसे निकल आते, और अपनी जगहपर चित्र-लिखे-से रह जाते। प्रवासीको अपनी अध-मुदी आखोसे सजल रोओमें दीखता—अनेक विलक्षण जीव-जतुओकी सृष्टि उसके पैरोके आस-पास घिर आई है, भालू है तो नील-गाय भी है, कही व्याघ्र है तो हिरन भी है, झाडकी डालमें मयूर आ बैठा है तो पैरो तलेकी बाबीसे भुजगम भी निकल आया है। भयकर और सुदर, अबल और सबल सभी

तरहके जीव अभय और विमुग्ध होकर वहां मिल बैठे हैं। और वशी बजाते-बजाते वह स्वय जाने कब गहरी सुषुप्तिमें अचेत हो जाता। साझ पड़े जब नींद खुलती तो चौपायोंको लेकर घर लौट आता। दो-चार दिन टिका न टिका और किसी आधी रात उठकर फिर प्रवासी आगे बढ़ जाता।

राहके ग्राम-नगरोंके बाहर पनघट, घाट और सरोवरके तीर बैठ वह जादूगर बनकर चमत्कार दिखाता। देश-देशकी अद्भुत वार्ताएं सुनाता विचित्र और दुर्लभ वस्तुए दिखाता। भान भूलकर पुर वधुए और ग्राम-रमणिया आस-पास घिर आती। मोहित और चकित वे देखती रह जाती। आकुल और वातुल नयनोंसे प्रवासी जादूगर सबको हेरता रह जाता। उनकी लीलायित आखोंके समोहनमें प्रियाकी छवि तैरकर खो जाती। उसकी आखे आसुओसे भरकर दूरपर थमी रह जाती। उसे दीन, आश्रयहीन और आत्मीयहीन जान, रमणिया मन ही मन व्यथित हो जाती। जादूगर अपनी चीज़-वस्तु समेट पोटली कधेपर टाग, अपनी राह चल पड़ता। सहानुभूतिसे भरकर वे वधुए अपने कठ-हार और मुद्रिकाए उसके सामने डालकर कहती—'जादूगर, हमारी भेंट नहीं लोगे ?'। प्रवासी मौन और भाव-शून्य पीठ फेरकर अपने पथपर बढ़ता ही जाता। आभरण धूलमे मिलते पड़े रह जाते। स्त्रिया सजल नयन ताकती रह जाती। जलका घट उठाकर घर लौटनेका जी आज उनका नही है। क्या करके वे इस प्रवासीको आश्रय दे सकती है ?

पर निर्मम प्रवासी उनके हृदय हरकर चला ही जाता। चलते-चलते सध्या हो जाती। मलिन और पीले आलोकमें नदीकी शीर्ण रेखा दिखाई पड़ती। उसके निर्जन तीरपर जाकर, वह नदीके जलमें अपनी छाया देखता। देश-देशकी धूप-छाया, सुख-दुख और मनोवार्ता लेकर यह नदी चली आ रही है। जाने कब किस निस्तब्ध दुपहरीमें वन-तुलसीसे छाये इस घाटमें बैठकर उसकी प्रियाने जल पिया होगा, इस नदीकी

धारामे उतरकर वह नहाई होगी—। निविड समोहनसे भरकर वह नदी-की धारामें डुवकी लगा जाता। उसके वहते हुए प्रवाह को अपने भीतर समा लेनेको वह मचलता रहता। रात-रात भर वह श्वास रोककर नदीकी धारामे पडा रहता और तारो भरे आकाशकी ओर ताका करता। सवेरेके फूटते आलोकमें पाता कि ऊपर फैली है, अतहीन शून्यकी वही निश्चिह्न और अथक नीलिमा! और आस-पास स्वर्ण-परियो-सी चपल लहरे, हसती वलखाती उसका मज़ाक करती हुई चली जा रही है—? फिर झुझलाकर प्रवासी आगे चल पडता।

दिन-दिन कुमारका उन्माद सज्ञासे परे होता चला। हृदयकी गोपन-व्यथा अब छुपाये न छुप सकी। लोकालयके द्वार-द्वार घूमकर, एक स्वर्ग-च्युत देवकुमार-सा मलिनवेशी युवा, अजना नामा राज-कुमारी-की दुःख-वार्ता सुनाने लगा। पूछता कि क्या उनके घर कभी वह आई थी? क्या ऐसे रूप और ऐसे वेशमें, उस दीर्घ-केशी प्रियाको उन्होने कही देखा है?—क्या उसके कधेपर कोई शिशु था? पूछते-पूछते वह विचित्र पथी रो देता और भाग निकलता—। लोग उसके पीछे दौडकर उसे पकडना चाहते, पर देखते-देखते वह दृष्टिसे ओझल हो जाता।—पवनजयकी दिगत-जयिनी कीर्ति लोकमें सूर्यकी तरह प्रकाशित हो गई थी। आदित्यपुरकी कलकिता और निर्वासिता राज-वधूकी करुणकथा भी घर-घरमे लोग आसू भरकर कहते-सुनते थे। भेद खुलनेमें देर न लगती—। जन-जनके मुहपर उडता हुआ, देश-देश और द्वीप-द्वीपमें, अजनाकी खोजमें भटकते पवनजयका वृत्त फैल गया—।

समयका भान भूलकर यो निर्लक्ष्य भ्रमण करते पवनजयको महीनो बीत गये। उसे निश्चय हो गया कि मनुष्यकी जगतीमें अजना कही नही है। वह उसका अज्ञान था और उसकी भूल थी कि उसी लोकालयमें वह उसे खोजता रहा, जहाके नीति-नियम और व्यवस्थामे अजनाको कोई स्थान नही था। नही उसने नही स्वीकारा होगा अब इस

देहकी कारा को—। जिस देहमे जन्म लेकर परित्यक्ता, कलकिता और निर्वासिता होकर, सारे जगतका तिरस्कार ही उसे मिला है, अवश्य ही उस देहके सीमा-बधनोको तोडकर अब वह चली गई होगी अपनी ही मुक्तिके पथपर।—उस अनाथा और नि सहाय गर्भिणीने निरतर दुखके आघातोंसे जर्जर होकर, अवश्य ही किसी विजन एकातमे प्राण त्याग दिये होगे—।

वह निकल पडा निर्जन वन-खडोमे। कुलाचलोके उच्छेद करनेकी बात उसे भूल गई है। ग्रह-नक्षत्रोकी गतिया उलटनेका दावेदार वीर्य निर्वेद और निस्तरग होकर सो गया है। विजयोद्धत होकर कई बार उसने इस पृथ्वीको गूधा है, लाघा है, पार किया है। पर आज उसे जीतनेका भाव उसके मनमे नही है। पासमे शस्त्रास्त्र नही है, यान भी नही है और कोई वाहन भी नही है।—विद्याओका बल, भुजाओका बल और लोकका हृदय जीतनेवाली महामहिम गरिमा—सब कुछ विस्मरण हो गया है। सब कुछ धूल और मिट्टी होकर पैरोमे पडा है—। नितात पराभूत, असहाय, निरुपाय, एक निरीह और अनाथ बालक-सा वह भटक रहा है। अपना कहनेको कुछ भी नही है उसके पास। सारी काक्षाए-कामनाए, कल्पनाए, सकल्प-विकल्प—सब नि शेष हो गया है। मुक्ति और बधनका विकल्प ही जब मनमे नही रहा है, तो मुक्ति-रमणीके वरणका क्या प्रश्न हो सकता है ?

निपट अज्ञानी और भाव शून्य होकर वह वन-वन फेरी दे रहा है।—वृक्ष-वृक्ष, डाल-डाल और पत्ती-पत्तीसे वह प्रियाकी बात पूछता फिरता है। पृथ्वीके विवरोमें मुह डालकर घटो अपनी श्वाससे उसकी गधको पीता रहता है। जड-जगम, पशु-पक्षी, कीट-पतग, दीमक, सबके अतरतममें झाक रहा है। अनायास ही सबके अपनत्वका लाभ वह पा गया है। बाहरसे वह जितना ही विरही, विसग और एकाकी है, भीतर उतना ही सर्व-गत और सर्व-सगत होता जा रहा है। जिस विह्वलतासे वह कली और किशलय-

को चूमता है, उसी तरहसे वह तीखे काँटों और नुकीले काँटोंको भी चूम लेता है। ओठोंसे रक्त झर रहा है, आँखोंसे आँसू बह रहे हैं। अंग-अंगके क्षतोंसे फूट रहे रक्तमें प्रियाके अरुण ओठोंके चुम्बन खिल उठते हैं। सुगम और दुर्गमकी कोई सतर्कता मनमें नहीं है। सारी अगम्यताओं और अवरुद्धताओंमें वह अनायास पार हो रहा है। वह तो मात्र एक सतत गतिमान प्राण भर रह गया है। पहाड़की ये नागिनी चट्टानें जितना ही कठिन अवरोध देती हैं, उतना ही अधिक जोर देकर वह उनके भीतर भिद जाना चाहता है। छिन-छिनभर उन ठण्डे पाषाणोंसे लिपटा वह पड़ा रहता है—कि उनमें अपनेको मिटाकर इस समूचे भूधरके सारे जड़-जगतमें जीवन-रस बनकर वह फैल जायगा। इन पार्वतीय नदियोंके तटोंमें वह अपनेको गला देना चाहता है, कि इनके प्रवाहमें मिलकर मानवीय पृथ्वीके जाने किन दूर-दूरान्त छोरोंमें वह चला जायगा—। तटवर्ती प्रदेशोंके जाने कितने गिरि-वन, पशु-पक्षी और लोकालयोंको वह जीवन-दान करेगा, उनके सुख-दुखों, प्यास-तृष्णाओंका पार पाकर, अपनी चिर दिनकी विरह वेदनाको शान्त करेगा।

कभी किंचित् संज्ञा जाग उठती है तो नाना आवेदनों और निवेदनोंमें वह प्रियाको पुकार उठता है—

" रानी—मेरे अपराधका अंत नहीं है। पर अपनेको मैंने कब रक्खा है। उसी रात तुम्हारी शरणमें मैंने अपनेको हार दिया था। तुम्हारा भेजा ही युद्धपर गया था। तुमने कहा था कि धर्मकी पुकार आई है—जाना ही होगा। पर वहाँ देर हो गई, क्यों हो गई सो तुम्ही जानो। अब और न तरसाओ—अब और परीक्षा न लो। तुम्हारे बिना ये प्राण न मरते हैं, न जी पाते हैं। बहुत ही दीन, अकिंचन और दयनीय हो गया हूँ। क्या अब भी तुम्हें तरस नहीं आयेगा—? पर आह, तुम्हारी अथाह कोमलताका परस जो पा चुका

हूँ—कैसे विश्वास कर सकता हूँ कि तुम इतनी निर्दय हो सकती हो। अपने ही क्षुद्र स्वार्थी हृदयसे तुम्हे तौल रहा हू, मेरी हीनताका तो अत ही नही है। तेरे दु.खोकी कल्पना भी नही कर पाता हू। उनमें झाकने-की वात सोचते ही भय और त्राससे सहम उठता हू। पुरुपका युग-युगका पुरुषार्थ तेरे कष्टोके संमुख फीका पड गया है। किस वुद्धिसे उसकी वात मै सोच सकूगा ? मेरा दुर्बल हृदय टूटकर रुद्ध हो जाता है, तेरी वेदना अनुभव कर सकने जितनी चेतना मुझमें नही है।—पुरुषमें वह कभी भी नही रही है। मुझे खीच लो रानी अपनी उसी स्नेहल गोदमें, जिसमें उस दिन शरण देकर मुझे प्राणदान दिया था. . . नही, अव नही सहा जाता तुम कहा हो .. वोलो वोलो तुम जहा हो वहीसे बोलो मुझे जरूर सुनाई पडेगा ''

दूर-दूरके गिरि-शृगोसे पुकारे लौट आती। और एक दिन अचानक उस प्रतिध्वनिमें उसने प्रियाकी पुकारका कठ-स्वर पहचाना। मानो वह कह रही है—"मै यहा हू मै वहा हू मै तुम्हारे चारों ओर हू अरे मै कहा नही हू . ।"

सुनकर वह पर्वतके सवसे ऊचे शृगपर जा पहुचा। आकाशमे आकुल भुजाए पसारकर उसने चारो ओर दृष्टि डाली। हवाओके झकोरोमें वही ममता भरा आवाहन वार-वार गूजता सुनाई पडने लगा। हृदय तोडकर उसने रो उठना चाहा कि अपने रुदनमें वह आस-पासकी इस नि स्सीम प्रकृतिको, धरती और आकाशको वहा देगा । पर आख खोलते ही पाया कि सुनील अतरिक्ष शिशु-सा सरल उसकी आखोमें मुस्करा रहा है—और हरीतिमाका विपुल स्नेहल आचल पसारकर धरणी उसे वुला रही है। .पा गया .वह पा गया प्रियाको . । विदेह और उन्मुक्त दसो दिशाओमें फैली है उसीके वात्सल्यकी अपार माया !—पहली ही वार समा सका

है इन चर्म चक्षुओमे, प्रियाका वह सागोपाग और अविकल दर्शन ।

वह मचल पडा—वह दौड पडा । देह विस्मरणकर वह पर्वतके शृगसे धरतीकी गोदमें आ पडा । टूटनेको आकुल देहके वध छट-पटाने लगे । हाथ-पैर पसारकर सजल शाद्वल हरियालीसे भरी पृथ्वीसे वह लिपट गया । धरणीके वक्षसे वक्ष दावकर भूमिसात् होनेके लिये उसका रोया-रोया आलोडित हो उठा । नही—अव वह अपनेको नही रख सकेगा । इस मृण्मयीके कण-कण और अणु-अणुमें वह अपनेको विखेर देगा । जन्म-जन्मकी पराजित वासना, चिर दिनकी विरह-वेदना एकाग्र होकर जाग उठी ।

अध और निर्वंध होकर प्रकृतिके विशाल वक्षमें वह अपनेको अहर्निश मिटाने लगा, गलाने लगा । उसकी समूची चेतना एक निराकुल परिरभणके अशेष सुखसे आविल है । वाहरसे जितना ही वह अपनेको मिटा रहा है, भीतर उसके अग-अगमे एक नवीन रक्तका सचार हो रहा है । एक नवीन जीवनके ससरणसे उसकी शिरा-शिरा आप्लावित हो उठी है । अपूर्व रसकी माधुरीसे उसका सारा प्राण ऊर्मिल और चचल है । उसकी मुदी आखें नव-नवीन परिणमन और एक सर्वथा नवीन सृष्टिके सपनोसे भर उठी है । मनके सूक्ष्मतम आवरण-विकारोकी झिल्लिया तोडकर, प्रकृति और अनादि जीवनके श्रोत फूट चले है ।

दिनपर दिन वीतते जाते है । उसकी सुषुप्ति गभीरसे गभीरतर हो रही है । वाहरसे विल्कुल विजडित होकर वह मिट्टीके वने और विपुल आवरणोमे सो गया है । ऊपरसे वन-जूही और कचनारके फूल निरतर उस माटीके स्तूपपर झरते रहते है । उसकी वाहर झाकती अलकोमे सौरभसे मूर्छित साप, वेसुध उलझे पडे रहते है । देश-देशके मिट्टी, जल, वन, फल-फूलका गध लेकर पवन आता है—

कानोमें लोकके नाना सुख-दुख, विरह-मिलनकी वार्ता निरतर सुनाया करता है।—यो दिनपर दिन बीतते चले जाते है—पर पवनजयकी योग-निद्रा नही टूट रही है।

XXX एक वासती प्रभातके नये आलोकमे, एक चिर-परिचित स्पर्शसे सिहरकर उसने आखे खोली देखा राशि-राशि फूलोका अवगुठन हटाकर प्रियाका वही मुस्कराता मुख सामने था—बोली—'जागो ना. रात बीत गई है .।' विस्मित और विमुग्ध, मतिहारा होकर वह देखता रह गया—चारो ओर नव-नवीन पुष्पो और फलोसे आनत, नव-नवीन सुख-सुषमा और सौरभसे मडित अनेक सृष्टिया खिल पडी है। अनावृत और अनाविल सौदर्यका सहस्र-दल कमल फूटा है—और मुस्कराती हुई प्रिया उसका एक-एक दल खोल रही है।

आनदसे आखें मीचकर फिर पवनजयने एक गहरी अगडाई भरी और उठ बैठे। सिरसे पैरतक शरीर मिट्टी, तृण और वनस्पतियोसे लथ-पथ है। आखे मसलकर खोलनेपर पाया कि वे वास्तविक लोकमे है।—दिनोकी गहन विस्मृतिका आवरण, हठात् आखोसे परे हट गया।—वही परिचित वन-खड, वही वृक्ष और दूरपर वही गिरि-शृग है जहासे लुढककर वह यहा आ पडा था। पर वनमे वासतिका छिटकी है। दृष्टि उठाकर उसने अपने आस-पास देखा, चार-पाच मनुष्याकृतिया खडी है। वाहरके इस आलोकसे उसकी आखें अभी चुधिया रही है। उसे कुछ-कुछ परिचित चेहरोका आभास हुआ, पर वह ठीक-ठीक पहचान नही पा रहा है। अपने इन चर्म चक्षुओपर जैसे उसे विश्वास नही रहा है। इतने हीमें उसे लगा कि उसे पकडकर कोई उठा रहा है—

"पवनजय . !"

परिचित कठ ! विद्युत्के एक झटकेके साथ पवनजयको

स्पष्ट दीखा, सामने पिता खडे है—। उनकी बगलमें खडे है राजा महेंद्र और प्रहस्त। मानसरोवरके विवाहोत्सवके बाद राजा महेंद्रको आज ही देखा है, पर पहचानने में देर न लगी। दूरपर दो-एक परिचित राज-सेवक खडे है। उधर एक ओर दो यान पडे है। फिर मुडकर अपने उठानेवालेकी ओर देखा। उस अपरिचित सौम्य चेहरेको वे ताकते रह गये, पर पहचान न सके।

प्रतिसूर्य हसकर स्वय ही अश्रु-गद्गद कठसे बोले—

" चौको नही बेटा, सचमुच तुम मुझे नही जानते।—मै हू अजनीका मामा प्रतिसूर्य, हनुरुहद्वीपका राजा। अजना और तुम्हारा आयुष्मान पुत्र मेरे घर सकुशल है। जबसे तुम्हारे गृह-त्यागका वृत्त सुना है, अजनाने अन्न-जल त्याग दिया है। सज्ञा-हीन और विकल होकर दिन-रात वह तुम्हारे नामकी रट लगाये है। तुरत चलो बेटा, एक क्षण भी देर हो गई तो वह जन्म-दुखियारी तुम्हारा मुह देखे बिना ही प्राण त्याग देगी ।"

पवनजयने सुना, और सुनकर भी मानो विश्वास न कर सके। चौकन्ने और अभिभूतसे वे खडे रह गये। अग-अग उनका काप रहा है—दूरसे आती हुई यह कैसी ध्वनि सुनाई पड रही है। ओठ खुले रह गये है, और पागलकी नाई जडित पुतलियोसे वे प्रतिसूर्यकी ओर ताक रहे है। वृद्ध प्रतिसूर्यके चेहरेपर चौसठ-धारा आसू बह रहे है।

एकाएक पवनजय चिल्ला उठे—

"अजना ? अजना . . ? अजना मिल गई सचमुच वह जीवित है इस लोकमें . ? वह मुझ पापीके लिये रो रही है . . . प्राण दे रही है—आह !"

विह्वल हो पवनजय, प्रतिसूर्यके गले लिपट, फूट-फूटकर रोने लगे।

"रोओ नही बेटा, दीर्घ कष्ट और दुखकी रात बीत गई है। आज ही सुखका मगल-प्रात आया है तुम्हारे जीवनमें। चलो, अब एक क्षणकी

भी देर उचित नही है । चलकर अपनी विछुडी प्रिया और अपने अनाथ पुत्रको सनाथ करो ।"

थोडी ही देरमें पवनजय कुछ स्वस्थ हो चले। सब आत्मीय-जन मिलकर उन्हे पासके एक सरोवरपर ले गये । प्रहस्तने अपने हाथो कुमारको स्नान कराया, हल्के और सुगधित नवीन वस्त्राभरण धारण कराये ।

चलनेको जव प्रस्तुत हुए, तो फिर एक वार कुछ दूरपर लज्जित और नमित खडे, पिता और श्वसुरकी ओर पवनजयकी दृष्टि पडी। कुमारको अनुभव हुआ कि अपनी ही आत्म-लाछना और आत्म-तिरस्कारसे वे मर मिटे है।—तभी दोनो राजपुरुषोने आकर पवनजयके पैर पकड लिये । मूक पत्थरसे वे आ पडे है—शब्दातीत है उनका आत्म-परिताप । केवल उनके हृदयोकी धडकन ही जैसे कुमारको सुनाई पडी । पवनजय घप्से नीचे वैठ गये, धीरेसे पैर समेट दूर सरक गये और व्यथित कण्ठसे बोले—

"पितृजनो, समझ रहा हू तुम्हारी वेदना । पर, क्या भूल नही सकोगे, उस वीती वातको ? मैंने तुम्हें वहुत कष्ट दिये हैं, मैं तो सवके कष्टका कारण ही रहा हू । पर मैं तुम्हारा पुत्र हू—वहुत ही दीन, अवल और अकिंचित्कर हो गया हू । क्या तुम भी पुत्र रूपमें मुझे लौटा नही सकोगे ?"

दोनो राजाओने हिये भरकर कुमारको आलिगन किया और उनकी लिलार सूघ ली ।

शीघ्र ही यान प्रस्तुत किये गये । एक विमानमे राजा प्रतिसूर्य प्रहस्त और पवनजय वैठे । दूसरेमें राजा प्रह्लाद, राजा महेन्द्र और अन्य अनुचर लोग वैठे । थोडी ही देरमें मागलिक घटा-रव और शंखध्वनिके साथ दोनो यान उड़ चले, हनुरुहद्वीपकी ओर ।

जव यान अपनी अतिम ऊचाईपर जाकर स्थिर गतिसे चलने लगा,

तव प्रतिसूर्य, प्रहस्तकी गोदमें सिर रखकर सुखासीन वैठे पवनजयके पास सरक आये। उनके गलेमें वडे ही स्नेहसे दोनो हाथ डाल दिये और गद्-गद कठसे बोले--

"वधाई लो वेटा, कामकुमार और तद्भव मोक्षगामी पुत्रके तुम पिता हो! उसके जन्मके वहुत दिनो पहले ही वन-वासकालमें मुनिने दर्शन देकर अजनाको यह भवितव्य प्रकट किया था। और ठीक जिस दिन अरण्यकी गुफामे अजनाके पुत्र जन्मा और मै उसे लेकर हनुरूहद्वीप आया, उसी दिन तुम्हारी लोक-विश्रुत धर्म-विजयका सवाद सुना । उस घडीकी अजनाकी आनद-वेदना इन्ही आखो देखी है, पर शब्दोमें कह नही सकूगा ।"

वृद्ध चुप हो गये और पवनजयके मुखकी ओर क्षणैक देखते रह गये। सुनते-सुनते कुमारकी आखे मुद गई थी और पक्ष्म आसुओंसे पुलकित थे। भीतर एक गभीर परिपूर्णताके उत्समे विश्वके सारे आह्लाद और विषादकी धाराए एक होकर वह चली है। सुखमें, दुखमें, सयोग और वियोगमे वही एक अनाहत आनदकी वासुरी वज रही है ।

तव सक्षिप्तमे प्रतिसूर्यने अजनाके वनवास और उसके दीर्घ कष्टोकी कथा भी हँसते-हँसते सुनाई। उसके वाद पार्वत्यवनपर अपने विमान अटकनेका योगायोग, और नीचे जाकर अजनाके अनायास मिलन और पुत्र-जन्मका वृत्त कहा। उन्होने यह भी सुनाया कि कैसे अजनाके उस नवजात शिशुकी कातिसे गुफा प्रकाशित हो गई थी। यह भी वताया कि कैसे आकाशमार्गमें, यानसे वालक अजनाके हाथसे छूटकर, पर्वत-शिलापर जा गिरा और शिला खड-खड हो गई--पर वालकको कोई आच नही आई, वह वैसा ही मुस्कराता हुआ खेलता रहा।--उस क्षण उस वालकके वज्र-वृपभ-नाराचसहननका अनायास प्रमाण मिला और तभी वसत-मालाने मुनिकी भविष्य-वाणीका प्रसग कह सुनाया, ।

सुनकर पवनजयको लगा कि मानो अपने आगामी जन्मके

किसी अपूर्व विश्वमे पहुच गये है, जहाका परिचय सर्वथा नया है। विगत सव कुछ मानो विस्मरण हो गया है।

कुछ देर प्रतिसूर्य फिर चुप हो रहे।—जब पवनजयने उन्मुख होकर फिर जिज्ञासाकी दृष्टिसे उनकी ओर देखा, तो प्रतिसूर्यने फिर अपने वृत्तातका सूत्र पकडा। सक्षेपमे, पवनजयकी खोजमें अपने भ्रमणका वृत्त भी उन्होने कह सुनाया। बोले कि जबसे पवनजयकी विजयका संवाद उन्होने सुना था, तभीसे वे इस प्रतीक्षामे थे, कि कुमारके घर लौटने-की खबर पाते ही, तुरत वे अजनाका कुशल-सदेश लेकर आदित्यपुर जायगे। पर दुर्दैवकी नाट्य-लीलाका अतिम दृश्य रह गया था, वह भी तो पूरा होकर ही रहना था। पवनजयके गृहागमनका सवाद और अजनाको घर न पाकर उसी रात उनके गृह-त्यागका सवाद साथ-साथ ही हनुरूहद्वीप पहुचे। प्रतिसूर्यने पवनजयके लौटनेके पहले ही आदित्यपुर जाकर उनकी प्रतीक्षा करनी चाही थी, पर अजनाने उन्हें नही आने दिया। यह भी दैवका विधान ही तो था। सोचमे पड़ गये कि कहा जाये और कैसे पवनजयको खोजें? तब उन्होने अंजनाकी एक न सुनी। उसके उस समयके दारुण दुखमें उसे छोड, वज्र-का हृदय कर, पहले वे महेंद्रपुर गये और वहासे फिर आदित्यपुर गये। क्रम-क्रमसे दोनो सतप्त राजकुलोको जाकर अजनाकी कुशल और पुत्र-जन्मका सवाद सुनाकर ढाढस बधाया। फिर राजा महेंद्र, राजा प्रह्लाद, मित्र प्रहस्त आदिको लेकर वे पवनजयकी खोजमे निकल पडे। दूर-दूरतक पृथ्वीके अनेक देश-देशातर, द्वीप-द्वीपातर, विकट वन-पहाडोमें वे पवनजयको खोज आये पर कही कोई पता न चला। सुयोगकी बात कि अपने उसी भ्रमणमें हताश और सतप्त, आज वे इस भूतरवर नामके वनमें विश्राम लेने उतरे थे।—चलते-चलते राहमे अचानक एक मिट्टीके स्तूपको हिलते हुए देखा। पहले तो वडे कौतूहलसे देखते रह गये। पर जब दीखा कि कोई मनुष्य इस मिट्टीके

ढेरमे गड गया है और अब निकलनेकी चेष्टा कर रहा है, तभी प्रतिसूर्यने जाकर ऊपरकी मिट्टी हटाई और पकडकर उस मनुष्यको उठाने लगे।—एकाएक उस व्यक्तिका चेहरा दिखाई पडा, जो इतने दिनो मिट्टीमें दबे रहनेपर भी वैसा ही स्निग्ध और कातिमान था, राजा प्रह्लाद देखते ही पहचान गये—चिल्ला उठे—'पवनजय .!'

सुनते-सुनते पवनजयको ध्यान आया कि तभी शायद पिताका परिचित कठ-स्वर सुनकर वे चौंक उठे थे ?

×××समुद्र-पवनका स्पर्श पाकर, कुमारने यानकी खिडकीसे झाका। राजा प्रतिसूर्यने उगलीके इशारेसे बताया—समुद्रकी अपार नीलिमाके बीच उजले शख-सा पडा है वह हनूरुहद्वीप। उसके आस-पास व्यवसायी जहाजोके मस्तूल और नावोके पाल उडते दीख पड रहे है। तटवर्ती हरीभरी पहाडीमे धीवरो और मल्लाहोके ग्राम दीख रहे है, और उडते हुए जल-पछी द्वीपके भवन-शिखरोपरसे पार हो रहे है .

[ २५ ]

हनुरुह-द्वीपमे—

राज-प्रासादके सर्वोच्च खडकी छतपर अजनाका कक्ष—। सामुद्रिक हवाके झकोरे उस प्रवाल-निर्मित, मत्स्याकार कक्षके बिल्लौरी गवाक्षोपर खेल रहे थे। दक्षिणकी खिडकीसे तिरछी होकर साझकी केशरिया धूप कमरेके सीप-जटित फर्शपर पड रही थी। चारो ओर समुद्रका तट-देश उत्सवके कोमल और मधुर-मद वाद्योसे मुखरित हो उठा था।

प्रतिहारी कक्षके द्वारतक पवनजयको पहुचाकर चली गई। कुमारने एकाएक परदा हटाकर कमरेमें प्रवेश किया।—कुछ दूर बढ आये। गति अनायास है—और मन निर्विकल्प। सामने दृष्टि उठी अजनाके वक्षपर उन्होने देखा—वह शिशु कामदेव—! पुत्रके शरीरसे सहज

स्फुरित कांतिमें, दीपित था प्रियाका वही सरल, सस्मित मुख-मडल ।

स्तब्ध, चित्र-लिखितसे पवनजय शिशुको देखते रह गये—उनकी सारी कामनाओका मोक्ष-फल ?—उनके चिर दिनके सपनोका सत्य ?

एक अलौकिक आनदकी मुस्कराहटसे कुमारने सामने खडी प्रियाका अभिषेक किया । उसके प्रति नीरव-नीरव उनकी आत्मामे गूज उठा—

'ओ मेरी मुक्तिके द्वार, मेरे वदन स्वीकार करो ! मै तो केवल कल्पनाओंसे ही खेलता रहा । पर तुमने मेरी कामनाओको अपनी आत्म-वेदनामें गलाकर वह सर्व-जयी पुरुषार्थ ढाला है, जो उस मुक्तिका वरण करेगा, जिसका मै सपना भर देख सका हू—!'

पवनजय आखे नीची किये खडे थे, जय और पराजयकी सधि-रेखापर ।

"इसे स्वीकार न करोगे ?"

प्रियाका वही वत्सल, करुण कठ-स्वर है । पवनजय आखे न उठा सके । पुरुषत्वके चरम अपराधके प्रतीकसे वे सिर झुकाये खडे थे । फिर दूसरी भूल उनसे हो गई है । बार-बार वे प्रमत्त हो उठते है । उन्हे अपने ऊपर विश्वास नही रहा है । पर अनजाने ही कुमारने हाथ फैला दिये थे । उन फैले हाथोपर धीमेसे अजनाने शिशुको रख दिया ।

अगले ही क्षण कुमार अनिर्वचनीय सुखसे पुलकित और चचल हो उठे । अपनी छातीके पास लगे शिशुको देखा आखके आसू थम न सके ।—यह सौंदर्य—यह तेज !—अनिर्वार है यह, मानो छातीमें सरसराता हुआ, अस्पर्श रूपसे पार हो जायगा । .हा, यही है वह, यही है वह, जिसकी खोज उनके प्राणकी अनादि जिज्ञासा थी ! सुख इतना अपार हो उठा कि उसे अपना कहकर ही सतोष नही है !

हवा और पानी-सा सहज चचल और गतिमय शिशु बाहोपर ठहर नही पा रहा है । अनायास झुककर पवनजयने उसकी लिलार चूम ली ।

मुँदी आखोकी वरौनियोसे धीरे-धीरे उसके मुखको सहलाने लगे ।—मन ही मन कहा—

' जाओ मेरे दुर्धर्ष ममत्व—मेरे मान ! उस वक्षपर—उसी गोदमें—जिसने लोक-मोहन कामदेवका रूप देकर तुम्हें जन्म दिया है,—जाओ उसीके पास, वही तुम्हें निखिलेश भी वनायेगी . !'

प्रकटमें हाथ वढाते हुए वोले—

"लो अजन, इसे झेलनेकी सामर्थ्य मुझमे नही है ! चुप क्यो खडी रह गई—देखोगी नही ? हा हा समझ रहा हू—मेरी अतिम हारका आत्म-निवेदन मेरे ही मुहसे सुना चाहती हो—! अच्छी वात है, तो लो, सुनो मेरी भुजाओमें वह वल नही है जो इसे थाम सके, मेरे वक्षमे वह सहारा नही है जो इसे रोककर रख सके !—वह तो तुम्हारे ही पास है ! लो, अजन"

कहकर पवनजयने वालकको अजनाकी ओर फैला दिया । एक अभूतपूर्व मुग्ध लज्जासे अजना विभोर हो गई । नीची ही दृष्टि किये उसने वालकको अपनी वाहोपर झेल लिया और उसी क्षण पवनजयके चरणोमें रख दिया ।

जाने कव एक समयातीत मुहूर्तमें अजना और पवनजय, अशेष आलिंगनमें वध गये ।

• प्रकृति पुरुषमे लीन हो गई, पुरुष नवीन प्रकृतिमें व्यक्त हो उठा !

झरोखोकी जालियोमें दीख रहा है आकाशके तटोको तोडती हुई समुद्रकी अनत लहरें, लहराती ही जा रही है लहराती ही जा रही है, अकूल और अछोर जाने किस ओर जाने किस ओर ?